हड़प्पा सभ्यता और वैदिक साहित्य

भगवान सिंह

हड़प्पा सभ्यता और वैदिक साहित्य

हड़प्पा सभ्यता और वैदिक साहित्य

खण्ड दो

भगवान सिंह

राधाकृष्ण

1987
©
भगवान सिंह
नयी दिल्ली

प्रस्तुत शोध-ग्रन्थ का प्रकाशन भारतीय इतिहास अनुसन्धान परिषद् के आर्थिक सहयोग से साकार हुआ है। इस ग्रन्थ में प्रस्तुत किये गये तथ्यों, मतों अथवा निस्सृत निष्कर्षों का उत्तरदायित्व पूर्णरूपेण लेखक पर है। भारतीय इतिहास अनुसन्धान परिषद् इसके लिए उत्तरदायित्व नहीं रखता।

पहला संस्करण
1987

प्रकाशक
राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड
2/38, अंसारी रोड, दरियागंज
नयी दिल्ली-110002

मुद्रक
नागरी प्रिंटर्स
दिल्ली-110032

श्री विष्णुदेव सिंह
तथा
सुश्री अभिराजी देवी को

विषय-सूची

भूमिका

अध्याय एक : वैदिक रचना-काल 1

अध्याय दो : सभ्यता की दिशा में प्रथम चरण 33

अध्याय तीन : कृषि-क्रान्ति और देवासुर संग्राम 53

अध्याय चार : अतिरिक्त उत्पादन और स्वर्ग की तलाश 89

अध्याय पाँच : प्रभाव-विस्तार और प्रव्रजन 109

अध्याय छह : नगर-सभ्यता का उदय 170

अध्याय सात : हड़प्पा सभ्यता का पतन 198

परिशिष्ट 1 सरस्वती घाटी से पलायन 221

परिशिष्ट 2 वैदिक समाज का पुनर्समायोजन 244

ग्रन्थ-सूची 259

अंग्रेज़ी ग्रन्थ-सूची में प्रयुक्त संकेत 295

अनुक्रमणी 297

चित्र

हड़प्पा-पूर्व स्थल 119

सिन्धु-क्षेत्र से आमू दरिया तक 128

पुरातात्विक स्थल 131

मैदानी, गिरिपदीय, पहाड़ी व वन्य क्षेत्रों में अन्तक्रिया की प्रकृति 178

फलक

एक : कालीबंगा— पूर्व हड़प्पाकालीन आवास-योजना

दो : मोहनजोदड़ो—खुदाई का एक दृश्य

तीन : लोथल—जल-निकास प्रणाली

चार : मोहनजोदड़ो से प्राप्त मृद्भाण्ड

पाँच : हड़प्पा से प्राप्त विविध प्रकार के भाण्ड

छह : मृद्भाण्डों पर अंकित आशय

सात : मिट्टी की बनी नाव (लोथल से प्राप्त)
आठ : मोहनजोदड़ो से प्राप्त मुद्राएँ,
नव : हड़प्पा से प्राप्त मुद्राओं की छाप
दस : हड़प्पा कालीन अलंकार
ग्यारह : लोथल से प्राप्त सेलखड़ी के अलंकार
बारह : दायमाबाद की खुदाई से प्राप्त मनके
तेरह : मोहनजोदड़ो से प्राप्त काँस्य नर्तकी
चौदह : मोहनजोदड़ो से प्राप्त मानवाकृति
पन्द्रह : कुल्ली—मेही से प्राप्त मानवाकृतियाँ
सोलह : मोहनजोदड़ो से प्राप्त पशुपति की मुद्रा

शुद्धिपत्र

भूमिका

इस पुस्तक के प्रथम खण्ड में हमने हड़प्पा सभ्यता के पार्थिव अवशेषों की तुलना वैदिक साहित्य में उपलब्ध विवरणों और प्रासंगिक संकेतों से करते हुए पाया कि इन दोनों में कोई अलगाव या विरोध नहीं है। इसके विपरीत इनमें एक ऐसा सर्वांग सादृश्य पाया जाता है जो इस विषय में किसी तरह का भ्रम नहीं रहने देता कि अपनी दृष्टिहीनता के कारण ही हम इस एक ही सभ्यता को दो पृथक नामों से पुकारते आये हैं और इस पृथकता को प्रमाणित करने के लिए अनर्गल खींच-तान करते रहे हैं।

यदि हमारा लक्ष्य इन दोनों के अभेद या सर्वसादृश्य को ही दिखाना होता तो प्रस्तुत खण्ड की आवश्यकता नहीं थी। परन्तु इस अभेद की स्थापना के बाद भी अनेक प्रश्न हमारे सामने बने रह जाते हैं जिनका समाधान किये बिना न तो हम इस सभ्यता के उत्स, उत्कर्ष और ह्रास को समझ सकते हैं, न ही विश्व-सभ्यता के उदय और विकास को। इस खण्ड में इन प्रश्नों को ही सुलझाने का प्रयत्न किया गया है।

यों तो पहले खण्ड में इस निष्कर्ष पर पहुँच जाने के बाद कि हड़प्पा सभ्यता ही वैदिक सभ्यता है, इस प्रश्न को सर्वथा समाप्त मान लेना चाहिए था, पर विगत खण्ड के विविध पक्षों की तरह हमने इस खण्ड में भी जहाँ भी सम्भव हुआ है इस प्रश्न को खुला रहने दिया है। इसका कारण आर्य-आक्रमण के अनुरागियों की अन्ध सन्देहशीलता है, जिनको कोई-न-कोई क्षीण-से-क्षीण नुक्ता अपने मत पर अटल रहने के लिए अवश्य मिल जाता रहा है। इसके अतिरिक्त इस विषय में हमारी अपनी पद्धति का पहले अपनायी गयी पद्धति से अलगाव भी इसी मामले में है कि जहाँ पहले आर्य-आक्रमण या आव्रजन की कल्पना को सर्वोपरि रखकर इसके घोर विरोध में जाने वाले तथ्यों और साक्ष्यों को भी इसके साथ ताल-मेल बैठाने के लिए तोड़-मरोड़ या छोड़ दिया जाता रहा है या, कहें, एक असिद्ध तथ्य से स्वतः सिद्ध तथ्यों को असिद्ध और असाध्य को सिद्ध किया जाता रहा है, वहाँ हम इस अभेद की पुष्टि हो जाने के बाद भी प्रत्येक क्षेत्र और पहलू के अपने साक्ष्यों से

उभरने वाले निष्कर्षों को ही महत्व देते हैं, ताकि एक दृष्टि से फूटने वाले निष्कर्ष दूसरे पक्ष पर आरोपित न होने पायें। यदि किन्हीं विद्वानों को इस विन्दु पर हमारा बार-बार लौटना अनावश्यक व्यायाम प्रतीत हो तो इसके लिए हम क्षमा-प्रार्थी हैं।

पहले खण्ड में हमारी चर्चा मुख्यतः परिपक्व हड़प्पा और ऋग्वेद पर ही केन्द्रित थी। इस खण्ड में हमारा लक्ष्य सभ्यता के इस महावृक्ष की अतल-भेदिनी जड़ों की तलाश, परिपक्व हड़प्पा-काल तक की इसकी विकास-यात्रा की खोज, इस महावट की सुदूर देशों तक फैली शाखाओं और जटाओं की पहचान और इसके ह्रास के कारणों और स्वयं भारत में भी इसके आंचलिक खिसकाव को रेखांकित करना है। यह एक रोचक बात है कि ऋग्वेद हमारा प्राचीनतम लिखित ग्रन्थ है, पर विकास के प्राथमिक चरणों को समझने में हमें ऋग्वेद की अपेक्षा इससे बहुत बाद में रचे गये ग्रन्थों से अधिक सहायता मिलती है। इस प्रत्यक्ष विसंगति को तब तक नहीं समझा जा सकता जब तक हम किसी कृति के रचना काल और उसके वर्ण्य-विषय के घटना-काल के भेद के विषय में प्रत्येक चरण पर सावधान न रहें। पहले अध्याय में हमने वैदिक रचना-काल के विषय में अब तक प्रचलित मान्यताओं और इनकी संगति और विरोध के साथ-साथ उस विराट फलक का भी अवलोकन किया है जो वैदिक रचनाओं में प्रतिबिम्बित है।

दूसरे, तीसरे और चौथे अध्यायों में वन्य आहार-संग्रह और आखेट से आगे बढ़ने वाले गणों और अर्थव्यवस्था में आने वाले परिवर्तनों और सामाजिक सम्बन्धों की छान-बीन की है। वैदिक सभ्यता के उन्नत नागर चरण के विविध पक्षों पर पुस्तक के पहले खण्ड में विचार किया जा चुका है, अतः उसे यहाँ पुनः उठाने का प्रश्न नहीं था। सबसे महत्वपूर्ण समस्या, जिसके कारण तरह-तरह के अनुमान भारतीय जनों और इनके सांस्कृतिक स्तर के विषय में लगाये जाते रहे हैं, भारोपीय क्षेत्र में परस्पर सादृश्य रखने वाली और एक ही मूल भाषा से उत्पन्न भाषाओं के प्रसार की रही है। पाँचवें अध्याय में इस प्रसार की दिशा और प्रकृति पर कुछ विस्तार से विचार किया गया है। इसी का दूसरा किंचित्, अधिक विवादास्पद, पहलू नगर-सभ्यता के उदय का है। इस विषय में हमारी मान्यताएँ सैद्धान्तिक छान-बीन पर निर्भर हैं और ये प्रचलित मान्यताओं से कुछ अलग जाती हैं। यह एक ऐसा पहलू है जिसके कारण कुछ अध्येताओं को इस बात की शिकायत हो सकती है कि हमने पुरातात्विक साक्ष्यों के अभाव की चिन्ता किये बिना कुछ एकांगी स्थापनाएँ दे डाली हैं। इस विषय में हमारा अनुरोध केवल इतना ही है कि पुरातात्विक साक्ष्यों का भी महत्व एक सैद्धान्तिक चौखटे के भीतर ही होता है और इससे अलग जाने पर इनमें भी तोड़-मरोड़ और अपव्याख्या की सम्भावनाएँ कम नहीं रहतीं। हम इसको एक उदाहरण से स्पष्ट करना चाहेंगे। पश्चिमी

एशिया के खाड़ी-क्षेत्र के नगर-केन्द्रों का उत्खनन करने वाले विद्वान प्रायः यह दोहराते रहे हैं कि सुमेरिया में नगर-सभ्यता के आरम्भ से पहले आबादी का भी अभाव था; कारण, खुदाई के स्थलों पर कोरी मिट्टी (वर्जिन सॉइल) तक पहुँचने पर भी इन स्थलों से कहीं से ग्रामीण बस्तियों का पता नहीं चलता। इसके विपरीत हमने यह सुझाया है कि यह क्षेत्र इससे पहले भी जनशून्य नहीं था और इसके कारण भी गिनाये हैं। उत्खनन-रपटों के आधार पर यह सामान्यीकरण करने वालों ने इस बात को ही नजरअन्दाज़ कर दिया कि नगरों और ग्रामीण बस्तियों के अपने भिन्न तर्क और भिन्न तकाज़े होते हैं, और इसलिए लगभग सर्वत्र इनका स्थल भी भिन्न होता है। एक को स्थानीय तकाज़ों से बसाया जाता है तो दूसरे को सार्वदेशिक तकाज़ों से। एक में सार्वजनिक पक्ष--व्यापार, प्रशासन, आदि—प्रधान होता है तो दूसरे में निजी पक्ष; एक में प्राइवेसी पर बल दिया जाता है अतः इसे जान-बूझकर महापथों से कुछ अलग हटकर बसाया जाता है तो दूसरे में सुगम्यता और सर्वगम्यता पर बल दिया जाता है और इसलिए इन्हें महापथों से बिलकुल सटकर बसाया जाता है। इतना ही नहीं, महापथ के हट जाने या इसकी पृष्ठभूमि में चले जाने का इस पर सीधा प्रभाव पड़ता है और जिन अंचलों में महापथ नदी-मार्ग ही थे उनमें नदी की धारा के दूर खिसक जाने पर नगर सदा के लिए नष्ट हो सकता था। इन विभिन्न कारणों से नगर-स्थलों की जड़ में ग्रामीण बस्ती की तलाश करना ख़रगोश के सिर पर सींग की तलाश करने जैसा है। नगर हर देश में और हर काल में जनसंगम-केन्द्रों के रूप में बसाये जाते रहे हैं और यद्यपि इनकी जड़ों में कुछ नितान्त साधारण किस्म की झोंपड़ियाँ, कोठरियाँ, चौकियाँ और चबूतरे आदि पाये जा सकते हैं, पर ये भी ग्रामीण बस्तियाँ नहीं अपितु आदिम किस्म के सार्वजनिक ठिकाने होते हैं जो स्थल की उपयुक्तता के अनुसार कुछ ही दशकों में स्पष्ट और योजनाबद्ध नागर बस्तियों का रूप ले लेते हैं। इस सैद्धान्तिक पक्ष की अवहेलना करते हुए पुरातात्विक साक्ष्यों के अभाव की शिकायत करना उचित नहीं। यही बात दूसरे मामलों में भी कही जा सकती है। ज़रूरी यह नहीं कि सिद्धान्त को पुरातात्विक साक्ष्यों पर कसा जाये, अपितु यह कि पुरातात्विक साक्ष्य सैद्धान्तिक कसौटी पर सही उतरें; कारण, जिन्हें हमें सिद्धान्त कहते हैं वे उससे कहीं अधिक विपुल और बहुमुखी साक्ष्यों के सारतत्व होते हैं जितने किसी एक या समग्र उत्खननों में प्राप्त हो सकते हैं।

हड़प्पा या वैदिक सभ्यता के ह्रास के अनेक कारणों में से दो की ओर प्रायः संकेत किया गया है। इनमें से एक है आर्थिक गिरावट और दूसरा है प्राकृतिक उपद्रव। इसके अतिरिक्त कुछ विद्वानों ने बहुत ठोस कारणों से नर-संहार की सम्भावना को इस सभ्यता के ऊपर अन्तिम विनाशकारी आघात माना है। दूसरे विद्वानों ने नर-संहार की मान्यता का उपहास इसे एक कपोल कल्पना या मिथ कह कर

किया है। सचाई सम्भवतः इन दोनों अतियों के बीच कहीं है, कारण, बस्ती के भीतर नर-कंकालों का पाया जाना सामान्य स्थिति का परिचायक नहीं लगता। इस पहलू पर हमने अपने विचार सातवें अध्याय में व्यक्त किये हैं।

हड़प्पा सभ्यता के पतन में मुख्य हाथ आर्थिक गिरावट का था। इस गिरावट के सामाजिक पक्ष की विस्तार से चर्चा सातवें अध्याय में की गयी है। इसमें प्राकृतिक विपर्ययों की भूमिका कितनी रही हो सकती है, या हड़प्पा सभ्यता किन प्राकृतिक विपर्ययों का शिकार हुई हो सकती है, इसे परिशिष्ट एक में दिया गया है। इसके ह्रास के बाद अर्थव्यवस्था, समाज-व्यवस्था तथा मूल्य-प्रणाली में आये अन्तर को परिशिष्ट दो में समेटा गया है।

एक पुस्तक में एक सीमा से अधिक नयी स्थापनाएँ देने वाला लेखक कुछ उतनी ही बड़ी भूलें न करे या उसकी कुछ मान्यताओं में अनगढ़ता न बनी रह जाये, यह लगभग असम्भव है। प्रस्तुत मामले में कुछ त्रुटियों और अनगढ़ताओं का कारण यह भी हो सकता है कि इसके कुछ अध्यायों को प्रेस में जाते-जाते कुछ बदल दिया गया जबकि इन्हीं के अनुरूप शेष पुस्तक के संगत स्थलों पर परिवर्तन नहीं हो सका होगा। इन भूलों और अनगढ़ताओं की ओर सुधी पाठक यदि हमारा ध्यान आकृष्ट कर सकें तो यह प्रस्तुत लेखक के प्रति एक उपकार होगा।

भगवान सिंह

अप्रैल, 1987
सी-136 महाराणा प्रताप एन्क्लेव
दिल्ली-110034

अध्याय एक

वैदिक रचना-काल

सामान्यतः बुद्ध से पहले का भारतीय इतिहास काल-क्रम की दृष्टि से अनिश्चितताओं के एक ऐसे कुहरे में लिपटा रहा है जिसमें अपनी रुचि और रुझान के अनुसार दशाब्दियों को शताब्दियों में, और शताब्दियों को सहस्राब्दियों में, बदला जा सकता है।[1] इस अराजकता का प्रधान कारण विद्वानों की अनैतिहासिक दृष्टि रही है। परन्तु अनैतिहासिक दृष्टि की अभिव्यक्ति इस काल-प्रसार का तर्कहीन विस्तार करने में ही नहीं हुई है। इसका एक रूप ऋग्वेद को 'हास्यास्पद रूप में आधुनिक' सिद्ध करने का भी रहा है जो, जैसा कि विंटरनित्ज़ ने कहा था[2], पहली दृष्टि से कम खेदजनक नहीं रहा है।

वैदिक साहित्य से परिचित होने के बाद विद्वानों की दो स्पष्ट प्रतिक्रियाएँ रहीं। पहली यह कि यह अत्यन्त प्राचीन है, पर कितना प्राचीन, यह तय कर पाना कठिन था। दूसरी यह कि यह बहुत विशाल था, पर कितना विशाल, यह तय करना भी कम कठिन नहीं था, कारण, उपलब्ध साहित्य से इस बात की स्पष्ट झलक मिलती है कि इसका बहुत बड़ा अंश काल-प्रवाह में नष्ट हो चुका है। जो कुछ बचा रह गया है वह भी इतना विशाल है कि इसकी तुलना में किसी भी अन्य सभ्यता का प्राचीन साहित्य नहीं रखा जा सकता। इसके साथ ही हम एक तीसरी प्रतिक्रिया की भी बात कर सकते हैं, और वह यह, कि इस विशाल साहित्य की रचना में बहुत लम्बा समय लगा है—इतना लम्बा समय कि इसके दौरान अपनी समूची परिरक्षणवादिता के बावजूद इसकी भाषा, मानसिकता, अर्थ-व्यवस्था, समाज-व्यवस्था, देवशास्त्र, रीति-विधान आदि में इतने गहरे परिवर्तन हो जाते हैं कि स्वयं वैदिक काल में ही इसका अतीत वैदिक अध्येताओं के लिए दुर्बोध हो जाता है और इनमें से प्रत्येक पक्ष को समझने की जी तोड़ कोशिश के बावजूद स्थिति स्पष्ट नहीं हो पाती। अतः इसके रचना-काल की दीर्घता मात्र साहित्य की विशालता का प्रश्न बन कर नहीं उपस्थित होती और वैदिक साहित्य

के रचनाकाल के आरम्भ का निर्धारण करने के लिए इन विविध दृष्टियों से गहरी छान-बीन की माँग करती है।

ऋग्वेद की रचना कब हुई हो सकती है या, कहें, कितने लम्बे दौर में हुई हो सकती है, इसका निश्चय करना एक जोखिम भरी चुनौती थी, पर इसे अनिश्चित बने रहने देना इससे भी अधिक विडम्बनापूर्ण बात थी। अतः इस चुनौती का सामना तो करना ही था और इसका साहस संस्कृत साहित्य के प्रख्यात विद्वान मैक्समूलर ने किया।

2

मैक्समूलर का काल-निर्धारण

मैक्समूलर ने वैदिक काल का निश्चय करने के लिए बुद्ध के काल को अपना प्रस्थान-बिन्दु बनाया। उन्होंने समूचे वैदिक साहित्य को चार काल-खण्डों में बाँटा। इनमें से अन्तिम को उन्होंने सूत्र-काल की संज्ञा दी और इसके लिए 600 ई. पू. से 200 ई. पू. का समय नियत किया और इस तरह इससे पहले के प्रत्येक चरण—ब्राह्मण, मन्त्र और छान्दस्—के लिए दो सौ वर्षों की अल्पतम काल-सीमा नियत करते हुए यह सुझाया कि 1000 ई. पू. तक समूचा ऋग्वेद अपने वर्तमान रूप में अस्तित्व में आ चुका था, और इसका रचनाकाल किसी भी तरह 1200 ई. पू. से बाद में नहीं रखा जा सकता।[3]

मैक्समूलर के इस काल-निर्धारण पर दो तरह की प्रतिक्रियाएँ देखने में आती हैं। पहली उनकी जिन्हें संस्कृत का अधिकारी विद्वान कहा जा सकता है और जो ही इस जटिल समस्या पर कुछ कहने के अधिकारी माने जा सकते हैं। इनमें से अधिकांश ने मैक्समूलर द्वारा किये गये काल-निर्धारण को सही नहीं माना और वे बराबर इस बात पर बल देते रहे कि ऋग्वेद के रचनाकाल को 2000 ई. पू. से बाद में नहीं लाया जा सकता। विंटरनित्ज़ ने जिस काल-निर्धारण को 'हास्यास्पद रूप में आधुनिक' (लुडिक्रशली माडर्न) कहा है, उसमें मैक्समूलर का काल-निर्धारण भी शामिल है।

रोचक बात यह है कि मैक्समूलर स्वयं भी अपने काल-निर्धारण को सन्तोषजनक नहीं मानते। उन्होंने बहुत धर्मसंकट की स्थिति में ही यह अल्पतम सीमा नियत की थी। कारण, तत्कालीन यूरोपीय समाज में संस्कृत से अपरिचित और भारतीय साहित्य और इतिहास के प्रति सन्देहशील एक ऐसा वर्ग था जो तरह-तरह की अटकलों से इसकी प्राचीनता को नकारने का प्रयत्न कर रहा था[4] और इसको ध्यान में रखते हुए ही मैक्समूलर ने यह दावा किया था कि ऋग्वेद के रचना-काल को 1200-1000 ई. पू. से बाद का तो किसी भी तरह नहीं ठहराया

जा सकता। इस काल को इससे पीछे ले जाने पर न केवल उन्हें कोई आपत्ति नहीं थी, अपितु वह इसके हिमायती थे। उनकी सारी बहस उन लोगों से थी जो इतनी प्राचीनता को भी अधिक मान रहे थे।[5]

मैक्समूलर स्वयं इस काल-सीमा को अधिक पीछे ले जाने के पक्षधर थे, इसकी एक मिसाल यह है कि उनके काल-निर्धारण पर जब विल्सन, ह्विटनी, हिलेरी आदि ने तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त की तो विल्सन की आपत्तियों का साभार उल्लेख करते हुए उन्होंने इनको उचित ठहराया और स्वीकार किया कि, "यदि इस समय यह सवाल उठाया जाये कि इन तीनों कालों की तिथियों को कैसे नियत किया जा सकता है तो, स्पष्टतः, हम इस बारे में कोई अन्तिम सीमा तय नहीं कर सकते। वैदिक सूक्त 1000 ई. पू. में रचे गये थे या 1500 ई. पू. में या 2000 या 3000 ई. पू. में रचे गये थे, इसे दुनिया का कोई आदमी तय नहीं कर सकता।"[6]

हम कह सकते हैं कि मैक्समूलर एक ओर तो ऋग्वेद के लिए अल्पतम काल-सीमा के विषय में काफ़ी आग्रहशील थे और दूसरी ओर इसकी अधिकतम काल-सीमा के विषय में स्वयं भी अपने निर्धारण के प्रति आश्वस्त नहीं थे और इसे पीछे ले जाने के हिमायतियों में स्वयं भी आते थे। इस तरह हम विल्सन, ह्विटनी, हिलेरी, गोल्डश्टकर, याकोबी, बूलर, ब्लूमफ़ील्ड, विंटरनित्ज, काणे, एन. एन. ला, तिलक आदि विद्वानों के साथ मैक्समूलर का भी नाम जोड़ सकते हैं जो इस बात के समर्थक थे कि वैदिक साहित्य की भाषा और अन्तर्वस्तु को ध्यान में रखते हुए इसका रचना-काल 2000 ई. पू. से पीछे ले जाया जाना चाहिए।

मैक्समूलर द्वारा सुझाये गये काल के प्रति दूसरी प्रतिक्रिया उन अध्येताओं की थी जिनको संस्कृत साहित्य का या तो कामचलाऊ ज्ञान था या जो इससे शून्य थे। इनके लिए मैक्समूलर का प्रस्ताव अन्धे की लकड़ी बन गया और वे स्वयं मैक्समूलर की झिझक को भी नजरअन्दाज करके इस प्रस्ताव को ब्रह्मवाक्य बना कर बार-बार दुहराते रहे। उनके साथ कुछ ऐसे संस्कृतज्ञों को भी शामिल किया जा सकता है जिन्होंने वैदिक साहित्य को केन्द्र में न रख कर अन्य अनुसंगी पक्षों को अधिक प्रधानता दी। इनके इस आग्रह के पीछे दो अन्य प्रबल आग्रह काम कर रहे थे और उन्हीं की सीमा में वे ऋग्वेद का रचना-काल निश्चित करने को बाध्य अनुभव कर रहे थे और इसलिए मैक्समूलर का कामचलाऊ प्रस्ताव उनको सर्वथा संगत प्रतीत हो रहा था।

इनमें से एक आग्रह था भारत में आर्य-भाषा-भाषियों का किसी भी रूप में आगमन। दूसरा था भारत से बाहर इन्हीं लोगों की उपस्थिति के उपलब्ध प्रमाण। इन दोनों को मान लेने पर भारत में आर्य-जनों की उपस्थिति 1500 ई. पू. से पीछे नहीं ले जायी जा सकती थी, और इस सीमा के भीतर ही इस पूरे रचना-काल को जैसे भी हो कस-दबा कर रखना था। पर यहाँ भी कुछ विद्वानों को

2000 ई. पू. से बाद की तिथि अग्राह्य लगती थी। अतः इनका सुझाव था कि ऋग्वेद की रचना 2000 ई. पू. में आरम्भ हुई हो सकती है या कुछ सूक्तों की रचना इससे भी पहले से शुरू हो गयी रही लगती है। पर उनका इस विषय में समाधान यह था कि इन प्राचीन सूक्तों की रचना वैदिक जनों के भारत में आने से पहले, या उस काल में ही जब वे तुर्किस्तान, ईरान या ईराक के क्षेत्रों में भ्रमण कर रहे थे, हो सकती है। इस मान्यता की पुष्टि के लिए कुछ समय तक कुछ भाषिक समीकरणों पर एकपक्षीय बल दिया जाता रहा। पर इसको अन्य अध्येताओं का समर्थन प्राप्त नहीं था जो यह मानते थे कि अपने प्रस्तुत रूप में समूचे ऋग्वेद की रचना भारत में ही हुई हो सकती है।[7] इस अन्तिम लाचारी में ही ऋग्वेद की रचना के लिए 1200-1000 की काल-सीमा मानते हुए इसके लिए विविध प्रकार की युक्तियों का सहारा लिया जाता रहा।

3
अवेस्ता ओर ऋग्वेद

कुछ विद्वानों ने अवेस्ता और ऋग्वेद की भाषा को ऋग्वेद के रचना-काल के निर्धारण के लिए आधार बनाते हुए इसको 1000 ई. पू. में नियत करना चाहा है। इनका तर्क इस प्रकार है, "शुद्ध भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से वर्तमान रूप में ऋग्वेद को 1000 ई. पू. से पहले नहीं रखा जा सकता।...अवेस्ता की भाषा ऋग्वेद की भाषा से उससे अधिक भिन्न नहीं है जितनी पुरानी अंग्रेज़ी उच्च जर्मन से और यदि हख़मनी अभिलेखों की भाषा की तुलना गाथा की भाषा से की जाये तो इनके बीच अन्तराल को ध्यान में रखते हुए गाथा का रचनाकाल 1000 ई. पू. हुआ और चूँकि यह भाषा ऋग्वेद से समानता रखती है इसलिए ऋग्वेद की रचना 1000 ई. पू. से पहले नहीं हुई हो सकती। हाँ, जिस संस्कृति को ऋग्वेद में प्रस्तुत किया गया है वह इससे पहले की अवश्य होगी, पर उसे भी 1500 ई. पू. से पीछे नहीं ले जाया जा सकता।"[8]

हमें यह न भूलना होगा कि जिस 'शुद्ध भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि' की बात बड़े विश्वास से की जाती है वह अपनी अन्तिम व्याख्या में 'शुद्ध मरीचिका' सिद्ध होती है। सचाई यह है कि ऋग्वेद और अवेस्ता का कोई गम्भीर अध्ययन भाषा और देवशास्त्र की तुलना करते हुए किया ही नहीं गया है, और ऐसा न करने का कारण भी यह रहा है कि प्राथमिक जाँच-पड़ताल से निकलने वाले निष्कर्ष पण्डितों द्वारा गढ़े गये आक्रमण या आव्रजन के सिद्धान्तों से अनमेल पड़ते हैं, और इसलिए इस क्षेत्र को बहुत उत्साहवर्धक नहीं पाया गया। अब तक अवेस्ता की भाषा का ऋग्वेद

की भाषा की तुलना में जो महत्व आँका जाता रहा है वह भी मुख्य रूप से सम्भावनापरक ही रहा है। मैकडनेल लिखते हैं, "यदि हम अवेस्ता की भाषा के उतने ही पुराने चरण की जानकारी रखते जितने पुराने चरण के वेद हैं तो वह निश्चित रूप से वेदों से अभिन्न होती।"[9]

अब हम उस गणितीय फ़ार्मूले पर विचार कर सकते हैं जिसके अनुसार ऋग्वेद की भाषा को अवेस्ता जैसी मानते हुए इसका काल 1000 ई. पू. रखा गया है। यह पूरा समीकरण कुछ निम्न प्रकार है :

'अवेस्ता की भाषा और हख़मनी अभिलेखों की भाषा का अन्तर बराबर है प्राचीन उच्च जर्मन और प्राचीन अंग्रेज़ी के अन्तर के जो पुनः बराबर है 400 वर्षों के;

'अतः अवेस्ता का रचना-काल बराबर है हख़मनी अभिलेखों का काल अर्थात् 600 ई. पू. जमा 400 वर्ष, अर्थात 1000 ई. पू.;

'यदि हमें अवेस्ता की उतने ही पुराने चरण की भाषा प्राप्त होती जितने पुराने चरण की भाषा ऋग्वेद की है तो अवेस्ता की भाषा बराबर होती ऋग्वेद की भाषा के;

'इसलिए अवेस्ता की भाषा का काल बराबर है ऋग्वेद के रचनाकाल के;

'अतः सिद्ध हुआ कि ऋग्वेद का रचनाकाल 1000 ई. पू. है।'

ज़ाहिर है कि यह समीकरण खासा मनोरंजक है, पर इसकी मनोरंजकता तब कुछ और बढ़ जायेगी जब हम स्वयं अवेस्ता के उन अंशों की भाषा को सामने रख कर और हख़मनी अभिलेखों से उनकी इसी सूत्र से तुलना करते हुए इनका काल-निर्धारण करना चाहें जो विदित रूप में तीसरी या चौथी शताब्दी ई. पू. में या इससे भी बहुत बाद में रचे गये हैं। कुछ बिलकुल मामूली किस्म की भिन्नताओं को छोड़ कर ये भाषा की दृष्टि से अवेस्ता और गाथा की भाषा के ही समान हैं और चूँकि दो समानान्तर भाषाओं के आधार पर प्रस्तावित समीकरणों में इतनी बारीक बातों को शामिल नहीं किया जा सकता, अतः इनका रचना-काल भी 1000 ई. पू. ही सिद्ध होगा, जो इस तरह की तुलना को हास्यास्पद बना देता है।

दो भाषाओं को तुलना का आधार बनाते हुए इस बात का ध्यान रखना जरूरी है कि यदि इनमें से एक भाषा आम बोलचाल की रही हो और दूसरी एक सीमित वर्ग में एक सीमित प्रयोजन से उपयोग में लायी जाने वाली भाषा, और इसके साथ नियमों और रूढ़ियों का अविकल पालन करने का आग्रह काम कर रहा हो, तो पहली भाषा में कालक्रम में होने वाले परिवर्तनों के आधार पर दूसरी का काल निर्धारण करना निरापद नहीं हो सकता। यदि कम-से-कम पाणिनि के समय से आज तक, लगभग ढाई हज़ार वर्षों तक, संस्कृत अपरिवर्तित

रूप में पण्डितों के सीमित दायरे में व्यवहार में आ सकती है, या लगभग इतनी ही पुरानी हिब्रू बहुत क्षीण परिवर्तनों के साथ आज भी पुनरुज्जीवित की जा सकती है, तो हम इस बात का निर्णय किसी परिवर्तनशील भाषा को सामने रखकर कैसे कर सकते हैं कि उक्त भाषाओं में कितने परिवर्तन कितने लम्बे अन्तराल में घटित हो सकते हैं। सच कहें तो, अपनी बात को सही साबित करने के लिए भाषिक साक्ष्यों की जिस तरह खींच-तान की जाती रही है उन्हीं की एक मिसाल यह भी है, और इतिहास के अध्ययन में भाषा-शास्त्र का जो सीमित योगदान हो सकता था उससे भी इसे वंचित करने और पूरी तरह निश्रेयस बनाने की ज़िम्मेदारी भी इस तरह के समीकरणों पर ही आती है।

भाषा के आधार पर अवेस्ता और वेदों की भाषा में प्राचीनता, नवीनता और समवर्तिता का निर्णय करना तो दूर रहा, स्वयं गाथा और अवेस्ता के बीच कौन अधिक पुरानी है, यह तय कर पाना प्रायः कठिन हो जाता है।[10] अतः यदि तुलना का कोई औचित्य और महत्व इन स्थितियों में है तो वह भाषा और व्याकरणिक विकारों की तुलना नहीं, अपितु दोनों की अन्तर्वस्तु की तुलना ही कोई अर्थ रखती है। ऋग्वेद का विभाजन अधिकारी विद्वानों ने इसकी अन्तर्वस्तु को ध्यान में रखते हुए प्राचीन और नवीन मण्डलों में किया है। जहाँ अवेस्ता की अन्तर्वस्तु का साम्य ऋग्वेद से बैठता है वहाँ यह साम्य प्राचीन नहीं, अपितु नवीन माने जाने वाले मण्डलों के साथ ही दिखायी देता है। उदाहरण के लिए, ऋग्वेद के वाकोवाक्य या दार्शनिक प्रश्नोत्तर के सूक्तों को लिया जा सकता है जो मुख्यतः पहले और दसवें मण्डल के उन अंशों में आते हैं जिनकी नवीनता के विषय में किसी प्रकार का सन्देह नहीं है। अवेस्ता की गाथाओं में कुछ गाथाएँ लगभग इन्हीं प्रश्नों को लेकर रची गयी हैं। हर्त्सफ़ील्ड ने कुछ गाथाओं का अनुवाद दिया है जिनका हिन्दी रूपान्तर निम्न प्रकार है :

'ऋत का जनक आदि पुरुष कौन है ? सूर्य और तारों के मार्ग का निर्माण किसने किया ? चन्द्रमा किसके प्रताप से घटता और बढ़ता है ?

'धरती और आकाश को किसने धारण कर रखा है जो ये गिरते नहीं ? किसने जलों और वनस्पतियों को ? मज्दा, बहुमनो का जनक कौन है ?

'किस ईश्वर ने प्रकाश और अन्धकार बनाया ? किस प्रभु ने नींद और जागरण ? किसने मध्याह्न, उषा और रात ? मेधावियों में स्मृति किसने जगायी ?'[11]

यदि ऋग्वेद से तुलना करें तो हम ऋग्वैदिक कवियों को लगभग इन्हीं समस्याओं से और मोटे तौर पर इसी भाषा और इन्हीं मुहावरों में जूझते पायेंगे। अन्तर यदि किसी बात में है तो यह कि ऋग्वेद में ये समस्याएँ कहीं प्रश्न के रूप में आती हैं तो कहीं उत्तर के रूप में।[12] चिन्तन और विचार-मन्थन का यह क्रम

ऋग्वेद के नये मण्डलों से आरम्भ होकर उपनिषद्-काल तक जारी रहता है।

अवेस्ता में उठाये गये प्रश्नों का कुछ अधिक सटीक उत्तर हिरण्यगर्भ सूक्त में पाया जा सकता है जिसे दशम मण्डल की नवीनता प्रमाणित करने के लिए एक तर्क के रूप में प्रयोग में लाया जाता रहा है[13], क्योंकि इसमें जिस विकसित संकल्पना का परिचय मिलता है उसे पुराने मण्डलों के लिए अकल्पनीय माना गया है। इसकी कुछ ऋचाओं को ही उद्धृत करना पर्याप्त होगा।

हिरण्यगर्भः समवर्तत अग्रे भूतस्य जातः पतिः एक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यां उत् एमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥
येन द्यौ उग्रा पृथिवी च दृल्हा येन स्वः स्तभितं येन नाकः।
यः अन्तरिक्षे रजसः विमान...॥
यं क्रन्दसी अवसा तस्तभाने अभि ऐक्षतां मनसा रेजमाने।
यत्र अधि सूर उदितः विभाति...॥
यः च अपः चन्द्रा बृहतीः जजान...॥ ऋ० 10. ;21. 1; 5-6; 9.

चिन्तन और ऊहापोह की इस भूमिका से क्या यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि अवेस्ता और गाथा की रचना उस दौर में या उसके प्रभाव में हुई है जो ऋग्वेद के नये मण्डलों से आरम्भ होकर उपनिषद् काल तक आता है? अतः इसके रचना-काल को भी इन दोनों के बीच में रखना क्या उचित नहीं होगा?

वैदिक और ईरानी यज्ञ-पद्धति से भी हम इसी नतीजे पर पहुँचते हैं। आरम्भ में यज्ञ के लिए किसी पुरोहित की आवश्यकता नहीं होती थी। यजमान स्वयं ही अपने यज्ञ का सम्पादन कर लेता था।[14] आगे चलकर पौरोहित्य का उदय हुआ और शतपथ ब्राह्मण के अनुसार वसिष्ठ पहले पुरोहित बने।[15] कुछ आगे चलकर यज्ञ में दो पुरोहितों की आवश्यकता पड़ने लगी।[16] ऋग्वेद के नवीन मण्डलों तक यह संख्या बढ़कर चार तक पहुँची थी[17], पर सूत्र-काल तक आते-आते यह संख्या सोलह तक चली जाती है।[18] पुरोहितों की संख्या में होने वाली यह उत्तरोत्तर वृद्धि कालक्रम को समझने में बहुत सहायक हो सकती है। अवेस्ता के रचना-काल में यज्ञ-सम्पादन के लिए आठ पुरोहितों की आवश्यकता पड़ती थी। ये थे जओतर, हावनान, आतरबख़्श, फ्राबरतार, आबरतार, अस्नातर या आस्नात्र, रएविश्कर और सओषावरेज़।[19] इस विकास पर ध्यान देते हुए अवेस्ता के रचनाकाल को पुनः ऋग्वेद के नये मण्डलों के बाद और श्रोतसूत्रों के रचनाकाल से पहले रखना मण्डलों उचित होगा।

अवेस्ता में प्रयुक्त शब्दावली से भी उक्त मान्यता की ही पुष्टि होती दिखायी देती है। इसमें अनेक प्रयोग ऐसे हैं जो ऋग्वेद के बाद के काल में ही लोक-व्यवहार में आते दिखायी देते हैं, जैसे, सेरिष्ठ—श्रेष्ठि, उपास्तेंन—उपास्तरण, ज़ामातर—जामातृ, वइसपुथ्र—वैश्यपुत्र, फ्रवषिता—प्रवसित या प्रवासी, मोङ्हाइ—

मोक्षाय, मिथ—मिथ्या आदि। इसका यह अर्थ नहीं कि अवेस्ता में प्राचीन वैदिक प्रयोगों का अभाव है, पर ऐसे प्रयोग तो भारत से लेकर यूरोप तक की आधुनिक बोलियों में भी पाये जा सकते हैं। प्रश्न यह है कि ये प्रयोग जो निश्चय ही बाद के हैं किस करिश्मे से ईरानी में पहुँच गये? इसके दो ही समाधान हो सकते हैं। पहला यह कि ईरान में 'आर्य-भाषा-भाषी' इन विकासों के भारत में घटित होने के बाद पहुँचे और दूसरा यह कि ईरान में ये लोग जब भी पहुँचे हों और जितनी भी संख्या में पहुँचे हों, पर भारत से उनका सम्पर्क घनिष्ठ रूप में उस काल तक बना रहा जिस काल से इन विकासों का सम्बन्ध है और ऐसी स्थिति में इस सम्पर्क के सूत्र का भी कुछ आभास सेरिष्ठ, वइसपुथ्र, फ़वषिता और नोतर (नवागत) जैसे शब्दों से मिल जायेगा और वह है व्यापार। वस्तुतः यही वह सूत्र है जो आर्य-भाषा के भारत से बाहर प्रसार के लिए भी उत्तरदायी है।

मैक्समूलर ने स्वयं भी अवेस्ता और वैदिक भाषा पर अपने विचार इसी रूप में रखे थे कि ईरान में ईरानी भाषा का प्रसार भारत से हुआ है, पर उनके मस्तिष्क में मूल भारोपीय सभ्यता का जो आदिम स्तर घर कर गया था उसके कारण वह इसे एक विशाल प्रव्रजन से भिन्न रूप में सोचने में असमर्थ थे। वह लिखते हैं, "मैं आज भी मानता हूँ कि ज़ेन्द संस्कृत के छन्द शब्द का तद्भव है जिसका प्रयोग पाणिनि ने वैदिक भाषा के लिए किया है।"[20] और, "देवशास्त्र के मामले में भी यदि अवेस्ता के 'नोमिना और नूमिना' की तुलना महाभारत के मनु से की जाये तो पहली झलक में वे अधिक आदिम प्रतीत होंगे। परन्तु यदि वैदिक सिरे से विचार किया जाए तो सम्बन्ध तुरत उलट जाता है और ज़ोरास्टर के अनेक देवता वेदों के आदिम और प्रामाणिक देवताओं की मात्र परछाइयाँ और विकृतियाँ प्रतीत होते हैं।"[21] वह आगे लिखते हैं, "अब यह भौगोलिक साक्ष्यों के आधार पर भी साबित किया जा सकता है कि ज़ोरास्टर मतावलम्बी फ़ारस में आने से पहले भारत में बसे हुए थे। मैं ज़ोरास्टर मतावलम्बी इसलिए कह रहा हूँ कि फ़ारस और मीदिया के राष्ट्रों के विषय में यही दावा करने का हमारे पास कोई साक्ष्य नहीं है। पर ज़ोरास्टर मतावलम्बी और उनके पूर्वज वैदिक काल के दौरान भारत से रवाना हुए थे, यह उतने ही दो टूक ढंग से सिद्ध किया जा सकता है जैसे यह कि मेसीनिया के निवासी यूनान से रवाना हुए थे।"[22]

मिल्स अवेस्ता के तीसरे खण्ड के अनुवाद की अपनी भूमिका में ऋग्वेद और अवेस्ता के तुलनात्मक काल-निर्धारण पर विविध दृष्टियों से विचार करने के बाद इस मान्यता का खण्डन करते हैं कि गाथा ऋग्वेद के प्राचीन अंशों से पुरानी है। उनके मत से, "गाथाएँ ऋग्वेद के पुराने अंशों से बहुत बाद की हैं। हॉग की यह बात स्वीकार नहीं की जा सकती कि गाथाओं में एकाएक और इरादतन पुराने देवताओं को ख़ारिज कर दिया गया, न ही यह कि धार्मिक मतभेद के कारण भार-

तीय दक्षिण की ओर प्रव्रजित हो गये। यह प्रक्रिया निश्चय ही ठीक इससे उल्टी थी।"[23] वह आगे लिखते हैं, "अतएव हम गाथाओं को प्राचीनतम ऋचाओं से बहुत बाद में रख सकते हैं। इसलिए, जहाँ ऋग्वेद के लिए नियत काल 2000 ई. पू. है। गाथाओं की रचना लगभग 1500 ई. पू. में हुई हो सकती है, इन्हें बाद में, कहें, 900-1200 ई. पू. में भी रखना सम्भव है, जबकि गाथा की भाषा में आये कुछ टुकड़ों को और बाद का मानना होगा। अवेस्ता के बाद के अंशों में से अनेक की रचना अनेक शताब्दियों के दौरान हुई हो सकती है, क्योंकि जेंद बोली की विभिन्न खण्डों में गाथाओं से बहुत अधिक विविधताएँ पायी जाती हैं। गाथाओं में वस्तुतः एक ही काल की भाषा है। अब बाद की अवेस्ता के प्राचीनतम अंशों को दारा से कुछ पहले रखते हुए हम उस काल को जिसके बीच इसके विभिन्न खण्डों की रचना हुई, ईसा से तीसरी या चौथी शताब्दी पूर्व तक रख सकते हैं, इनमें आये हुए प्रक्षिप्त अंशों को तो बहुत ही बाद का मानना होगा।"[24]

भारतीय और ईरानी शाखाओं के बीच जिस धार्मिक मतभेद को प्रव्रजन का कारण बताया जाता रहा है उसके विषय में गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी एक भिन्न सुझाव देते हैं, "ऋग्वेद के दसवें मण्डल के 86वें सूक्त से आरम्भ करके आगे के सूक्तों में एक वाक्कलह का संकेत प्राप्त होता है। ऋज्राश्व ऋषि का दौहित्र जरथुस्त्र नाम का एक व्यक्ति हुआ। उसके हृदय में स्वभावतः उस काल के ब्राह्मणों के प्रति द्वेष था।...उसी के समय में बह्लीक देश में ऋषियों में एक विचार-संघर्ष उठ खड़ा हुआ। सौत्रामणि इष्टि में ऋषि इस विषय पर आपस में झगड़ पड़े कि इन्द्र को प्रधान देवता माना जाये या वरुण को। जरथुस्त्र ने परम्परा से चले आते हुए इन्द्र के प्राधान्य को अस्वीकार किया और इसके स्थान पर वरुण को प्रतिष्ठित किया। इसका संकेत ऋक्संहिता के 'नेन्द्रं देवमंसत' मन्त्रांश में पाया जाता है। उपस्थित ऋषियों में नृमेध, वामदेव, गार्ग्य आदि ने इन्द्र का पक्ष लिया और सुपर्ण, काण्व, भारद्वाज आदि ने वरुण का पक्ष लिया और वसिष्ठ आदि ऋषियों ने अपने-अपने स्थान पर दोनों का सम्मान माना। इस सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न ऋषियों के सूक्त वहीं हैं और इन्द्राणी का क्रोध एवं इन्द्रकृत और अन्य ऋषिकृत उनकी सान्त्वना के मन्त्र वहीं हैं।"[25]

महामहोपाध्याय ने इस पूरी कथा को जितने सुथरे ढंग से, और जरथुस्त्र का भी हवाला देते हुए पेश किया है उसका पूरा औचित्य उनके पास अवश्य रहा होगा, पर ऋग्वेद के उक्त स्थल से या इसके बाद आने वाले सूक्तों से इसकी यथा तथ्य पुष्टि नहीं होती। निश्चय ही इन्द्र के देवत्व को किन्हीं के द्वारा अस्वीकार करने का स्पष्ट उल्लेख आया है और इसके साथ ही इस बात को इन्द्राणी द्वारा बार-बार दुहराया भी जाता है कि इन्द्र देवताओं में सबसे ऊपर हैं।

चतुर्वेदी जी के उक्त विवेचन में कुछ खींचतान की सम्भावना है, पर इसमें

कोई सन्देह नहीं कि भारत में इन्द्र के देवत्व को सर्वमान्यता नहीं मिली थी। ऋग्वेद मुख्य रूप से उन पुरोहितों की कृति है जो इन्द्र के देववाद में गहरी निष्ठा रखते हैं, इसके बावजूद छिट-पुट रूप में ही सही, इन्द्र के देवत्व में अविश्वास करने वालों की छाप इसमें भी बनी रह गयी है और ऐसा तभी सम्भव है जब ऐसे लोगों की संख्या बहुत प्रभावशाली रही हो। ऋ. 10.86 के अतिरिक्त अन्यत्र भी इन भावनाओं की अभिव्यक्ति हुई है। उदाहरण के लिए ऋ. 8.100.3 का रचनाकार व्यंग्यपूर्वक कहता है, "भाइयो, तुम लोग इन्द्र के लिए सचमुच यज्ञ करो यदि तुम्हें विश्वास हो कि वह सचमुच है। पर इन्द्र तो है ही नहीं, यही नेम (भार्गव) का कहना है। उस इन्द्र को किसने देखा है? फिर मैं किसकी स्तुति करूँ?"[26] इसी तरह का का अविश्वास ऋ. 2.12.5 में भी प्रकट किया गया है। इसी तरह एक अन्य स्थल पर इन्द्र को बिना किसी अनुगामी के एकाकी जाते हुए दिखाया गया है।[27] रोचक बात यह है कि यह विवाद या इन्द्र के प्राधान्य में यह सन्देह ऋग्वेद के नये मण्डलों में ही दृष्टिगोचर नहीं होता है और इस बात की खासी सम्भावना है कि यह प्रवृत्ति किसी क्षेत्र-विशेष में आरम्भ हुई हो और जो बात ऋग्वेद में कुछ सह्य और रोचक बनाकर पेश की गयी है वह अपने वास्तविक रूप में अधिक प्रखर रही हो, और सम्भव है ईरान में जाकर बसने वाले इस क्षेत्र के या इससे सीधा सम्पर्क रखने वाले क्षेत्र के ही रहे हों। ईरानी क्षेत्र में इनका बाहुल्य होने के कारण इनकी इन्द्र-विरोधी और देव-विरोधी मान्यताओं ने जोर पकड़ लिया जब कि भारत में इसकी अभिव्यक्तियाँ अन्य रूपों में हुईं।[28]

जतीन्द्र मोहन चटर्जी मानते हैं कि अवेस्ता भृगु की रचना है और इसका मुख्य बल भक्तियोग पर है। भृगु वरुण के उपासक थे और जिस विभेद की बात की जाती है वह उस पौराणिक प्रसंग में मूर्त है जिसमें भृगु को विष्णु की छाती पर लात मारते दिखाया गया है। वह महाभारत के "भार्गवाः वारुणाः सर्वे तेषां वंशो महान अपि" (अनुशासन 85. 129) में भी अपने मत की पुष्टि होते पाते हैं।[29] अवेस्ता के पन्द्रह यस्नों की तुलना वह अथर्ववेद के सादृश्य रखने वाले अंशों से करते हैं।[30] अवेस्ता पर आथर्वनों के प्रभाव के विषय में शंका नहीं की जा सकती और ऋग्वेद में अथर्वा को प्राचीन ऋषि मानने के बावजूद अथर्ववेद को कुछ तिरस्कार के साथ देखा जाता रहा है जिसके मूल में भी सम्भवतः वैदिक समाज की मान्यताओं का टकराव रहा हो। यह ध्यान देने की बात है कि अथर्वा को ही सम्भवतः पश्चिमोत्तर के पहाड़ी मार्गों की खोज करने वाला और बार-बार भारत से बाहर जाते-आते दिखाया गया है। अतः यह मानने का पर्याप्त कारण है कि ईरानी धार्मिक विश्वासों के पीछे अथर्वा का प्रमुख हाथ रहा है। इसी तरह हम पाते हैं कि शुद्ध आर्थिक कारणों से ऋग्वेद के नये मण्डलों तक आकर गाय का दैवीकरण कर दिया गया था, जबकि प्राचीन मण्डलों से इसका

कोई आभास नहीं मिलता। अवेस्ता में गोमेज़ या गोमूत्र की पवित्रता के उल्लेख पुनः इसे भारत में गाय के दैवीकरण के बाद के विश्वास की पुष्टि करते हैं।

इस तरह केवल भाषा, अन्तर्वस्तु, शैली, चिन्तन के स्तर और रचना-काल की दृष्टि से ही अवेस्ता ऋग्वेद के अन्तिम चरण के आस-पास की और सम्भवतः बाद की रचना नहीं सिद्ध होती, बल्कि ईरानी क्षेत्र में देववाद और इन्द्र की प्रधानता के विषय में जो प्रतिरोध दिखायी देता है तथा गाय की महिमा की जिस रूप में प्रतिष्ठा पायी जाती है उसकी भी व्याख्या भारतीय पृष्ठभूमि को सामने रखने पर और यहाँ पैदा होने वाले विचारों और विश्वासों को समझने पर ही हो सकती है, अन्यथा यह एक पहेली बनी रहती है।

इन तथ्यों के बावजूद अवेस्ता वैदिक काल-निर्धारण में हमारी विशेष सहायता नहीं करती। कारण, न तो यह ऋग्वेद की काल-सीमा का निर्धारण करने में कोई स्पष्ट संकेत देती है, न हमें इसकी आशा करनी चाहिए। अवेस्ता के विषय में यह अवश्य कहा जा सकता है कि इसकी रचना से पहले ऋग्वेद की रचना पूरी हो चुकी थी और सम्भवतः अथर्ववेद और ब्राह्मणों आदि में से कुछ अस्तित्व में आ चुके थे। परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि अवेस्ता के रचनाकाल से पहले भारत का ईरान से सम्पर्क ही कायम नहीं हुआ था। वास्तव में ज़रथुस्त्रवाद स्वयं ईरानी क्षेत्र में पहले से चले आ रहे विश्वासों और मान्यताओं के विरुद्ध एक सुधारवादी आन्दोलन था और बार्थोलोम और हर्त्सफ़ील्ड का विचार है कि ज़रथुस्त्रवाद को अपनाने से पहले ईरानी स्वयं भी देवपूजक थे।[31]

वैदिक काल के निर्धारण में यदि कोई कमी थी तो वह थी किसी ऐसे वस्तुगत आधार की कमी जिसके कारण वैदिक रचना-काल अटकलबाज़ी का ही विषय बना हुआ था और इस अटकलबाज़ी के आधार पर, जैसाकि मैक्समूलर ने स्वीकार किया था, कोई भी आदमी कभी भी यह तय करने की स्थिति में नहीं था कि वेदों की रचना ठीक कब हुई। इस दिशा में पहला प्रयास ज्योतिष के आधार पर किया गया।

4

ज्योतिष और वैदिक रचना-काल

सन् 1893 में जर्मनी में याकोबी और भारत में बाल गंगाधर तिलक ने स्वतन्त्र रूप से वैदिक साहित्य में उल्लिखित नक्षत्रों की स्थितियों के विश्लेषण से यह निश्चित करने का प्रयत्न किया कि इनका घटना-काल क्या हो सकता है।[32] दोनों के निष्कर्ष वैदिक रचना-काल को इतना पीछे खींच ले जाते थे कि इससे

पाश्चात्य विद्वानों के बीच एक भूकम्प-सा आ गया। ये दोनों विद्वान भिन्न मार्गों से इस नतीजे पर पहुँचे कि ब्राह्मणों के समय में कृत्तिका नक्षत्र, जो कि उस समय नक्षत्र-गणना में आरम्भ-बिन्दु था, मधुसम्पात या विषुव के साथ घटित होता था। पर वैदिक ग्रन्थों में इससे भी पुराने पंचांग के संकेत मिलते हैं जब मधुसम्पात मृगशिरा में होता था। पूर्ववर्तन का मान निकालने से पता चला कि कृत्तिका में मधुसम्पात 2500 ई. पू. में होता था और मृगशिरा में 4500 ई. पू. में। पर जहाँ तिलक कुछ वैदिक कृतियों के लिए छह हज़ार ई. पू. की तिथि नियत करते हैं वहाँ याकोबी उस सभ्यता के आरम्भ को जिसके परिपक्व, या सम्भवतः बाद के कृतित्व के रूप में वैदिक गान हमें उपलब्ध होते हैं, 4500 ई. पू. मानकर ही सन्तोष कर लेते हैं।[33] उनके अनुसार सभ्यता का यह काल मोटे तौर पर 4500-2500 ई. पू. तक फैल जाता है और वह सम्प्रति उपलब्ध सूक्तों का रचना-काल इस अवधि के उत्तरार्ध में मानते हैं।

याकोबी को अपनी मान्यता की पुष्टि एक अन्य ज्योतिर्वैज्ञानिक अवेक्षण से होती मिली। गृह्यसूत्रों में प्राचीन भारत में प्रचलित एक वैवाहिक रीति का उल्लेख मिलता है जिसमें विबाह के बाद पति-पत्नी जब अपने घर वापस पहुँचते थे तब उन्हें बैल के चमड़े पर तब तक चुपचाप बैठना होता था जब तक तारे नहीं निकल आते थे। इसके बाद पति पत्नी को ध्रुवतारा दिखाकर कहता था, "ध्रुव इव स्थिरा भव" और उत्तर में पत्नी कहती थी, "तुम ध्रुव हो, मैं अपने पति के घर में ध्रुव रहूँ।" यह विवाह-रीति जिसमें अडिग निष्ठा के प्रतीक रूप में ध्रुव-तारे का उल्लेख है, उस समय आरम्भ हुआ होगा जब एक अधिक चमकीला तारा आकाशीय ध्रुव के इतने समीप रहा होगा कि उस समय के किसी देखने वाले को यह स्थिर मालूम हो। आकाशीय विषुव के क्रमिक खिसकाव के कारण इसका उत्तरी ध्रुव भी खिसकता रहता है। ध्रुव के चारों ओर साढ़े तेईस अंश के एक चक्र में एक तारे को पुनः लौटने में 26000 (वस्तुतः 25,867) वर्ष का समय लगता है। इस तरह एक-एक तारा खिसकता चला जाता है और उत्तरी तारा या ध्रुवतारा बनता जाता है। पर कभी-कभी ही ऐसा होता है कि कोई तेज़ रोशनी का तारा ध्रुव के इतने पास पहुँचता है कि उसे व्यावहारिक रूप में ध्रुवतारा कहा जा सके। इस समय लघु सप्तर्षि मण्डल का एक दूसरे दर्जे का तारा अल्फ़ा उत्तरी गोलार्ध का ध्रुवतारा है। जब वैदिक काल में ध्रुवतारे की बात की जा रही हो तो आशय इस ध्रुवतारे से नहीं हो सकता। कारण, अभी 2000 वर्ष पहले भी यह तारा ध्रुव से इतनी दूर था कि इसे ध्रुवतारा नहीं कहा जा सकता था। 2789 ई. पू. में जाकर ही हमें अल्फ़ा ड्रैकोनिस नामक एक ऐसा तारा मिलता है जो 500 वर्षों तक नंगी आँखों से देखा जा सकता था और जो ध्रुव या अचल प्रतीत होता रहा होगा। अतः उस विवाह-रीति के प्रचलन को जिसमें

अडिग निष्ठा के प्रतीक रूप में पत्नी को ध्रुवतारा दिखाया जाता था, उसी अवधि में अर्थात् तीसरी सहस्राब्दी ई. पू. के पूर्वार्ध में रखना होगा। पर ऋग्वेद के वैवाहिक सूक्तों में इसकी चर्चा नहीं आयी है। इससे याकोबी ने यह निष्कर्ष निकाला कि यह विवाह-रीति वैदिक काल की न होकर उससे बाद की है और इसलिए वैदिक सभ्यता का काल तीसरी सहस्राब्दी से पहले है।[34]

जैसा कि स्वाभाविक था, याकोबी और तिलक के काल-निर्धारण का तीखा विरोध हुआ। इनके प्रतिवाद जिन रूपों में सामने आये वे निषेधात्मक नहीं अपितु सम्भावनापरक हैं। इनमें से कुछ बिलकुल निराधार और पाश्चात्य विद्वानों के अज्ञान या उपेक्षा के परिणाम थे। उदारहण के लिए एक तर्क यह दिया गया कि भारत में चान्द्र गणना ही प्रचलित थी; सौर गणना नहीं। यह दलील सही नहीं है। ऋग्वेद में उपजात मास का स्पष्ट हवाला आया है[35] जो चान्द्र और सौर पंचांगों के समन्वय का परिणाम है। इसी तरह यह सुझाव रखा गया कि लघु-सप्तर्षिमण्डल का एक तारा 1250-1500 ई. पू. में साफ मौसम होने पर नंगी आँखों दिखायी पड़ सकता था और इसलिए ध्रुवतारे का यह हवाला इसी काल का हो सकता है। यह सच भी हो सकता है, पर इससे यही सिद्ध होता है कि कल्प सूत्रों का रचना-काल 1500-1250 ई. पू. के बीच है, न कि 600-200 ई. पू. के बीच, और यह विशाल अन्तर ऋग्वेद तथा अन्य वैदिक रचनाओं के विषय में तदनुरूप पूर्ववर्तिता और नये काल-निर्धारण की माँग करता है।

विद्वानों के सामने जो कठिनाई पेश आ रही थी वह थी आर्यों के भारत में आने की कल्पित मान्यता के सम्मुख उठने वाली आशंका। इसे इतना पीछे नहीं ले जाया जा सकता था जितना इन गणनाओं को सामने रखते हुए अपेक्षित प्रतीत हो रहा था। पर ऐसी स्थिति में यदि प्रश्नचिह्न लगाना आवश्यक था तो वह आर्य आव्रजन की मान्यता के सामने लगाया जाना चाहिए था। एक दूसरी कठिनाई उक्त काल में भारत में किसी भौतिक संस्कृति के प्रमाणों के अभाव की थी, कारण, हड़प्पा सभ्यता का उस समय तक पता नहीं चला था।

जो भी हो, इस नयी उद्भावना ने काल-निर्धारण की एक नयी दिशा का द्वार खोला। याकोबी और तिलक के अतिरिक्त कामेश्वर ऐयर[36], शंकर बालकृष्ण दीक्षित[37], गोरख प्रसाद[38], पी. सी. सेनगुप्त[39], एन. एन. ला[40], आदि अनेक विद्वानों ने नक्षत्र विषयक सूचनाओं के आधार पर ऋग्वैदिक काल निर्धारण की पुष्टि की और एन. एन. ला ने उसकी आलोचना करने वालों की सीमाओं को अधिक स्पष्ट करते हुए—पहले किये गये निर्धारण का समर्थन किया।

इस गणना-पद्धति के विषय में यह आपत्ति उठायी जा सकती है कि जिन कृतियों में इनके उल्लेख हैं उनमें से अधिकांश भाषा आदि की दृष्टि से निश्चय ही बाद की हैं। अतः इन कृतियों के लेखन-काल से इनका सम्बन्ध नहीं है। पर

इसका धनात्मक पक्ष यह है कि इन गणनाओं में एक संगति है और इन्हें केवल कल्पना-प्रसूत नहीं कहा जा सकता। इन दोनों पहलुओं का एक ही समाधान दिखायी देता है कि उन कृतियों को वर्तमान रूप में लिपिबद्ध करने वालों को सम्बन्धित कालों की कृतियाँ उपलब्ध थीं और जैसा कि अन्यत्र भी देखा जाता है, भारतीय परम्परा में कुछ अत्यन्त पुरानी मान्यताओं को बाद की कृतियों में बार-बार यथातथ्य दुहराया जाता रहा है, इन नक्षत्रों के महत्त्व को भी समकालीन वास्तविकता की परवाह किये बिना दुहराया जाता रहा है। अतः यह कहना कठिन है कि जिन कृतियों में नक्षत्रों के ये उल्लेख आये हैं वे उसी काल की हैं, पर यह निश्चित है कि ये उक्त नक्षत्र-स्थितियों से बाद की हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो, ये अधिकतम सीमा का निर्धारण करने में सहायक न होते हुए भी इस बात की पुष्टि करती हैं कि उन कालों में सभ्यता का विकास इस स्तर का था कि नक्षत्रों आदि की स्थितियों का ध्यान रखा जा सके, उन्हें नाम दिया जा सके और दूसरी ओर इन कृतियों के विषय में अधिकतम सीमा के निर्धारण में इनका कुछ उपयोग अवश्य है।

5

एशिया माइनर के अभिलेख

वैदिक काल के लिए अपेक्षाकृत छोटी काल-सीमा मानकर चलने वालों के सामने एक उलझन उस समय पैदा हो गयी जब 1907 में ह्यूगो विंकलर ने बोग़ाज़कुई से जो हित्ती राजाओं की राजधानी थी, एक हित्ती राजा के मितन्नी राजा के साथ हुए सन्धि-पत्र का उद्धार किया। यह सन्धि-पत्र कीलक लिपि में मिट्टी की पट्टियों पर लिखा मिला था और इसकी तिथि 1360 ई. पू. मानी जाती है। इन अभिलेखों में आये देवनामों का साम्य केवल भारतीय वैदिक देवताओं से बैठता है। इसके अतिरिक्त अश्वपालन पर एक पुस्तक का भी उद्धार हुआ जिसमें प्रयुक्त संख्यावाची केवल भारतीय शाखा से ही मेल खाते हैं।

वैदिक सभ्यता के विषय में पुरातात्विक साक्ष्यों के अभाव की शिकायत प्रायः की जाती रही है, पर यहाँ हमें इस बात का एक रोचक उदाहरण मिलता है कि पुरातात्विक साक्ष्यों को भी मूलबद्ध आग्रहों के कारण किस तरह झुठलाया जा सकता है। इन अभिलेखों से तथाकथित भारोपीय समुदाय की किसी भी अन्य शाखा का सीधा सम्बन्ध नहीं बैठता। संख्यावाचियों, व्यक्तिनामों, देवनामों, इनके युग्मों और यहाँ तक कि वर्ण-विभाजन के मामले में भी इन शासकों का सम्बन्ध केवल भारत से बैठता है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि वर्ण-व्यवस्था का

जन्म भारत में ऋग्वैदिक काल में हुआ था और ईरान और एशिया माइनर में पहुँचने वाले लोग वर्ण-विभाजन के बाद वहाँ पहुँचे थे, जैसा कि अवेस्ता के वइसपुथ्र या वैश्यपुत्र और बोग़ाजकुई के हत्ती-पालि खत्तिओ या क्षत्रिय से प्रकट होता है।

पर अनेक विद्वान—गाइल्स, ओल्डेन बर्ग, कीथ, टी. बरो आदि—इस समस्या को यह कहकर सुलझाने का प्रयत्न करते हैं कि एशिया माइनर में पहुँचने वाले लोग उस मूल शाखा के रहे लगते हैं जिसकी एक शाखा ने इसी समय के आस-पास भारत में प्रवेश किया। जैसा कि हम पहले भी संकेत कर आये हैं, जहाँ उपलब्ध प्रमाणों को एक अप्रामाणिक आर्य-आव्रजन की मान्यता के तहत जाँचा जा रहा हो वहाँ प्रमाणहीनता ही सबसे बड़ा प्रमाण और प्रमाण ही सबसे निरीह मेमने बनकर रह जाते हैं। यह मानने से पहले कि बोग़ाजकुई के अभिलेखों का आर्यों से पूर्ववर्ती किसी मूल शाखा से सम्बन्ध है, या हो सकता है, अध्येताओं को अन्यत्र कहीं से इसका प्रमाण तो जुटाना ही चाहिए था, साथ ही यह भी तय कर लेना चाहिए था कि भारत में यह आव्रजन हुआ भी था या नहीं।

पर यह औचित्य-स्थापन अनेक दूसरे विद्वानों को सन्दिग्ध और किंचित् अग्राह्य या सन्देहजनक लगता है। इनमें याकोबी, कोनो, हिल्लेब्रांट, ब्लाख़, हॉक्स, विंटरनित्ज़, भंडारकर, कोसम्बी, भार्गव आदि का नाम लिया जा सकता है। हिल्लेब्रांट ने ऋग्वेद के आठवें मण्डल से भारतीय आर्यों के पश्चिमी एशिया के साथ सम्पर्क की ओर ध्यान दिलाया था।[41] कोनो इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि मितन्नी अभिलेख में नासत्या का उल्लेख विवाह के प्रसंग में आया है और ऋग्वेद के दसवें मण्डल में सूर्या के विवाद के प्रसंग में भी वह एक साक्षी देवता के रूप में आये हैं यह मानते हैं कि मेसोपोटामिया में आर्यों का प्रवेश ऋग्वेद की रचना पूरी हो जाने या इसका बहुलांश अस्तित्व में आ जाने के बाद हुआ। अतः ऋग्वेद के प्राचीनतम अंशों की रचना मितन्नी सन्धिपत्र से बहुत प्राचीन है।[42] विंटरनित्ज़ का कहना है कि इन्द्र-नासत्या का युग्म तो ऋ. 8.26.8 में भी आया है जहाँ उनका विवाह से कोई लेना-देना नहीं है।[43] ब्लाख़ यह निर्णय नहीं कर पाते कि यहाँ हमारा साबका उन्हीं कबीलों से पड़ रहा है जो बाद में भारत आये थे या वे भारत में आने के बाद यहाँ लौटे थे।[44] कोसम्बी उन्हें भारत आकर लौटा हुआ मानते हैं।[45]

जैसा कि हॉक्स ने स्पष्ट किया है, यह स्वीकार करते ही कि हित्ती जन उक्त क्षेत्र में भारत से पहुँचे थे, भारत में वैदिक सभ्यता को कम-से-कम 2500 ई. पू. ले जाने की बाध्यता उत्पन्न हो जाती है[46] और यही कुछ विद्वानों के लिए सबसे बड़ा कंटक रहा है।

6
कुर्गन संस्कृति

अनेक पाश्चात्य विद्वानों के लिए, और उनकी प्रतिभा में निष्ठा रखने वाले अनेक भारतीय अध्येताओं के लिए तुलना का एक अन्य आधार काला सागर से ठीक ऊपर नीपर और नीस्टर नदियों के प्रवाह क्षेत्र में पलने वाली संस्कृतियों का रहा है जिन्हें कुर्गन संस्कृति, पृथुपर्शु (बैटल ऐक्स) संस्कृति, गर्त समाधि (पिट ग्रेव) संस्कृति, रज्जु-मुद्रित भाण्ड (कोर्डेड वेयर) संस्कृति आदि की संज्ञा दी जाती रही है। इसके पता चलने के बाद से ही इस संस्कृति को आदिम भारोपीय संस्कृति मानने का आग्रह रहा है, जैसे भारोपीय जनों की आदिम संस्कृति और मूल के बारे में विद्वानों को अब किसी प्रकार का संशय ही न रह गया हो।

इस संस्कृति के कुछ पहलुओं पर बार-बार बल दिया जाता रहा है। इनको सार रूप में पेश किया जाये तो कुर्गन जन अश्वपालन से परिचित थे और घोड़े को संभवतः पाँचवीं सहस्राब्दी में ही पालतू बना चुके थे, यद्यपि इसका उपयोग वे मांस और दूध के स्रोत के रूप में ही करते थे। इनके औज़ारों में गड़ासे के ढंग का एक भारी फरसा भी है। कुछ स्थलों से प्राप्त मुद्भाण्डों पर जो चित्रांकन है यह सूर्य का प्रतीकांकन प्रतीत होता है जो वैदिक देवताओं में से एक था। अवशेषों में कुछ अँगीठियाँ प्राप्त हुई हैं जो सम्भव है यह यज्ञ के लिए उपयोग में लायी जाती रही हों। इनका मुख्य आजीव पशुपालन और आखेट था, पर ये मामूली-सी खेती भी करते थे। इन्हीं लोगों का प्रसार तीसरी और दूसरी सहस्राब्दियों में यूरोप के उत्तरी और पश्चिमी भागों में होता है, जिसकी पुष्टि पुरातात्विक साक्ष्यों से होती है। इन लोगों का काला सागर के क्षेत्र में कहाँ से आगमन हुआ, यह तय नहीं है, पर सम्भव है ये वहाँ पूर्व से आये रहे हों। इनके सरदारों या राजाओं की समाधियों से काफ़ी कीमती सामान और आभूषण आदि प्राप्त हुए हैं जिनसे इनकी समृद्धि का पता चलता है। वे गाड़ी के पहिये से परिचित थे, पर उनकी गाड़ी के पहिये ठोस लकड़ी के होते थे, अतः उसी अनुपात में छोटे भी, अतः इनमें घोड़ों को नहीं जोता जा सकता था।[47]

जहाँ तक वैदिक जनों का प्रश्न है, इन रोचक उपलब्धियों का कोई अर्थ नहीं है। न केवल भारत में अपितु प्राचीन जगत के अन्य क्षेत्रों में भी जहाँ भारोपीय जनों की उपस्थिति के निर्णायक प्रमाण मिले हैं, उनमें कहीं भी उनकी सभ्यता का स्तर अविकसित नहीं दिखायी देता। कुर्गन जन तो अन्त तक अश्व-चालित रथ से परिचित नहीं थे, जब कि वैदिक जनों को रथचालन पर इतना अच्छा अधिकार था कि एक कुशल सारथी इच्छानुसार जब चाहे किसी भी ओर रथ को मोड़

सकता था। उनके पहिये भी अरों वाले हुआ करते थे। यह धारणा कि आर्य या वैदिक जनों की संस्कृति अश्व-संस्कृति थी, अपर्याप्त जानकारी का परिणाम है। घोड़े से पहले, जैसा कि हम संकेत कर आये हैं, वे गधे से परिचित थे और इन गधों का, उनके मुख्य भारवाही पशु होने के कारण, खासा महत्व था। बंगाल में आज भी लक्ष्मी का वाहन गधा ही माना जाता है जिसका पुतला लक्ष्मी-पूजा की रात को बस्ती से बाहर खड़ा किया जाता है जो धनार्जन के लिए व्यापारिक यात्राओं के क्रम में प्रस्थान का सूचक है। वैदिक जनों का मुख्य पशु गाय थी, जिसकी उपस्थिति कुर्गन संस्कृति में बहुत कम है। जिन्हें अग्निकुण्ड माना गया है वे आग जिलाने की अँगीठियाँ प्रतीत होती हैं। वैदिक यज्ञ सार्वजनिक हुआ करते थे और अग्नि-कुण्ड कच्ची ज़मीन में खासे बड़े आकार का बनाया जाता था। व्यक्तिगत यज्ञ-विधान का वह युग नहीं था। जिन्हें सूर्य क. प्रत्यंकन माना गया है वे भी रस्सी को गोलाकार लपेटकर भाण्डों पर इनके दबाव से तैयार किये गये अंकन हैं जिनको केवल एक ही नहीं अनेक रूपों में इन भाण्डों पर छापा गया है और जिसके कारण ही इसका एक नाम कोर्डेड वेयर कल्चर या रज्जु-मुद्रित भाण्ड संस्कृति पड़ा है। अतः यहाँ पर हमें एक भी ऐसा सूत्र नहीं मिलता जिससे हम इसे भारोपीय या वैदिक संस्कृति का पूर्वरूप कह सकें। वैदिक अन्त्येष्ठि में भी उस प्रकार के उन्मादपूर्ण प्रदर्शन की छाया नहीं मिलती जो यहाँ की गर्त समाधियों में दिखायी देती है। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि दक्षिण-पूर्व—ईरान और भारत—की ओर इसके अग्रसर होने का कोई प्रमाण नहीं मिलता। इसके यूरोप की ओर अग्रसर होने के विषय में केवल यही कहा जा सकता है कि इस संस्कृति के लोगों ने सम्भवतः आक्रमण या क्रमिक प्रव्रजन के द्वारा मध्य और उत्तरी यूरोप में प्रवेश किया और वहाँ की आबादी में रच-खप गये।

इस संस्कृति का एक दूसरा पहलू भी है जो कुछ रोचक प्रतीत होता है और वह है इसका किसी ऐसे व्यापारिक सूत्र से जुड़ा होना जिसका प्रसार बहुत व्यापक था। कारण, इन बस्तियों से कतिपय ऐसी वस्तुएँ भी मिली हैं जिनका उद्गम स्थल बहुत दूर सिद्ध होता है। इसी का पूरक पहलू है इनमें से अत्यन्त समृद्ध व्यक्तियों की समाधियों से बहुत बड़ी सम्पदा का प्राप्त होना और इस वर्ग की शेष आबादी से अलग क़िलाबन्द बस्तियाँ। ये बस्तियाँ किसी नगर की अपेक्षाओं और इसकी प्रशासनिक आवश्यकताओं को देखते हुए बहुत छोटी हैं, पर इनके मकानों की बनावट, शेष आबादी से इसका अलगाव, अपनी सुरक्षा की समुचित व्यवस्था आदि इस बात की सम्भावना को बल देती हैं कि ये किन्हीं समृद्ध लोगों की बस्तियाँ थीं जिन्हें चोरी-लूट आदि के ख़तरों से बचने के लिए एक विशेष व्यवस्था करनी पड़ी थी। आर्थिक आधार को देखते हुए, बिलकुल अलग ऐसी उँचाइयों पर जहाँ से दूर तक के ख़तरों का पूर्वाभास पाया जा सके, इनका बसना इस कारण भी हो

सकता है कि स्थानीय जनों से ये किन्ही मामलों में भिन्न थे और यदि व्यापार से किन्हीं का सम्बन्ध हो सकता था तो सीधा सम्बन्ध इन्हीं का था जो ही इनकी असाधारण सम्पन्नता का कारण भी था। इनकी उपस्थिति तीसरी सहस्राब्दी ई. पू. से दिखायी देने लगती है। क्या यह सम्भव नहीं कि ये आर्य व्यापारियों के या उनसे सम्पर्क रखने वाले स्थानीय व्यापारियों के अड्डे रहे हों और भारोपीय भाषा और संस्कृति के उस क्षेत्र में प्रसार के भी केन्द्र बने हों? हम यह जानते हैं कि पण्य वस्तुएँ और व्यापारिक सम्पर्क उत्पादकों और व्यापारियों की भाषा, संस्कृति और विश्वासों के प्रसार में कहीं अधिक गहरे स्तर पर काम करते हैं और इनके माध्यम से आने वाला प्रभाव अपेक्षाकृत अधिक गहन और चिरस्थायी होता है। घोड़ों के लगाम आदि के प्रमाण जिनसे प्रकट हो कि घोड़ों का सवारी के लिए भी उपयोग होने लगा था, इनकी बस्तियों तक ही सीमित हैं।

जो भी हो, कुर्गन संस्कृति से वैदिक काल के निर्धारण में हमारी कोई खास सहायता नहीं मिलती या यदि मिलती है तो केवल इस सीमा तक ही कि सम्भवतः आर्य-भाषा-भाषी व्यापारियों ने तीसरी सहस्राब्दी तक दक्षिणी और मध्य यूरोप के भी कुछ स्थलों पर अपने अड्डे बना लिये थे और इनके अड्डे क्रमशः उत्तर और पश्चिम की ओर बढ़ते हुए यहाँ पहुँचे थे।

वैदिक अन्तःसाक्ष्य

इस विषय में किसी सन्देह की आवश्यकता नहीं कि ऋग्वेद की रचना में बहुत समय लगा था। इसकी पुष्टि स्वयं ऋग्वेद में उपलब्ध ऋषियों के वंशधरों की नामावली से ही नहीं होती, अपितु इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है ऋग्वेद में आने वाली आवृत्तियाँ। इन आवृत्तियों को ध्यान में रखते हुए ब्लूमफ़ील्ड इस नतीजे पर पहुँचे थे कि वैदिक काव्य एक लम्बे समय तक वातावरण में छाये रहे थे और इसी कारण ऋचाओं के अनेक चरण और कभी-कभी पूरी ऋचा नये सूक्तों में स्थान पा जाती रही।[48] पूर्ववर्ती कवियों या पुराणकारों की पंक्तियों को नये कवियों द्वारा यथातथ्य आत्मसात् करते हुए रचना करने की यह परम्परा इनके लम्बे अन्तरिम चरणों की पुष्टि करती है।

पर इन दोनों तथ्यों से अधिक महत्वपूर्ण है समाज के आर्थिक और सामाजिक ढाँचे में परिवर्तन। इस पहलू पर हम कुछ विस्तार से आगे के अध्यायों में विचार करेंगे। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि वैदिक समाज ने अपने आर्थिक और सामाजिक आधार को उस स्तर तक पहुँचाने में जिसे हम ऋग्वेद में प्रतिबिम्बित पाते हैं काफ़ी लम्बा—सहस्राब्दियों का—समय लिया है। यहाँ हम जिस पहलू पर

विचार करना उचित समझते हैं वह है स्वयं ऋग्वेद में आयी सूचनाओं के आधार पर ऋग्वेद के रचना-काल का निर्धारण।

ऋग्वेद के पुराने और नये मण्डलों के बीच पायी जाने वाली अन्य अनेक भिन्नताओं की ओर अध्येताओं ने ध्यान दिया है, पर एक पहलू की ओर समुचित ध्यान नहीं दिया गया है। यह है प्राचीन और नवीन सूक्तों के बीच नदियों में तुलनात्मक महत्व का अन्तर। यद्यपि सिन्धु शब्द का सामान्य नदी के अर्थ में नये और पुराने सूक्तों में बार-बार प्रयोग हुआ है, किन्तु पुराने सूक्तों में नदी विशेष के अर्थ में इसका प्रयोग केवल दो बार ही आया है। पहली बार यह उल्लेख रसा के साथ नाम के लिए ही आया हैं।[49] दूसरे स्थल पर भी इसका नामोल्लेख मात्र दूसरी अनेक नदियों के साथ देखने में आता है।[50] सायण इन दोनों स्थलों पर भी सिन्धु को नदी विशेष के अर्थ में न लेकर उदक् और समुद्र के अर्थ में ही लेते हैं। यदि सायण की व्याख्या को मानकर चलें तो प्राचीन सूक्तों में सिन्धु का एक नदी के रूप में उल्लेख आया ही नहीं है। यदि उनसे अहमति रखी जाये, जिसका पर्याप्त कारण भी है, तो प्राचीन अंशों में सिन्धु का उल्लेख मात्र प्रासंगिक और रूप-रंग-हीन है, मानो कवि को सिन्धु नदी का ज्ञान तो हो, पर उससे किसी तरह की आत्मीयता न अनुभव करता हो।

इसके विपरीत सरस्वती का उल्लेख पुराने सूक्तों में पूरी गरिमा और वैभव के साथ किया गया है। यहाँ सरस्वती के प्रबल वेग, इसकी जलसम्पदा, इसकी बदलती हुई धारा, इसके भयानक रूप, आर्थिक महत्व, इसकी गर्जना, इसमें मिलने वाली अनेकानेक नदियों और इससे सम्भावित ख़तरों का बहुत जीवन्त वर्णन किया गया है। यह अपने प्रबल वेग से पर्वत शृंगों को इस तरह तोड़ डालती है जैसे कोई कमल नाल को तोड़े।[51] यह धनधान्य से पूर्ण या प्रखरवेग वाली नदी है।[52] इससे धन के लिए अनुरोध किया जाता है।[53] यह पूषा की तरह पोषक अन्न देती है।[54] यह एक भयंकर और कूल-कगार तोड़ने और धारा बदने वाली नदी है।[55] इसकी जलधारा गर्जना करती हुई प्रवाहित होती है।[56] बाढ़ के समय इसका पाट इतना चौड़ा हो जाता है कि लगता है यह क्षितिज तक फैली हुई है।[57] यह नदियों में सबसे प्रखर वेग वाली और सबसे अधिक जलराशि वाली नदी है।[58] नदियाँ इसमें आकर मिलती हैं, यह सप्तधातु[59] और सप्तस्वसा है।[60] अपनी सखियों या अन्य नदियों की तुलना में यह अधिक धनधान्य देने वाली है।[61] यह सदा कल्याण ही करती है।[62] यह सबसे बड़ी माँ, सबसे बड़ी देवी और सबसे बड़ी नदी है।[63] यह हिमालय से ले कर समुद्र-पर्यन्त प्रवाहित होती है[64] और इसके माध्यम से नहुष-पुत्र ने अकूत धन कमाया था।[65]

ऋग्वेद के नये मण्डलों में स्थिति बिलकुल उलट जाती है। यद्यपि प्रथम मण्डल के तीसरे सूक्त में भी इसके 'वाजेभिः वाजिनीवती' और 'महो अर्णः'[66] विशेषण

प्रयोग में आये हैं, पर इस मण्डल के पहले से लेकर पचासवें सूक्त तक की रचना प्राचीन मण्डलों के समय की बतायी जाती है।[67]

नये मण्डलों में सिन्धु को वही महत्व प्राप्त हो जाता है जो पहले सरस्वती को प्राप्त था। सरस्वती का वर्णन उसी तरह नामोल्लेख बनकर आता है जैसे पुराने मण्डलों में सिन्धु का। सिन्धु का पहली बार कुछ महत्व के साथ उल्लेख आठवें मण्डल में आता है जहाँ उसे अनेक नदियों को आत्मसात करके बहने वाली[68] और तेज प्रवाहवाली या वैभवशालिनी[69] कहकर सम्बोधित किया गया है। उसके वैभव और जलसम्पदा का लगभाग उसी भावाकुलता के साथ वर्णन नदी सूक्त में आता है जहाँ उसे समस्त नदियों में ओज की दृष्टि से सर्वोपरि[70], अदब्धा और जलभंडार में सर्वोपरि[71] कहा गया है। इसकी महिमा को महान बताया गया है[72], इसे श्वश्वा, सुरथा, हिरण्ययी, वाजिनीवती, ऊर्णावती, मधुवृधा आदि विशेषणों से सम्बोधित किया गया है।[73] यह धरती से अधिक पर्वतीय क्षेत्र से होकर प्रवाहित होती है।[74] इसे वरुण के आवागमन का मार्ग बताया गया है।[75] यह अपने वेगवान रथ से चलती है जिससे व्यापारिक यात्राओं से लाभ अर्जित किया जाता है[76] तथा यह अन्य नदियों को इस तरह लेकर आगे बढ़ती है जैसे कोई राजा सेना का नेतृत्व करे[77], और दूसरी नदियाँ इसकी ओर उसी तरह दौड़ती हैं जैसे माँ की ओर बच्चे, या गाय की ओर बछड़े।[78] सिन्धु के प्रवाह से ऐसी गर्जना होती है जिससे आकाश तक गूंज उठता है और यह इस तरह दौड़ती है[79], जैसे कोई वृषभ हुंकारता हुआ दौड़े।[80]

नदी सूक्त में यदि सरस्वती का उल्लेख न आया होता तो यह माना जा सकता था कि यह मात्र संयोग ही है कि पुराने सूक्तों में सरस्वती की महिमा का उल्लेख हुआ है और नये सूक्तों में सिन्धु का स्तवन किया गया है। पर सरस्वती का भी उल्लेख नदी सूक्त में ही आया है और इससे यह प्रकट होता है कि वैदिकों के लिए और उनके आर्थिक प्रचालनों के लिए इसका महत्व बहुत घट गया है।[81] नदी सूक्त में लगभग वे सारे विश्लेषण जो पहले सरस्वती के लिए प्रयोग में आते थे सिन्धु के लिए प्रयुक्त होने लगे हैं। सरस्वती के स्थान पर अब सिन्धु ही हिरण्य-वर्तनी, वाजिनीवती, अपसां अपस्तमा, महान महिमा वाली, अनन्त शुष्म वाली हो जाती है।

महत्व का यह बदलाव और पहले के सारस्वत क्षेत्र की तुलना में पूर्व से पश्चिम की ओर लगभग समस्त हड़प्पा सभ्यता के क्षेत्र को समेटने वाले भू-भाग का इस नये सन्दर्भ में परिचय हमारे लिए बहुत महत्पूर्ण है। इससे स्पष्टतः यह निष्कर्ष निकलता है कि वैदिक सभ्यता का आविर्भाव सारस्वत क्षेत्र में होता है, वहीं यह अपने विकास को प्राप्त करती है और बाद में उसका क्षेत्र-विस्तार होता है, और इसी क्रम में यह मुख्यतः पश्चिम की ओर, और कुछ दूर तक पूर्व की ओर,

बढ़ती है। सभ्यता का केन्द्र सरस्वती-तट से हटकर सिन्धु और उसकी सहायिकाओं के तट पर पहुँच जाता है और इस क्रम में इसकी व्यापारिक गतिविधियों का खासा विस्तार होता है।

काल-निर्धारण की दृष्टि से यह संकेत और भी महत्वपूर्ण हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि ऋग्वेद के नये माने जाने वाले मण्डलों की रचना का काल परिपक्व हड़प्पा काल है और प्राचीन मण्डलों की रचना सारस्वत क्षेत्र में हुई थी और ये उससे कहीं अधिक पुराने हैं, जितना सामान्यतः सोचा जाता रहा है। यदि परिपक्व हड़प्पा की अवधि लगभग पाँच सौ वर्ष की है तो समूचे ऋग्वेद की रचना की अवधि लगभग एक हज़ार वर्ष या इससे कुछ अधिक ही पड़ेगी। दूसरे शब्दों में कहें तो, ऋग्वैदिक काल का आरम्भ लगभग 3000 ई. पू. या इससे भी कुछ पीछे चला जाता है।[82]

दोनों नदियों के नामोल्लेख में पाये जाने वाले इस अन्तर की ओर पहले भी ध्यान दिया गया था और इससे स्वतः फूटने वाले निष्कर्ष को कि वैदिक सभ्यता का प्रसार सरस्वती की उपत्यका में हुआ और बाद में इसका प्रसार सिन्धु के क्षेत्र में हुआ, भारत पर आर्य आक्रमण या भारत में आर्यों के बाहर से आव्रजन के ठीक विपरीत पाकर वस्तुस्थिति को ही उलटने का प्रयत्न किया गया था। इस तरह कुछ विद्वानों ने यह सुझाव रखा था कि सरस्वती अफ़ग़ानिस्तान की हरौती नदी रही हो सकती है, पर हरौती समुद्र-पर्यन्त प्रवाहित नहीं होती जबकि सरस्वती के समुद्र-पर्यन्त प्रवाह का उल्लेख है, अतः यह ताल-मेल बैठाने का प्रयत्न किया गया कि छठे मण्डल की सरस्वती तो हरौती है और सातवें मण्डल तथा बाद के मण्डलों की सरस्वती भारत के मध्यदेश की सरस्वती।[83] सरस्वती के समुद्र-पर्यन्त प्रवाह को ध्यान में रखते हुए यह भी सुझाने का प्रयत्न किया गया कि यह सिन्धु का ही पुराना नाम हो सकता है।[84] सिन्धु का ही पुराना नाम सरस्वती रहा हो सकता है, इसकी व्यर्थता तो इस बात से ही साबित हो जाती है कि नदी सूक्त में यथाक्रम पूर्व से पश्चिम की ओर नदियों के उल्लेख में सरस्वती का नाम गंगा, यमुना के बाद ही आता है और उसी में आगे सिन्धु का पृथक वर्णन भी है और अन्यत्र भी अनेक स्थलों पर सिन्धु और सरस्वती का साथ-साथ उल्लेख आया है। पहले मत पर टिप्पणी करते हुए वैदिक इंडेक्स के लेखक लिखते हैं, "यह मत अनिवार्यतः इस सिद्धान्त पर आधारित है कि ऋग्वेद का छठा मण्डल, सातवें के विपरीत, ईरानी भूमि को अपने क्रिया-कलाप का क्षेत्र मानता है : यह उतना ही अनुपयुक्त है जितना कि स्वयं यह सिद्धान्त। ब्रुनहॉफ़र ने एक समय इस ईरानी समीकरण को स्वीकार किया था, किन्तु बाद में उन्होंने उस ऑक्सस के पक्ष में अपना मत परिवर्तित कर लिया जो सर्वथा अप्रासंगिक है।[81]

पर यह सोचना ग़लत होगा कि परिपक्व हड़प्पा का आरम्भ हड़प्पा और

मोहनजोदड़ो आदि नगरों के साथ होता है। इन नगरों की स्थापना एक विकसित और सुनियोजित नगर-योजना के अन्तर्गत होती है, अतः यह आसानी से सोचा जा सकता है कि इन नगरों को बसाने वालों को नगर-जीवन का परिचय पहले से प्राप्त था। इन नगरों की आशा हम सारस्वत क्षेत्र में कर सकते हैं, परन्तु इनको ढूंढ़ पाना सम्भवतः आज अधिक कठिन हो। सम्भव है, इनमें से अनेक स्वयं सरस्वती के ग्रास बन गये हों और शेष कुछ इसके द्वारा लाये गये कचरे की तहों के नीचे दफ़न हों।

नगर-सभ्यता से पूर्ववर्ती विकास का पुनः एक बहुत लम्बा चरण हमें भारत में दिखायी देता है। इनमें कितने हज़ार वर्षों का समय लगा होगा यह कहना कठिन है पर इसकी विकास रेखा का अध्ययन हम वैदिक साहित्य—विशेषतः ब्राह्मणों और पुराणों—के आधार पर कर सकते हैं। इसे हम अगले अध्यायों के लिए स्थगित रख सकते हैं।

जब हम सरस्वती क्षेत्र में पुरानी नगर-सभ्यता के विकास की बात और उससे पहले के विकासों की बात कर रहे हैं जिनके भौतिक अवशेष अभी ढूंढ़ने होंगे, तो यह किंचित अविश्वसनीय लग सकता है। पर स्थिति सर्वथा निराशा-जनक नहीं है। कम-से-कम मेहरगढ़ की खोज ने भारतीय सभ्यता के विकास की तसवीर को आज पहले की तुलना में बहुत बदल दिया है।

मेहरगढ़

मेहरगढ़ बलूचिस्तान के क्वेटा जिले में बोलन दर्रे के नीचे, बोलन नदी के पास लगभग 500 एकड़ का क्षेत्र है जिससे हड़प्पा से पहले के अवशेष प्राप्त हुए हैं। इस स्थल पर निवास के चिह्न अनुमानः 7वीं सहस्राब्दी ई. पू. में देखने में आते हैं। इस स्थल की खुदाई करने वाले, जैरिज, के अनुसार यहाँ लगभग नव मीटर मोटी तह पायी गयी और यह बस्ती लगभग तीन हज़ार वर्ष तक आबाद रही। इसका आरम्भ मृद्भाण्ड पूर्व नवपाषाणी चरण से होता है। पाँचवी सहस्राब्दी ई. पू. में यहाँ ईंटों के प्रयोग के चिह्न मिलने लगते हैं और इसी के दौरान कृष्ट अनाजों के बीच, भण्डार के पास और चूल्हे के पास कपास के बीज भी प्राप्त हुए हैं। इससे इस बात का पता चलता है कि इस काल तक कपास की खेती और सूती कपड़ों की कताई-बुनाई का आरम्भ हो चुका था। छठी सहस्राब्दी के बीच ही इस कृषि-मूलक अर्थ-व्यवस्था में कौशलों के विशेषीकरण और सुदूर स्थलों से सम्पर्क के चिह्न प्रकट होते हैं जो यहाँ से प्राप्त कौड़ियों, लाजवर्द और फीरोजा आदि से प्रमाणित होता है। इसके तीसरे चरण में, चौथी सहस्राब्दी ई. पू. में यहाँ

चाक से बर्तन भी बनने लगते हैं।[86] "मकानों की योजना शहरी नहीं है, पर ये कई कमरों वाले और सलीके से बने हुए हैं। करायल के प्रयोग से टोकरों को अछिद्र बनाने का चलन भी इस चरण में दिखायी देता है।"[87]

मेहरगढ़ सभ्यता के इतिहास-ग्रन्थ के सबसे पुराने और दीमक खाए खण्ड के एक महत्वपूर्ण पन्ने के पार्श्व पर अंकित एक नन्हीं-सी टिप्पणी जैसा है। यह इस मान्यता का तो खण्डन करता ही है कि पश्चिमोत्तर सीमान्त के इस पार चार हज़ार ई. पू. की किन्ही संस्कृतियों का पता नहीं चलता, साथ ही भारतीय सभ्यता के विकासक्रम को समझने की दृष्टि से एक मानस्तम्भ का भी काम करता है। यद्यपि आहार-अन्वेषण और आखेट के पूर्ववर्ती चरणों को समझने के लिए यह हमारे लिए कोई उपयोगी सूचता नहीं दे सकता, पर स्थाई बस्तियाँ बसाकर रहने और हज़ारों वर्षों तक एक ही स्थल से बँधे रहने के कारण इसके निवासी हमारे लिए पशु-पालन और आदिम कृषि के चरण से आगे के विकास को समझने के लिए एक महत्वपूर्ण संकेत छोड़ गये हैं।

पर क्या मेहरगढ़ हमारे इस प्रस्ताव का खण्डन नहीं करता कि वैदिक सभ्यता का विकास सारस्वत क्षेत्र में होता है और इसके बाद यह सिन्धु की ओर अग्रसर होती है? इस प्रश्न के संगत पहलुओं पर हम आगे विचार करेंगे।

उपसंहार

अब यदि हम ऋग्वेद के रचना-काल के निर्धारण के लिए या मोटे तौर पर वैदिक साहित्य के रचना-काल के निर्धारण के लिए अब तक अपनायी गयी विविध युक्तियों को यान्त्रिक रूप में सामने रख कर विचार करें तो हमें इनमें इतना अन्तर दिखायी देगा कि इनके द्वारा नियत तिथियों में किसी को भी स्वीकार करने में कुछ घबराहट-सी होगी। पर यदि इन सभी का सारतत्व लें तो पायेंगे कि पहली नज़र में दीखने वाली अराजकता मात्र आभासिक है और इन सभी से वैदिक सभ्यता के छठी-पाँचवीं सहस्राब्दी में एक स्वविशिष्ट और सुस्पष्ट रूपाकार ग्रहण कर लेने की पुष्टि होती है।

उदाहरण के लिए, जिस व्यक्ति ने ऋग्वेद और वैदिक साहित्य के अन्य ग्रन्थों की रचना के लिए अल्पतम काल-सीमा रखी थी उसने भी इस बात को स्वीकार किया था कि इस काल को कितना पीछे ले जाया जा सकता है इस विषय में कुछ भी निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता। इस लेखक ने रचनाओं के पूर्वापर क्रम को ध्यान में रखते हुए जिस तरह की अटकलबाज़ी की थी उसी के आधार पर दूसरे लेखक उससे लगभग दूने पीछे चले गये थे और उनके मन में भी आशंका यही रही लगती

है कि क्या इसे इससे पीछे ले जाना निरापद रहेगा? फिर भी उन्होंने निश्चित तिथि पर बल देने से बचने का सुझाव दिया था। दूसरे शब्दों में कहें, साहित्यिक सामग्री के आधार पर हम बिना किसी उलझन के हड़प्पा काल में पहुँच जाते हैं, और दोनों स्रोतों—साहित्य और पुरातत्व—के आधार पर हम पाते हैं कि ऋग्वेद के नये मण्डलों का ही सम्बन्ध परिपक्व हड़प्पा से बैठता है।

इससे पीछे लौटने पर हम सारस्वत क्षेत्र में और चौथी सहस्राब्दी के उत्तरार्ध और तीसरी के पूर्वार्ध में पहुँचते हैं। पर ऋग्वेद के प्राचीन अंश भी हमें एक लम्बी रचना-यात्रा का आभास देते हैं जिसका दौर नये मण्डलों से कुछ अधिक लम्बा रहा लगता है। केवल इस बात को देख कर कि पुराने माने जाने वाले अंश नये मण्डलों की तुलना में कम हैं, यह सोच लेना उचित नहीं कि इनका रचना-काल भी इसी के अनुरूप कम होगा। पहली बात तो यह है कि नये माने जाने वाले मण्डलों के भी बहुत-से सूक्त, जैसा कि ब्लूमफ़ील्ड ने सुझाया है, काफ़ी पुराने हैं और इन्हें पुराने मण्डलों के साथ रखा जा सकता है। दूसरे, ब्लूमफ़ील्ड के ही अनुसार उपलब्ध सूक्त, भले ही वे पुराने मण्डलों के ही क्यों न हों, उस प्राथमिक अवस्था को प्रकट नहीं करते जब वैदिक ऋचाओं की रचना आरम्भ हुई थी। कारण, इनमें भी भाषा और शैली का एक ऐसा कसाव और परिमार्जन दिखायी देता है जो एक लम्बे अभ्यास के बाद ही हासिल हुआ हो सकता है। ब्लूमफ़ील्ड के ही शब्दों में, "ऋग्वेद, सच कहें तो, अपने किस्म की रचनाओं की अन्तिम अभिव्यक्ति है, जो हर कदम पर पूर्ववर्ती क्रियाशीलता के एक लम्बे दौर का पूर्वाभास देता है। परिणामस्वरूप अपेक्षाकृत बाद की रचना होने के लक्षणों को बता पाना अकसर काफ़ी आसान होता है, पर आज तक मुझे पूरी संहिता में एक भी सूक्त ऐसा नहीं मिल पाया है जिसमें प्राथमिक काल से, अर्थात उस काल से जब इस तरह के सूक्तों की सर्वप्रथम रचना हुई थी, चलते आने के स्पष्ट लक्षण दिखायी दें।"[88]

दूसरे शब्दों में कहें तो, पाठालोचन का निष्कर्ष यह है कि उस प्राथमिक अवस्था की रचनाएँ लुप्त हो चुकी हैं। ठीक यही बात भारतीय परम्परा बार-बार दुहराती आयी है, जिसके अनुसार वैदिक साहित्य का काफी बड़ा अंश—और जो उक्त व्याख्या के अनुसार प्राचीनतम अंश भी है—नष्ट हो चुका है। यह तथ्य ही ऋग्वैदिक रचना-काल को ऋग्वेद के उपलब्ध अंशों के रचना-काल से भी बहुत पीछे एक ऐसे अतीत में पहुँचा देता है जिसकी अन्तिम सीमा के विषय में निश्चित रूप से कुछ भी कहना ख़तरा मोल लेना होगा।

यहाँ पहुँच कर हम ज्योतिष के आधार पर दो विद्वानों द्वारा लगभग एक ही समय में और एक-दूसरे से स्वतन्त्र रूप में ऋग्वेद तथा कतिपय अन्य रचनाओं के लिए नियत काल को लेते हैं तो पाते हैं कि रचनाओं की पूर्ववर्तिता को ध्यान में रखते हुए किये गये, या किये जा सकने वाले, अनुमान और ज्योतिष के आधार पर

की गयी गणनाओं के बीच विरोध नहीं अपितु एक अद्भुत सादृश्य है और मेहरगढ़, जिसका प्रासंगिक उल्लेख हम पीछे कर आये हैं, पुरातात्विक दृष्टि से भी इस क्रियाशीलता के केन्द्र में किंचित उन्नत विकासों के इतने पुरातन काल में घटित होने की सम्भावना को एक मुहर सी लगाता प्रतीत होता है। ऋग्वेद के आन्तरिक साक्ष्यों से भी हम इसी अनुमान पर पहुँचते हैं। उदाहरण के लिए पुराने मण्डलों के रचना-काल में सरस्वती एक महत्वपूर्ण नदी थी जिसकी जल-सम्पदा सिन्धु से कम नहीं रही लगती। इस नदी के यौवन काल में इसकी उपत्यका में सभ्यता के नागर चरण तक पहुँचने तथा व्यापारिक हलचलों के बढ़ने तक एक बहुत लम्बा समय लगना चाहिए। फिर, इस तरह की विशाल नदी को जिन भी प्राकृतिक विपर्ययों का सामना करना पड़ा हो, इतना तो निश्चित है कि व्यापारिक गतिविधियों के लिए इसके अनुपयोगी होने में बहुत लम्बा समय लगा होगा। इन पहलुओं को ध्यान में रखें तो ज्योतिष के आधार पर नियत किया गया समय दूराऱूढ़ नहीं लगेगा।

परन्तु ज्योतिष के आधार पर निकाला गया समय स्वयं भी एक विकसित चरण की सूचना देता है, जब कम-से-कम इतना विकास तो हो ही चुका था कि ऋतुओं और नक्षत्रों के भेद को समझना ही नहीं, अपितु इनका नामकरण आदि करना और अन्य तथ्यों और कृत्यों को इनसे जोड़ना आरम्भ हो चुका था। यही नहीं, इस काल में अपने जातीय अनुभवों और व्यक्तिगत मनोभावों को हस्तान्तरणीय रूप में—चाहे वह कथाओं के रूप में रहा हो या गेय गाथाओं के रूप में—सँजोने और परिरक्षित करने का क्रम आरम्भ हो चुका था।

इस तरह हम ऋग्वेद रचना-काल को कम-से-कम 4500 ई. पू. से 2000 ई. पू. में रखना चाहें तो इसमें कोई बाधा नहीं दिखायी देती, पर अपने वर्तमान रूप में उपलब्ध ऋग्वेद की रचना को 3500 ई. पू. से पीछे ले जाना उचित नहीं होगा। केवल इस आधार पर ही कि परम्परा यह दुहराती आयी है कि वेदों का बड़ा अंश नष्ट हो गया और पाठालोचन से भी इसकी पुष्टि होती है, हम इस विषय में पूरी तरह आश्वस्त नहीं हो सकते कि यह अंश वर्तमान रूप में उपलब्ध सूक्तों की तरह रचा गया रहा होगा। भाषा और शिल्प आदि की प्रौढ़ता अन्य प्रकार की रचनाओं से भी आ सकती है, और पूर्ववती ज्ञान-सम्पदा जिस भी रूप में रही हो इसे वेद कहा जा सकता था। हाँ, स्वयं ऋग्वेद से इस बात का आभास मिलता है कि जिन कवियों की रचनाएँ ऋग्वेद में प्राप्त हैं उन्होंने केवल वे रचनाएँ और केवल इसी तरह की रचनाएँ नहीं की होंगी और इस दौर का भी पूरा साहित्य हमें उपलब्ध नहीं है। इसके अतिरिक्त, इनमें प्राचीन सूक्तों में भी प्राचीनतर ऋषियों की रचनाओं या स्तुतियों के जिक्र आते हैं और यही इस बात की पुष्टि करता है कि उपलब्ध सूक्तों के ढंग के भी बहुत-से सूक्त उस काल में रचे गये रहे होंगे। दूसरे

शब्दों में कहें तो, ज्योतिष की गणना के आधार पर निकाली गयी तिथियों का सम्बन्ध उन प्राचीनतर अंशों के अवशेष पर निर्भर करते हुए रची गयी कृतियों में आये विवरणों से हो सकता है।

यही बात अनेक ऐसी दूसरी बातों के सम्बन्ध में कही जा सकती है जिनका प्रतिबिम्बन ऋग्वेद में ही नहीं, अपितु बाद की रचनाओं में भी हुआ है। इन पर कुछ रुक कर विचार कर लेना जरूरी है।

ऋग्वेद की रचना आरम्भ होने से पहले से—कहें ऋग्वेद के उपलब्ध रूप से पहले के उस वैदिक साहित्य की रचना आरम्भ होने से पहले से जो अब लुप्त हो चुका है—एक श्रुत परम्परा चली आ रही थी जिसकी छाया ऋग्वेद संहिता में भी मिलती है। इसको आधार बना कर ही अधिकांश सूक्तों की रचना हुई थी। जिन दिनों ऋग्वेद की रचना हो रही थी उन दिनों भी इन परम्पराओं का प्रचलन था और ये आगे की सहस्राब्दियों में भी समानान्तर चलती रहीं। इन परम्पराओं का गहरा ज्ञान या इनका श्रवण करके अपने को प्रबुद्ध बनाना उन कालों की एक बहुत बड़ी शर्त थी। यही कारण है कि ऋग्वेद में भी श्रुत और बहुश्रुत व्यक्तियों के महत्व का प्रायः आभास मिलता है, और यदा-कदा व्यक्ति-नामों में—यथा श्रुतर्य—यह पूर्वपद के रूप में जुड़ जाता है।

जैसा कि श्रुत परम्पराओं और गाथाओं के लिए स्वाभाविक है, इनके प्रचलन काल में इनमें अधिकाधिक विकृतियाँ आती गयी होंगी। इसके बावजूद इनमें प्राचीन सामाजिक अनुभवों का सार जहाँ-तहाँ सुरक्षित रह गया था। इन श्रुतियों का जब तक वैदिक कर्मकाण्डीय विधानों और आडम्बरपूर्ण कृत्यों का औचित्य ठहराने के लिए उपयोग किया गया है और इसलिए ब्राह्मणों में और प्राचीन परम्पराओं को दुहराने वाली अन्य कृतियों, जैसे पुराणों और महाकाव्यों, में हमें उनके रचना-काल से हजारों वर्ष पूर्व की घटनाओं के विरूपित, पर सारबद्ध, संकेत मिल जाते हैं। इन घटनाओं को केवल इस आधार पर कि ये ऋग्वेद से बाद की कृतियों में आयी हैं, ऋग्वेद के रचना-काल से बाद का मान लेना उतना ही ग़लत होगा जितना स्वयं ऋग्वेद में वर्णित सभी घटनाओं को इसके रचनाकाल की घटनाएँ मान लेना। ब्राह्मणों और पुराणों में ऐसे बहुत-से विवरण आये हैं जो ऋग्वेद में आये प्राचीनतम विवरणों से भी अधिक पुराने हैं और भारत के सामाजिक और आर्थिक विकास को समझने के लिए उनका बहुत महत्व है। ध्यान केवल इस बात पर दिया जाना चाहिए कि परवर्ती रचनाओं में उपलब्ध ये विवरण विकास के किस चरण से सम्बन्ध रखते हैं और यह चरण इनके रचना-काल को प्रकट करता है या ऋग्वैदिक काल को या उससे और उसमें वर्णित घटनाओं से भी पहले के चरणों को। अगले तीन अध्यायों में हम इस दृष्टि से ही वैदिक या, कहें, हड़प्पा

सभ्यता की पृष्ठभूमि को समझने का प्रयत्न करेंगे और देखेंगे कि इनसे उभरने वाले क्षीण संकेतों से इस विकास की क्या तसवीर उभरती है।

सन्दर्भ व टिप्पणियाँ

1. उदाहरण के लिए, अमलनेरकर ऋग्वेद का काल 66,000 वर्ष पूर्व, अविनाशचन्द्र दास 75,000 वर्ष और लौटूसिंह गौतम 4,32,000 पूर्व मानते रहे हैं। प्राचीनतर परम्परा तो इसे सृष्टि के आदि से अस्तित्व में मानती रही है।
2. विंटरनित्ज़, हिस्ट्री ऑफ़ दि इंडियन लिटरेचर, 1, 1927, 290.
3. मैक्समूलर, हिस्ट्री ऑफ़ संस्कृत लिटरेचर, 1859, 244 और आगे। ऋग्वेद संहिता, 1892, भूमिका, पृष्ठ 9 में मैक्समूलर ने स्वीकार किया था कि उनके द्वारा ब्राह्मण, मन्त्र और छान्दस् काल के विकास, परिपक्वता और ह्रास के लिए जो औसत कालावधि सुझायी गयी थी वह दूसरे राष्ट्रों के बौद्धिक इतिहास में इसी तरह के दौरों के लिए नियत औसत कालावधि से कम है।
4. मैक्समूलर ने दि साइंस ऑफ़ लैंग्वेज, 1891, 185 में डग्लस स्टीवर्ट आदि यूरोपीय विद्वानों का उल्लेख किया है जो अन्यथा सुपठित और प्रबुद्ध होने के बावजूद संस्कृत भाषा और साहित्य से अपरिचित होने के कारण इस विषय में तरह-तरह की हास्यास्पद अटकलें लगा रहे थे।
5. देखें, सैक्रेड बुक्स ऑफ़ ईस्ट, सीरीज़ 32, वैदिक हीम्ज़, हिरण्यगर्भ सूक्त पर मैक्समूलर की टिप्पणी-3, जिसमें वह इस विषय में ज़ोरदार तर्क देते हैं कि ऋग्वेद के नवीनतम सूक्तों को भी 1000 ई. पू. से किसी भी तरह बाद का नहीं ठहराया जा सकता।
6. मैक्समूलर, कलेक्टिड वर्क्स, 1890, 2,19.
7. कीथ, 'दि एज ऑफ़ दि ऋग्वेद' कैंब्रिज हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया, 1921, 1962 भारतीय संस्करण, 1, 78; गाइल्स, 'दि इंडोयूरोपियन्स' इंसाइक्लो. ब्रि., 1959, 12, 262, आदि।
8. घोष, 'दि आर्यन प्राब्लम', दि वैदिक एज, 1965, 207.
9. मैकडनेल, ए हिस्ट्री ऑफ़ संस्कृत लिटरेचर, 1928, 12.
10. हर्त्सफ़ील्ड, ज़ोरास्टर ऐंड हिज़ वर्ल्ड, 1947,1, 256.
11. वही, 316-17.

12. कः ददर्श प्रथमं जायमानं अस्थन्वन्तं यत् अनस्था बिभर्ति । भूम्या : असुर असृक् आत्मा क्व स्वित् कः विद्वांसं उपगात् प्रष्टुं एतत् ॥ ऋ. 1.164.4. युवं ह गर्भं जगतीषु धत्थः युवं विश्वेषु भुवनेषु अन्तः । युवं अग्निं च वृषणौ अपः च वनस्पतीन् अश्विनौ एरयेथाम् ॥ ऋ. 1.157.5. किं स्वित् वनं क ऊँ सः वृक्षः आस यतः द्यावापृथिवी निःततक्षुः । संतस्थाने अजरे इत ऊती अहानि पूर्वीः उषसः जरन्त ॥ ऋ. 10.31.7. उसं हि राजा वरुणः चकार सूर्याय पन्थां अनु-एतवै ऊँ । ऋ. 1.24.8. जानती अह्नः प्रथमस्य नाम शुक्रा कृष्णात् अजनिष्ट श्वितीची । ऋ. 1.123.9.

13. मैक्समूलर, सैबुईसी., 32, 3-6 टिप्पणी ।

14. ऋ. 4.17.15 के अनुसार कुछ विशेष स्थितियों में बाद के समय तक भी यजमान स्वयं पौरोहित्य करता था ।

15. शतब्रा. 12.6.1.41.

16. देखें, सैबुईसी, 46, ऋ. 1.13.8 में आये 'होता' शब्द पर औल्डेनबर्ग की टिप्पणी ।

17. ऋ. 10.71.11.

18. मानव श्रौतसूत्र, 2.1.1.4.

19. अवेस्ता, सं. कांगा व सोनटक्के, 1962, भूमिका, 19-20.

20. मैक्समूलर, चिप्स फ्रॉम ए जर्मन वर्कशाप, 1867, 80.

21. वही, 85.

22. वही, 85-86.

23. सैबुईसी, 31, 36-37.

24. वही, 37.

25. महामहोपाध्याय पं. गिरधर शर्मा चतुर्वेदी, वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति, शकाब्द 1881, 190.

26. प्र सु स्तोमं भरत वाजयन्तः इन्द्राय सत्यं यदि सत्यं अस्ति । न इन्द्रः अस्ति इति नेमः ऊँ त्वः आह कः ईं ददर्श कं अभि स्तवाम ॥ ऋ. 8.100.3.

27. ऋ. 1.165.3.

28. उपनिषदों में—मुण्डक, 1.1.5; 3.2.3; कठ, 1.2.23; बृहदारण्यक, 1.5. 25; छान्दोग्य, 5.11.24; तैत्तिरीय, 2.5, आदि—इसकी मुखर अभिव्यक्ति हुई है ।

29. जतीन्द्र मोहन चटर्जी, अथर्वणः ज़रथुस्त्रस्य गाथा, 1932, भूमिका ।

30. वही, दि हीम्ज़ ऑफ़ रामचन्द्र ऐंड दि हीम्ज़ ऑफ़ ज़रथुस्त्र ऑर दि क्रीम ऑफ़ दि अथर्ववेद, 1937.

31. हर्त्सफ़ील्ड, पूर्व., 1, 370.

32. बूलर, नोट्स ऑन प्रोफ़ेसर याकोबीज़ एज ऑफ़ दि वेद ऐंड ऑन प्रोफ़ेसर तिलक्स ओरियन, 1894, पुनर्मुद्रित, ऋतम्भरा, सं., के. सी. वर्मा, 1986, 106-115.
33. विंटरनित्ज़, पूर्व., 295-97.
34. हर्मन याकोबी, ऑन दि डेट ऑफ़ दि ऋग्वेद, अनु. जे. मैरिसन, इंडियन इन्क्वायरी, 23, 1894, 154-59, पुनर्मुद्रित ऋतम्भरा, खण्ड 2, 91-97; देखें संपा. की टिप्पणी 3 और विंटरनित्ज़, पूर्व., 1, 296 भी।
35. ऋ. 1.25.8.
36. कामेश्वर ऐयर, 'एज ऑफ़ दि ब्राह्मणज़', जर्नल ऑफ़ दि मिथिक सोसायटी, 11, 1922-22, 171-93, 223-46, 357-66.
37. शंकर बालकृष्ण दीक्षित, भारतीय ज्योतिष, अनु. शिवनाथ झारखण्डी, 1957.
38. गोरख प्रसाद, भारतीय ज्योतिष का इतिहास, 1956,
39. पी. सी. सेनगुप्त, ऐंशेन्ट इंडियन क्रोनॉलॉजी, 1947.
40. एन. एन. ला, एज ऑफ़ दि ऋग्वेद, 1965.
41. विंटरनित्ज़, पूर्व., 304.
42. वही।
43. वही।
44. ब्लाख़, इंडोआर्यन, 1965, 11-12.
45. कोसम्बी, दि कल्चर ऐंड सिविलाइज़ेशन ऑफ़ ऐंशेन्ट इंडिया, 1965, 77, लिखते हैं, "भारत में प्रवेश करने वालों में से कुछ या तो पराजित होने के कारण या इस नये भूभाग की स्थितियों से असन्तुष्ट होने के कारण वापस लौट गये। यह दूसरी सहस्राब्दी के उत्तरार्ध की हित्ती सीलों पर अंकित विशिष्ट भारतीय ककुद्मान वृषभ के अंकनों से प्रकट होता है। ...खत्ती शब्द जिसका अर्थ हित्ती है, संभवतः सं. क्षत्रिय, पालि खत्तिओ से सम्बन्ध रखता है।"
46. जे. हॉक्स, हिस्ट्री ऑफ़ मैनकाइंड : कल्चरल ऐंड साइंटिफ़िक डवलपमेंट, 1963, 1, 405-6; देखें पृ. 407 पर वूली के विचार भी।
47. मारिजा जिंबुतास, प्रोटो इंडोयूरोपियन कल्चर : दि कुर्गन कल्चर ड्यूरिंग फिफ्थ, फोर्थ ऐंड थर्ड मिलीनिया बी. सी., इंडोयूरोपियन ऐंड इंडोयूरोपियन्स, सं. जार्ज कैंडोना आदि, 1970, 114-55.
48. मारिस ब्लूमफ़ील्ड, ऋग्वेद रिपिटीशन्स, 1916.
49. सिन्धुः ह वां रसया सिंचत् अश्वान् घृणा वयः अरुषासः परिग्मन्।
तत् ऊँ सु वां अजिरं चेति यानं येन पती भवथः सूर्यायाः॥ ऋ. 4.43.6.

यहाँ 'अश्वान्' को सायण सिन्धु का विशेषण मानते हैं और 'अश्वान् सिन्धुः' का अर्थ 'स्यन्दमानो मेघ उदकं वा' करते हैं। 'रसया' का भी अर्थ 'रसेन' करते हैं।

50. मा वः रसा अनितभा कुभा क्रुमुः मा वः सिन्धुः नि रीरमत्। मा वः परि स्थात् सरयुः पुरीषिणी अस्मे इत् सुम्नं अस्तु वः॥ ऋ. 5.53.9 इसमें सायण यास्क के साक्ष्य पर रसा को सामान्य नदी के अर्थ में लेते हैं, 'नदी नाम एतत्। रसा नदी भवति।' निठ. 11.25. अनितभा को आभाहीन के अर्थ में ग्रहण करते हैं, 'इता प्राप्ता भा यस्या सा इतभा। न तादृश्यनितभा।' कुभा का अर्थ वह 'कुत्सितदीप्ति' करते हैं। क्रुमु को 'सर्वत्र क्रमणः' तथा सिन्धु को समुद्र 'सिन्धुः समुद्र' मानते हैं।

51. इंयं शुष्मेभिः बिषखा इव अरुजत् सानु गिरीणां तविषेभिः ऊर्मिभिः। ऋ. 6.61.2.

52. ऋ. 1.3.10; 2.41.18; 6.61.3; 4; 7.75.5. आदि में सरस्वती के लिए 'वाजिनीवती' विशेषण का प्रयोग हुआ है, जिसे वाज या वाजि का अर्थ धन या वेग में से कुछ भी करते हुए, कोई एक अर्थ लिया जा सकता है।

53. 'उप ब्रूते धने हिते' ऋ. 6.61.5; इयं अदात् रभसं ऋणच्युतम्' ऋ. 6.61.1, आदि। र और ल के अभेद को और ऋणच्युतं पद को ध्यान में रखते हुए रभस् का अर्थ लाभ होगा।

54. 'रद पूषा इव नः सनिम्', ऋ. 6.61.6.

55. 'घोरा हिरण्यवर्तनिः वृत्रघ्नी', ऋ. 6.61.7.

56. 'यस्याः अनंतः अह्रुतः त्वेषः चरिष्णुः अर्णवः। अमःचरति रोरुवत्॥ ऋ. 6.61.8.

57. आपप्रुषी पार्थिवानि उरु रजः अन्तरिक्षम्।' ऋ. 6.61.11

58. प्र या महिम्ना महिना आसु चेकिते द्युम्नेभिः अन्याः अपसां अपस्तमा। ऋ. 6.61.13.

59. 'त्रि सधस्था सप्तधातुः पंचजाता', ऋ. 6.61.12.

60. उत नः प्रिया प्रियासु सप्त स्वसा सजुष्टा। ऋ. 6.61·10.

61. 'राया युजा चित् उत्तरा नदिभ्यः', ऋ. 7.95.4.

62. 'भद्रं इत् भद्रा कृणवत् सरस्वती', ऋ. 7.96.3.

63. 'अम्बितमे नदीतमे सरस्वती', ऋ. 2·41.16.

64. 'शुचिः यती गिरिभ्यः आसमुद्रात्', ऋ. 7.95.2.

65. 'रायः चेतन्ती भुवनस्य भूरेः घृतं पयं दुदुहे नाहुषाय', ऋ. 7.95.2.

66. ऋ. 1.3.10 व 12.

67. देखें, ब्लूमफ़ील्ड, 1916 (1981 सं.), 639-40. ब्लूमफ़ील्ड ने हॉप्किन्स, लुडविग, हर्थ, लैनमन, हिल्लेब्रांट आदि द्वारा नये और पुराने मण्डलों के काल-निर्धारण के लिए अपनायी गयी युक्तियों के प्रति सन्देह प्रकट किया है, देखें पृ. 636-39. और वैदिक साहित्य की अन्तर्वस्तु को लेकर किये गये उनके काम, वेदिक कंकॉर्डेंस व ऋग्वेद रिपिटीशन्स उन्हें इस बात के लिए दूसरों की अपेक्षा अधिक विश्वसनीय बनाते हैं।
68. 'उत स्या श्वेतयावरी वाहिष्ठा वां नदीनाम् । सिन्धुः हिरण्यवर्तनिः' ॥ ऋ. 8.26.18.
69. वही ।
70. 'प्र सृत्वरीणां अति सिन्धुः ओजसा', ऋ. 10.75.1.
71. 'अदब्धा सिन्धुः अपसां अपःतमा अश्वा न चित्रा वपुषी इव दर्शता' ऋ. 1).75.7.
72 'प्रसुवः आपः महिमानं उत्तमम्', ऋ. 10.75.1; 'महान् हि अस्य महिमा पनस्यते', ऋ. 10.75.9.
73. 'सु-अश्वा सिन्धुः सुरथा सुवासाः हिरण्ययी सुकृता वाजिनीवती । ऊर्णावती युवतिः शीलमावती उत अधि वस्ते सुभगा मधुवृधम्' ॥ ऋ. 10.75.8.
74. 'भूम्याः अधि प्रवता यासि सानुना', ऋ. 10.75.2.
75. 'प्र ते अरदत् वरुणः यातवे पथः सिन्धो यत् वाजान् अभि अद्रवः स्वम्, ऋ. 10.75.2.
76. 'सुखं रथं युयुजे सिन्धुः अश्विनं तेन वाजं सनिषत् अस्मिन् आजौ । ऋ. 10.75.9.
77. 'राजा इव युध्वा नयसि त्वं इत् सिचौ', ऋ. 10.75.4.
78. 'अभि त्वा सिन्धो शिशुं इत् न मातरः वाश्रा अर्षन्ति पयसा इव धेनवः', ऋ. 10.75.4
79. 'दिवि स्वनः यतते भूम्या उपरि अनन्तं शुष्मं उत् इयर्ति भानुना' ॥ ऋ. 10.75.3.
80. 'सिन्धुः यत् एति वृषभः न रोरुवत्', ऋ. 10.75.3.
81. 'इमं मे गंगेय मुने सरस्वतिशुतुद्रि स्तोमं सचत परुष्णि आ', ऋ. 10.75.5.
82. कार्बन-14 गणना के आधार पर हड़प्पा सभ्यता का काल-निर्धारण 2150-1700 ई. पू. किया गया था। (देखें, आल्चिन व आल्चिन, दि बर्थ ऑफ़ इंडियन सिविलाइज़ेशन, 1968, 139-44.) उक्त पुस्तक की समीक्षा करते हुए ह्वीलर(एंटिक्विटी, 43, 169, मार्च 1969, 72-73) सुझाते हैं कि हड़प्पा सभ्यता के काल को 2500 ई. पू. से भी एक-दो शताब्दी पीछे ले जाने की आवश्यकता हो सकती है, पर इसे इससे बाद में

नहीं लाया जा सकता। वह कार्बन-14 के काल-निर्धारण की सीमाओं का विस्तार से उल्लेख करते हैं। आज कार्बन-14 की काल-गणना को किंचित सन्देह के साथ देखा जाता है और परिशोधित तिथि को ही आधार बनाया जाता है जिसके अनुसार हड़प्पा सभ्यता का काल कम-से-कम तीन-चार शताब्दी पीछे चला जाता है।

83. हिल्लेब्रांट, वैदिक माइथॉलॉजी, I, 1980, 242 व 346; II, 1981, 210, सरस्वती नाम की दो नदियों की कल्पना करते हैं—एक पश्चिमी सरस्वती, जो आर्कोसिया की हरौती है और जिसका वर्णन छठें मण्डल में आया है और दूसरी मध्यदेश की सरस्वती जिसका वर्णन सातवें मण्डल में आया है। इतना ही नहीं, पश्चिमी या अफ़ग़ानिस्तानी सरस्वती की याद उनके अनुसार ब्राह्मणों में भी यत्र-तत्र बनी रह गयी हो सकती है। इस पर हमने अध्याय पाँच में कुछ विस्तार से विचार किया है।

84. रॉथ, वैदिक इंडेक्स, 2, 481 में उद्धृत।

85. मैकडनेल व कीथ, वैदिक इंडेक्स, 2, 484.

86. जैरिज, 'एक्सकैवेशन्स ऐट मेहरगढ़', हड़प्पा सिविलाइजेशन, संपा. पोसेल, 1982, 79-84; 'क्रोनॉलॉजी ऑफ़ अर्लियर पीरियड्स ऑफ़ ग्रेटर इंडस ऐज़ सीन फ्रॉम मेहरगढ़, पाकिस्तान', साउथ एशियन आर्कियॉलॉजी-1981, 1984, 21-28, आदि।

87. वही।

88. ब्लूमफ़ील्ड, पूर्व, 21.

अध्याय दो

सभ्यता की दिशा में प्रथम चरण

मनुष्य ने सभ्यता की दिशा में अपना पहला चरण उस विशेष विन्दु पर बढ़ाया जब आहार-संग्रह और आखेट पर अपनी एकान्त निर्भरता छोड़ कर उसने उन चीजों का नियन्त्रण और उत्पादन अपने हाथ में लिया जिनका वह इससे पहले संग्रह और आखेट करता आया था और जिनकी उपलब्धि और अनुपलब्धि के विषय में वह प्रकृति पर ही पूर्णतः आश्रित था। इस प्रस्थान-विन्दु को अधिकांश अध्येता कृषि-क्रान्ति की संज्ञा देते हैं और मानते हैं कि यह एक नीरव क्रान्ति थी। उत्पादन की दिशा में पहला चरण कृषि का ही था या नहीं, और कृषि-क्रान्ति स्वयं में नीरव क्रान्ति थी या एक विशेष अर्थ में रक्त-क्रान्ति थी, यह अपने आप में एक विचारणीय समस्या है। यह मान्यता पश्चिमी एशिया को ही कृषि-क्रान्ति का प्रवर्तक मानने और उसी के साक्ष्यों पर सभ्यता के प्रथम उत्स को समझने वाले विद्वानों की देन है। हमारे लिए इस बात पर विचार करना ज़रूरी है कि अपने वन्य जीवन को छोड़ कर भारतीय समाज किस तरह और किन अनुभवों को अर्जित करते हुए आगे बढ़ा। इसके लिए हम पहले से नियत खाके को यथावत स्वीकार करके कृषि-कर्म के आरम्भ पर विचार आरम्भ करें, यह उचित नहीं होगा। इसके विपरीत हमें जो दो प्रथम सम्भावित विकास दिखायी देते हैं उनको खुला छोड़ कर पहले हम यह निश्चित करेंगे कि इनमें से कौन पूर्ववर्ती है और फिर इनमें जो प्रथम चरण प्रतीत होता है उसके विकासों को समझने का प्रयत्न करेंगे। ये दोनों चरण हैं—पशुपालन और कृषि। पश्चिमी एशिया को केन्द्र में रख कर सभ्यता के विकास को समझने वालों ने पशुपालन को कृषि के बाद या इसके साथ-साथ विकसित माना है[1], परन्तु प्रथम दृष्टि में उक्त दोनों प्रस्ताव लँगड़े लगते हैं।

सबसे पहले हम पश्चिमी और भारतीय दोनों परम्पराओं में सभ्यता के इस

प्रथम चरण के विषय में जो सूचनाएँ मिलती हैं उन पर दृष्टि डालेंगे और फिर अन्य तथ्यों और सम्भावनाओं पर विचार करेंगे।

2

पश्चिमी एशिया की सृष्टि कथाएँ

बाइबिल की सृष्टि कथा के अनुसार जब परमात्मा ने धरती-आकाश, दिन-रात आदि बना लिये तो उसने सभी वनस्पतियाँ स्वर्ग में ही बनायीं, क्योंकि अभी तक धरती पर न तो उसने वर्षा की थी, न ही जोताई-बोआई के लिए मनुष्य को ही बनाया था। फिर एक धुन्ध उठी और उसने **धरती** को आच्छादित कर लिया। फिर परमात्मा ने **धरती की धूल से** मनुष्य को गढ़ा और इसकी नासिका में प्राण-वायु फूँक कर उसे सजीव बना दिया। और परमात्मा ने **पूरब की ओर ईडन के उद्यान में** उस मनुष्य को रख दिया और धरती से विविध प्रकार की मनोरम वनस्पतियाँ उगायीं जो खाने में भी स्वादिष्ट थीं। इस उद्यान के बीच में 'जीवन-वृक्ष' या अमरता का वृक्ष तथा विवेकवृक्ष उगाया। इस उद्यान को सींचने के लिए उसने एक नदी बनायी जो आगे चल कर चार शाखाओं में बँट जाती थी। परमात्मा ने ईडन के इस उद्यान की देख-भाल का काम उस आदि-मानव के ऊपर छोड़ा जिसका नाम आदम था। उसने हिदायत दी कि वह जीवन-वृक्ष और विवेक-वृक्ष को छोड़ कर किसी भी वृक्ष का फल खा सकता है, पर यदि उसने इनमें से किसी का फल चखा तो वह मर जायेगा। आदम को अकेला देख कर उसकी संगिनी के रूप में उसने आदम की पसली से ईव को बनाया। वे दोनों विवेकशून्य होने के कारण नग्नावस्था में रहते हुए भी शर्म अनुभव नहीं करते थे और प्रसन्न थे। इसी बीच साँप ने ईव को उकसाया कि वह विवेक-वृक्ष के फल को चखे। उसने उसे भरोसा दिया कि इसके खाने से वह मरेगी नहीं, 'परमात्मा ने उस वृक्ष का फल खाने से इसलिए वर्जित कर रखा है कि इसे खाते ही तुम्हारी आँखें खुल जायेंगी और तुम्हें अच्छे-बुरे का ज्ञान हो जायेगा।' ईव ने उस फल को सुन्दर, स्वादिष्ट और ज्ञानवर्धक पाकर खुद खाया और आदम को भी खाने को दिया। इस फल को चखते ही उनकी आँखें खुल गयीं और अपनी नग्नता पर उन्हें शर्म आने लगी, और इस शर्म का पता जब परमात्मा को चला तो उसे समझते देर न लगी कि इन दोनों ने विवेक का फल चख लिया है। ग़नीमत यही थी कि अभी इन्होंने अमरता का फल नहीं चखा था, अन्यथा आदमी और ईश्वर में फ़र्क़ ही नहीं रह जाता और सारा मामला ही गड़बड़ हो जाता। और प्रभु ने कहा, "देखो, **मनुष्य हम लोगों की तरह** अच्छे और बुरे का ज्ञान पा गया और हम अमरता के

फल को इसके हाथ न आने दें कि कहीं यह अमर न हो जाये।" और फिर उसने आदम को ईडन के उद्यान से बाहर निकाल दिया और अमरता के वृक्ष से उसे दूर रखने के लिए उसने ईडन के पूर्व की ओर एक लहकती हुई तलवार तैयार कर दी कि किसी तरह कोई इस अमरता के वृक्ष तक न पहुँच सके। इसी आदम की दो सन्तानें हुईं—ऐबल और कैन। इनमें पहला चरवाहा था और दूसरा किसान। प्रभु को पहला अधिक प्यारा था, इसलिए कैन ने ईर्ष्यावश उसे मार डाला···।[2]

इस रूपकीय कथा के कुछ ब्यौरों को हमने विस्तार-भय से छोड़ दिया है, पर चारों नदियों को पश्चिमी एशिया से ही जोड़ा गया है।[3]

बाइबिल की उक्त कथा उसी हिब्रू या पश्चिमी एशियाई परम्परा से ली गयी है जिससे इस्लाम की आदम और हौवा की कथा। ऐसी स्थिति में इस कथा के भी एक पक्ष को सामने रखना ज़रूरी है। ऐसा लगता है कि पश्चिमी एशिया में इस सृष्टि कथा के अनेक रूपान्तर प्रचलित रहे हैं। कारण, इस्लामी परम्परा के अनुसार आदम को जन्नत से किसी वृक्ष का फल खाने के कारण नहीं, अपितु स्पष्टतः गन्दुम या गेहूँ खाने के अपराध में निकाला गया था।

ये कथाएँ आहार-अन्वेषण की अवस्था से मनुष्य के कृषिकर्मी बनने की यात्रा को मूर्त रूप में पेश करती हैं। वन्य आहार-संचयी मनुष्य विवेकहीन था। नंगा रहता था और प्रकृति से उपलब्ध फल-मूल से ही प्रसन्न था। कृषि को अपनाने के साथ उसने एक कठिन और साहस-भरी यात्रा आरम्भ की, जिसने मनुष्य को सचमुच ईश्वर जैसा बना दिया। वह स्वयं स्रष्टा और अपना भाग्य-विधाता भी बन बैठा। बेशक, धर्म आरम्भ से ही उसके विवेक का, उसकी इस स्रष्टा और नियन्ता होने की चेष्टा का विरोधी रहा है और उसे उस आदिम स्वर्ग के सजीले चित्र दिखाता रहा है।

इस कथा के रोचक पहलुओं में से एक है उस उद्यान का नाम 'ईदन' या 'ईडन', जो इन्द/इन्ड या सिन्ध/हिन्द की याद दिलाता है। दूसरी है इस उद्यान की स्थिति जो पूर्व की ओर बतायी गयी है। धरती को आरम्भ में जलरहित बताने के पीछे रेगिस्तानी अंचल की छाया देखी जा सकती है। वनस्पतियों की सृष्टि नदी की बाढ़ से नहीं अपितु वृष्टि से बतायी गयी है, और ईडन के उद्यान में दुनिया के विविध प्रकार के वृक्ष और वनस्पतियों को उगा दिखाया गया है। साथ ही अमरता के वृक्ष के साथ कल्पवृक्ष की अवधारणा काम करती दिखायी देती है। आदम का नामकरण 'आदि'—(मनु) और ईव का नामकरण इडा या इला से किंचित् मेल खाता दिखाई देता है—इसके अतिरिक्त ईश्वर का यह कहना कि विवेक के वृक्ष का फल खाकर मनुष्य 'हम लोगों जैसा' बन गया है, एकेश्वरवाद की अपेक्षा बहुदेववादी परम्परा की देन प्रतीत होता है। मैक्समूलर ने अन्य सन्दर्भों में यह दिखाया है कि कैसे बाइबिल की अनेक कथाओं का प्रेरणास्रोत भारत रहा है।[4]

जो कुछ बाइबिल में किंचित अस्पष्ट है वह हदीस आदि के स्रोतों से अधिक स्पष्ट होता दिखायी देता है। इस्लामी परम्परा के प्रख्यात विद्वान सैयद सुलेमान नदवी लिखते हैं, "हदीसों और कुरान की टीकाओं आदि में जहाँ हज़रत आदम की कथा है, वहाँ—भिन्न-भिन्न प्रवादों के आधार पर यह उल्लेख मिलता है कि जब हज़रत आदम आकाश की जन्नत से निकाले गये तब वे इस धरती की जन्नत या स्वर्ग में जिसका नाम 'हिन्दोस्तान जन्नत निशाँ' या स्वर्गतुल्य भारत है, उतारे गये।"[5]

प्रकारान्तर से कहें तो आदम और ईव की, या मनु प्रजापति की, कथा का सम्बन्ध मानव सृष्टि से न होकर, उस विशेष संक्रमण से है जिसे कृषि-क्रान्ति कहा जाता है। यदि इस नयी मानवीय सूझ की इतनी प्रखर प्रतिक्रिया हुई थी कि इसे लेकर परमात्मा तक के प्रकोप की याद दिलायी जाये तो निश्चय ही यह इस धरती पर ही जीवन निर्वाह की दो भिन्न प्रणालियों के बीच तीखे टकराव का भी सूचक है, जिसमें प्राचीन जीवन-पद्धति से जुड़े लोगों को कृषि की ओर कदम बढ़ाना घोर पातक प्रतीत हुआ होगा। इसे शैतान या साँप का बहकावा मानना उस प्राथमिक आक्रोश को व्यक्त करता है जो आहार-संचयी कबीलों के मन में इन क्रान्तिकारियों के प्रति अनुभव हुआ होगा। क्या आदम का उस स्वर्गीय उद्यान से निष्कासित किया जाना भी इस बात का संकेत नहीं देता कि इस द्वन्द्व में कृषि की ओर अग्रसर होने वाले लोगों को प्राचीन जीवन-पद्धति से नाभि-नाल-बद्ध लोगों के प्रखर विरोध के कारण, या सम्भव है सीधे संघर्ष के कारण, उस क्षेत्र को छोड़ने को बाध्य होना पड़ा था, जहाँ पहले वे अपने इन बन्धुओं के साथ पूरे सौहार्द के साथ रहते और निर्विघ्न विचरते थे और उनका यह पलायन पूर्व के किसी असाधारण प्राकृतिक—वानस्पतिक—सम्पदा वाले क्षेत्र से पश्चिम की ओर हुआ था ?

भारतीय परम्परा

ऊपर पश्चिमी स्रोतों से प्राप्त की गयी जिन सूचनाओं से हम वस्तु-स्थिति का एक धुँधला-सा चित्र पाते हैं, उसे भारतीय परम्परा अधिक मुखर रूप में और तार्किक विस्तार से प्रस्तुत करती है।

वायु पुराण के अनुसार कृत युग में मनुष्य आहार-अन्वेषण की अवस्था में रहता था। उसका जीवन विविध अभावों से ग्रस्त था। वह नंगा रहता था और यायावरी अवस्था में था। सामाजिक संस्थाओं और नियमों-विधानों की सृष्टि नहीं हुई थी :

"उस कृत युग में वे मानव नदी, सरोवर, समुद्र और पर्वतों के समीप रहते

थे।...इच्छानुसार इधर-उधर घूमते थे। पृथिवी से उत्पन्न वनस्पतियाँ और फल-फूल खाते थे। धर्म-अधर्म का विचार नहीं था। सामाजिक भेद-भाव नहीं था। वे आयु, रूप और सुखानुभूति में समान थे।...यद्यपि लोग हज़ारों की संख्या में थे, पर उनमें किसी प्रकार का संघर्ष, प्रतिद्वन्द्विता और क्रम का प्रश्न नहीं था। उनका कोई घर नहीं था। वे एकान्त, सुखी, शोकरहित और सतोगुणी थे। फल, फूल और कन्द का अभाव था। वे स्नान आदि नहीं करते थे।...शुभ-अशुभ का विचार नहीं था। वर्णाश्रम व्यवस्था नहीं थी, न ही संकर-दोष था।...उनमें लाभ-अलाभ, मित्र-अमित्र, प्रिय-अप्रिय के व्यवहार नहीं थे। वे निरीह थे और मन की स्वाभाविक प्रेरणा से विषयों में प्रवृत्त होते थे।..."[6]

वायु पुराण का उक्त विवरण उस नन्दन कानन या स्वर्गीय ईडन का जिसमें आदम और ईव या आदिम मनुष्य सुखपूर्वक रहता था, अधिक सही चित्र प्रस्तुत करता है। पशु-सुलभ नीति-नियम-बन्धन-हीन जीवन और पशु-सुलभ आनन्द। समस्त अभावों के बावजूद इससे किसी उच्चतर विकल्प के अभाव में और सामाजिक विषमता के अभाव में मनुष्य अधिक प्रसन्न था और आगे के विकासों से उत्पन्न विषमताओं के कारण पैदा हुई पीड़ाओं को ध्यान में रखते हुए इस कृत युग के लौटने के स्वप्न देखता रहा। यदि यह उसे स्वर्गोपम प्रतीत होता रहा तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं।

अन्यत्र भी इस जीवन की झलक बार-बार देखने में आती है।[7] उदाहरण के लिए, शतपथ ब्राह्मण की एक कथा के अनुसार प्राचीन काल में कभी मनुष्य वस्त्र-हीन रहता था। उसके शरीर पर जो चमड़ी थी वह मोटी थी और वह इसके कारण धूप, शीत, ताप और वर्षा से प्रभावित नहीं होता था। फिर देवताओं ने उसकी चमड़ी गाय को दे दी ताकि वह मौसम के इन प्रभावों से बच सके, क्योंकि गाय ही मनुष्य का पोषण करती है। इसके बाद मनुष्य की चमड़ी पतली हो गयी और ज़रा-सी खरोंच लगने पर ही उससे खून निकलने लगता है। आदमी ने चमड़ी की इस कमी को दूर करने के लिए ही वस्त्र पहनना आरम्भ किया। वस्त्र मनुष्य की दूसरी चमड़ी है। नंगे आदमी को देखकर गाय उससे डरती है कि कहीं वह अपनी चमड़ी न माँग ले।[8]

बाइबिल की कथा में तो वर्जित फल को खाने के लिए साँप ने प्रेरित किया था, पर भारतीय विवरण के अनुसार उत्पादन की यह नयी युक्ति देवताओं को सूझी थी। कृषि के प्रति इन दोनों परम्पराओं के दृष्टिकोण का अन्तर काफ़ी महत्वपूर्ण है। ब्राह्मणों में इस बात को बार-बार दुहराया गया है कि देवता और असुर दोनों प्रजापति की सन्तानें थीं।[9] दोनों एक-दूसरे के भाई थे। इन दोनों में असुरों को बड़ा भाई और देवों को छोटा भाई बताया गया है। असुर बलवान हैं और देव कमजोर।[10] विकास के क्रम में नये विकास को अपनाने वालों को नया या छोटा और पुरानी

पद्धति से चिपके रह जाने वालों को बड़ा कहा जाता है। आरम्भ में कृषि की ओर अग्रसर होने वालों की संख्या भी अपेक्षाकृत कम ही रही हो सकती थी अतः उनका, संख्या की दृष्टि से भी अल्प होना सच लगता है। इन विवरणों में इस विषय में किसी तरह का भ्रम नहीं रहने दिया गया है कि देवों और असुरों के बीच का द्वन्द्व दो उत्पादन-पद्धतियों के कारण पैदा हुआ था।

कृषि के आविर्भाव को वायु पुराण में त्रेता युग के रूप में कल्पित किया गया है। इस युग के आरम्भ में तो मनुष्य जगह-जगह उग आयी वनस्पतियों को (जिन्हें घर-घर में उग आयी बताया गया है, जो एक कल्पना मात्र है, क्योंकि आगे ही इसका खण्डन भी हो जाता है कि तब तक मनुष्य स्थाई आवास बना कर नहीं रह रहा था। वस्तुतः यहाँ घर का आशय इन कबीलों का विहार-क्षेत्र लेना उचित है।) अपनी जीविका का आधार बनाता है। इस काल में अनेक बार वनस्पतियों के नष्ट होने और पुनः उनके उत्पन्न होने का जिक्र आता है, "उनके सत्याभिध्यान के फल से" फिर घरों में वृक्षादि उगने लगते हैं। इस प्रकार वे "उन्हीं वृक्षों से वस्त्र, फल, आभरण एवं उत्तम गंध वाला, देखने में सुन्दर, सरस और अत्यन्त वीर्यकारी अमाक्षिक मधु हरे पत्तों से प्राप्त करने लगे। फिर जब कालक्रम से प्रजावर्ग लोभ के वशीभूत होकर उन समस्त वृक्षों को और अमाक्षिक मधु को बलपूर्वक अपनाने लगे, तब उनके इस अपचार के कारण कहीं-कहीं वे कल्पवृक्ष मधु के साथ ही विनष्ट हो गये।...वे यथेच्छ विहारी गृहहीन प्रजागण गात्रावरण द्वारा वायु, शीत और घाम के कष्ट का निवारण करने के लिए घर बनाकर रहने लगे।...उस द्वितीय वृष्टि-सृष्टि से पृथ्वी का जो स्थान जल-हीन और शुष्क हो गया था वह जलपूर्ण हो गया।...बिना जोते-बोए चौदह तरह की फल-फूल-मूल वाली औषधियाँ गाँवों और जंगलों में उग आयीं। उस त्रेता युग में ही ऋतुओं के अनुकूल पुष्प, वृक्ष-गुल्म और जीविका की बहुत-सी औषधियाँ उत्पन्न हुईं। उन औषधियों के गुण से उस काल के प्रजागण सुखपूर्वक कालयापन करते थे। तब युग-धर्म के अनुसार अवश्यम्भावी रोग और लोभ उनमें उत्पन्न हुए। अपनी शक्ति के अनुसार उन लोगों ने क्षेत्र, पर्वत, वृक्ष, गुल्म और औषधियों को अपने अधिकार में करना आरम्भ किया।...युगधर्मानुकूल पृथ्वी ने तब चौदहों प्रकार के जंगली और ग्रामीण सस्यों को अपने में छिपा लिया। प्रजागण उस समय फल लेते समय पुष्प और पुष्प लेते समय पत्र को भी तोड़ लिया करते थे, इससे वे सब नष्ट हो गये और प्रजागण व्याकुल हो उठे। वे व्याकुल हो पुनः जीविकालाभ के लिए स्वयंभू प्रजापति के पास उपस्थित हुए। उन्होंने सुमेर को बछड़ा बनाकर इस पृथ्वी को दूहा। दूहे जाने के बाद इस धेनु रूपी पृथ्वी ने जंगली और ग्रामीण बीजों को पृथ्वी-तल पर उत्पन्न किया। फल पकने तक जिसके बीज रहें वे औषधियाँ हैं। ये औषधियाँ सत्रह प्रकार की हैं। धान, जौ, गेहूँ, तिल, प्रियंगु, उदार, कारुष, सवीनक, माष, मूँग, मसूर,

निष्पाव, कुलथी, आढक्य और चना—ये सत्रह प्रकार की औषधियाँ ग्रामीण कही जाती हैं। ग्रामीण और जंगली चौदह प्रकार की औषधियाँ यज्ञ-साधन हैं। व्रीहि, यव, माष, गोधूम, अणु, तिल, प्रियंगु, कुलथी, श्यामाक, नीवार, जर्तिल, गवेधुक, कुरबिंद, वेणुयव और मर्कट—ये चौदह प्रकार की औषधियाँ ग्रामीण और आरण्यक दोनों हैं।[11] त्रेतायुग के आदिकाल में पहले ये उत्पन्न हुईं। बिना जोते ये औषधियाँ जंगलों और ग्रामों में उत्पन्न हुईं। इनके अतिरिक्त वृक्ष, गुल्म, लता, वल्ली, वीरुध, तृण आदि भी प्रादुर्भूत होकर मूल, फल, पुष्प आदि से प्रजाओं को सुख-समृद्ध करने लगे। ब्रह्मा द्वारा दुहे जाने पर पृथ्वी ने जिन बीजों को उत्पन्न किया था उनसे ऋतुओं के अनुसार विविध प्रकार के फल उत्पन्न हुए। किन्तु जब तक वे औषधियाँ अच्छी तरह उगी नहीं तब तक के लिए उनकी जीविका का उपाय किया कि भूमि को जोतकर अन्न उपजाया जाये। स्वयंभू भगवान ब्रह्मा ने उनकी कर्मजन्य सिद्धि को देखकर ऐसा किया। तभी से कर्षणज सस्योत्पत्ति आरम्भ हुई।..."[12]

इस पौराणिक विवरण का अटपटापन ही इसकी विश्वसनीयता का सबसे बड़ा प्रमाण है। यदि इसकी कुछ बारीकी से जाँच करें तो हम कह सकते हैं कि इस त्रेता युग में पहले तो मनुष्य पूरी तरह प्रकृति पर पशुओं के समान ही निर्भर रहता है, पर धीरे-धीरे उसका ध्यान उन जंगली बीजों की ओर जाता है जिनको असमय के लिए एकत्र किया जा सकता था और जो आगे चलकर उसके कृषि धान्य बने। इस अवस्था में अराजकता का खासा बोलबाला था और लोग इन वन्य सस्यों को पकने से पहले ही नोच-खसोट लिया करते थे। लगता है, इससे स्थिति अनेक बार काफ़ी गम्भीर हो गयी। वनस्पतियों और धान्यों के अनेक बार पूरी तरह नष्ट होने की बात और फिर वर्षा के साथ नये सिरे से पौधों के उगने की बात यह सूचित करती है कि इन्हें कई बार भारी अकाल और सूखे का सामना करना पड़ा। सम्भवतः इस सूखे की भी एक महत्वपूर्ण भूमिका कृषि के विकास में थी, पर यह सोचना कि अकाल और सूखे की दशा में मनुष्य ने कृषि का आविष्कार कर लिया होगा, निरापद नहीं है। सूखे का त्रासद अनुभव और इसके बाद अनुकूल मौसमों के दौर में उपलब्ध समृद्धि, दोनों को सामने रखकर ही कृषि के आविष्कार की बात सोची और समझी जा सकती है। जो भी हो, जैसा कि उक्त विवरण से ध्वनित होता है, एक लम्बे सोच-विचार के बाद और सायास रूप में ही कृषि का यह विकास सम्भव हो पाया। वायु पुराण के उक्त विवरण में हाहाकार और व्याकुलता के चित्रण के बावजूद कृषि की दिशा में संक्रमण को कुछ इस तरह पेश किया गया है मानो इसकी स्वीकृति के विषय में न तो किसी को किसी प्रकार की आपत्ति हो सकती थी और न ही हुई। सचमुच यह एक नीरव क्रान्ति जैसा ही प्रतीत होता है। पर ब्राह्मणों से और ऋग्वेद के अनेक अंशों से स्पष्ट संकेत मिलता है कि किसी अन्य क्रान्ति की

अपेक्षा यह क्रान्ति अधिक अवरोधों का सामना करती हुई आगे बढ़ी थी और इसके कारण एक ऐसा भयानक संघर्ष छिड़ा था जिसकी अनुगूँज समूचे भारतीय साहित्य में ही नहीं, इसके लोक-विश्वासों और गल्प कथाओं में भी बनी रह गयी है। इस संघर्ष ने भारतीय चिन्तन को, इसके सद-असद विवेक को, इसके जीवन-मूल्यों को बहुत गहराई से प्रभावित किया है। इस संक्रमण को भारतीय परम्परा में देवासुर संग्राम के रूप में बार-बार चित्रित किया जाता रहा है।

देवासुर संग्राम के इस पहलू पर हम आगे चल कर विचार करेंगे। यहाँ इस तथ्य को रेखांकित करना आवश्यक है कि पश्चिमी परम्परा के अनुसार आदम को स्वर्ग से निकाला गया था और उसके बाद वह पूर्व से वहाँ पहुँचे थे और भारतीय परम्परा के अनुसार असुरों ने देवों को मार भगाया था और इसके बाद वे पूर्व से पश्चिम की ओर गये थे। पश्चिमी परम्परा के अनुसार आदम स्वर्ग में रहते थे और वह स्वर्ग वहाँ की धरती से दूर और एक भिन्न जलवायु का था और भारतीय परम्परा के अनुसार देवता पहले इसी धरती पर रहते थे और फिर वे इसे छोड़कर स्वर्ग गये। स्वर्ग का धरती से दूर होना और एक भिन्न जलवायु का होना और किंचित् दुर्लंघ्य प्राकृतिक बाधाओं से युक्त होना तो स्वाभाविक है ही, अन्यथा हर कोई स्वर्ग पहुँच जाये। पर इन दोनों परम्पराओं में इस विषय में पूर्ण सहमति है कि कृषि के आविष्कार से पहले देवताओं का निवास भारत में ही था जहाँ से निकाले जाने या निकलने के बाद वे पश्चिम में पहुँचे थे।

परन्तु क्या मनुष्य आरण्यक अवस्था से सीधे कृषि के इस चरण में पहुँच गया या इसके बीच कोई अन्य चरण भी आया था? दूसरे शब्दों में कहें तो, क्या पशु-पालन का चरण कृषि के साथ आया या यह इससे पहले या बाद की अवस्था है? आर्यों के सम्बन्ध में विचार करते समय यह सुझाया जाता है कि पहले ये पशुचारी थे, फिर इन्होंने बहुत प्राथमिक स्तर की खेती आरम्भ की और वैदिक आर्यों को बर्बर सिद्ध करने वाले यह मानते रहे हैं कि इस काल में भी वे मुख्यत: अपने पशु-धन पर ही निर्भर कर रहे थे और खेती नाम-मात्र को करते थे। प्रकारान्तर से कहें तो कृषि का चरण पशुचारण के बाद का है। पर पश्चिम एशिया के सन्दर्भ में इस विकास को कुछ उलझे रूप में पेश किया जाता है: यह कि कृषि की ओर अग्रसर होने वाले मनुष्य ने इसके समानान्तर ही पशुपालन भी आरम्भ किया। पौराणिक विवरण में भी, जैसा कि हम देख आये हैं, आहार-संग्रह के ठीक बाद ही कृषि को रखा गया है।

डॉ. गुप्त ने इस अवधारणा की समीक्षा करते हुए यह निष्कर्ष निकाला है कि प्राथमिक स्तर की कृषि आरम्भ होने से भी पहले पशुपालन अस्तित्व में आ चुका था और पशुपालन के पूर्ववर्ती चरणों में उन्होंने वरणात्मक आखेट और रेवड़बन्दी या चरवाही (हर्डिंग) को माना है और उनके अनुसार पालतू बनाये जाने से पहले

इस रेवड़बन्दी के दौर में ही इन पशुओं में वे कायिक परिवर्तन आ चुके थे जो वन्य पशुओं से पालतू पशुओं को अलग करते हैं।[14]

सच कहें तो पशुपालन की अवस्था मनुष्य के अगले विकास की एक बाल पाठशाला थी जिसके दौरान उसने प्रकृति-जगत को एक नयी उपयोगितावादी दृष्टि से देखना आरम्भ किया, उसमें अपनी सम्पदा के साथ लगाव पैदा हुआ और उसके साथ बँधकर रहने का धैर्य पैदा हुआ। इसके आधार के बिना मनुष्य वन्य धान्यों को उगाकर उनके परिपक्व होने तक किसी एक स्थान पर टिक कर भी नहीं रह सकता था और खेती के आविष्कार के बाद पशु-श्रम का उपयोग किये बिना वह इसका उन्नत विकास भी नहीं कर सकता था।

यह एक रोचक बात है कि एक महत्वपूर्ण माध्यमिक चरण होने के बावजूद पशुपालन के विषय में स्थिति कृषि की तरह स्पष्ट नहीं है। इसका एक कारण यह हो सकता है कि कृषि-क्रान्ति का अनुभव इतना भेदक था कि इसकी छाया में पशु-चारण काल धूमिल पड़ गया। इसके अतिरिक्त पशुपालन के दौर में मनुष्य खाद्यान्नों के मामले में आहारसंग्रह के चरण में ही था और फल-कन्द आदि जुटाने या समय-समय पर शिकार आदि करने से भी नहीं चूक सकता था, और अन्तिम बात यह कि कृषि क्रान्ति के साथ ही देवासुर संग्राम या संघर्ष का वह दौर अपनी पूरी प्रखरता से सामने आया जिसके ब्याज से कृषि-क्रान्ति तथा आगे के विकास की कथा दुहरायी गयी है। इन सभी बातों के बावजूद पशुचारण काल के छिटपुट संकेत हमें मिल जाते हैं जो इस चरण की तसवीर को उतनी निराशाजनक भी नहीं रहने देते।

बाइबिल की कथा में, जैसा कि हम देख आये हैं, आदम के दो पुत्रों में से एक को चारणजीवी दिखाया गया है और दूसरे को कृषिकर्मी और कृषिकर्मी पुत्र अपने पशुचारण पर आश्रित भाई की हत्या कर देता है क्योंकि वह प्रभु को अधिक प्रिय था, या कहें आहारसंग्र ही और आखेटजीवी अवस्था के अधिक क़रीब, और इस-लिए पुरानी व्यवस्था के लिए अधिक स्वीकार्य था। उसकी हत्या के बाद ही कैन से मानववंश या कृषिजीवी समाज का वंश आगे बढ़ता है। प्रकारान्तर से कहें तो पश्चिमी परम्परा के अनुसार भी पशुचारण की इस पूर्वावस्था को पार करने के बाद ही कृषिजीवी अर्थव्यवस्था की जययात्रा आरम्भ होती है।

ऋग्वेद में वह देवता जिसे पशुपति शिव या रुद्र कहा जाता है, अपना प्रभाव रखते हुए भी हीनदेवों की स्थिति में आ गया है। अग्नि का पशुपा रूप या पूषन् देवता का अस्तित्व बना तो रह गया है, पर यह अपेक्षाकृत गौण देवता है। इसका एक कारण तो हम यह बता आये हैं कि जिस वर्ग को केन्द्र में रखकर वैदिक साहित्य ही नहीं अपितु समस्त स्तोत्र साहित्य की रचना हुई है उसका ध्यान व्यापारिक कार्यों की ओर केंद्रित था, पर इसका एक अन्य कारण ऋग्वैदिक काल तक पशु-पालन के भी गौण स्थान पाने को माना जा सकता है।

मनु ने विवाह की जिन आठ रीतियों का उल्लेख किया है उसमें से एक आर्ष है जिसमें दहेज में वर को गायों का एक जोड़ा दे दिया जाता था।[15] यह उस चारणकालीन समाज का ही अवशेष प्रतीत होता है।

शतपथ ब्राह्मण में मानव विकास-यात्रा को यज्ञ-वलि में आने वाले परिवर्तनों के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसके अनुसार पहले कभी मनुष्य को नरवलि से भी आपत्ति नहीं थी, पर नर-वलि के बाद यज्ञ छिटक कर अलग हो गया। वह पहले पशुओं में प्रविष्ट हो गया। फिर पशु-वलि दी जाने लगी। पशुओं में पहले उसने अश्व में प्रवेश किया और अश्व-वलि दी जाने लगी। पुनः यज्ञ छिटककर अलग हो गया और गाय में प्रवेश किया और गो-वलि दी जाने लगी। इस तरह यज्ञ क्रमशः भेड़ और बकरे में प्रवेश कर जाता है और अन्ततः वह धरती में प्रवेश करता है, और अब इसकी खोज धरती को खोजते हुए की जाती है और इसका परिणाम हैं ब्रीहि और यव। अतः अंततः अन्न-वलि का आरम्भ हुआ।[16]

यह उल्लेख आखेट की अवस्था से लेकर कृषि के विकास तक की कहानी को प्रतीकात्मक रूप में प्रस्तुत करता है और यद्यपि इसके क्रम को अक्षरशः लेना ज़रूरी नहीं है, पर जैसा कि देखा जा सकता है इसमें मनुष्य की विकास-यात्रा बहुत विश्वसनीय रूप में पेश की गयी है। यज्ञ को स्पष्टतः उत्पादन और जीवन-निर्वाह के साधन के रूप में प्रस्तुत किया गया है। पहले इस समाज में नर-बलि का चलन था। पर कुछ आगे चलकर भावानात्मक परिवर्तन के फलस्वरूप पशुओं की वलि आरम्भ हुई। कृषि के चरण में श्रम के स्रोत के रूप में बैल और घोड़े के महत्व को समझा गया। इससे कुछ पहले पशुचारण काल में ही दूध के स्रोत के रूप में गाय के महत्व को देखकर दुधारू गाय को अवध्य या अघ्न्या माना जाने लगा था, यद्यपि इस बीच भी वन्ध्या और बूढ़ी गायों का मांस खाया जाता था और साथ ही बछड़े का भी। पर फिर भारवाही पशुओं को अवध्य मान लिया गया और भेड़-बकरों का मांसाहार चलता रहा। अन्ततः यज्ञ का रूप अहिंसापरक हो गया और आँटे का पशु या पुरोडाश बनाकर यज्ञ में चढ़ाया जाने लगा।

जो भी हो, उक्त वलि-पशुओं का उल्लेख यज्ञ के लिए सर्वश्रेष्ठ माने जाने वाले पशुओं के रूप में है। इससे पशुपालन के क्रम का विश्वमनीय चित्र नहीं प्राप्त होता। यदि देवताओं के लिए प्रयुक्त वाहनों पर दृष्टि डालें तो सम्भवतः इसका अधिक सही रूप सामने आये। पूषा का वाहन छाग या बकरा है।[17] अज या छाग कभी बाद के कालों की तुलना में अधिक महत्वपूर्ण पशु माना जाता था, जिसकी याद अज और इससे व्युत्पन्न शब्द-भण्डार—अजकर्ण, अजगन्धा, अज-जीवन, अजपद, अजमायु, अजमीढ़, अजमोद, अजपाल, अज एकपाद आदि से प्रकट होता है जो बाद में चलकर गो शब्द से व्युत्पन्न शब्द-भण्डार की याद दिलाता है। पश्चिमी एशिया में भी जहाँ तक पशुचारण का प्रश्न है बकरी और भेड़ को

ही अधिक उपयुक्त पाया गया, परन्तु वहाँ बकरी से पहले भेड़ का पालन किया गया था जिसकी सबसे पुरानी मिसाल जावी चेमी, शेनिडर, उत्तरी ईराक से मिलती है जहाँ 11000 ई. पू. में भेड़ पालन के प्रमाण मिलते हैं।[18] पालतू बकरी के प्रमाण आशियाब आदि अनेक गाँवों से मिले हैं। इस बात की पूरी सम्भावना है कि रेवड़बन्दी की शुरुआत भेड़ और बकरी को लेकर ही की गयी थी जो सबसे निरीह और आसानी से नियन्त्रित किये जा सकने वाले पशु थे और जिनकी वंश-वृद्धि भी बड़े पशुओं की तुलना में अधिक तेजी से हो सकती थी।

अग्नि को जिस तरह देवताओं में अग्रणी माना गया है उसी तरह पशुओं में बकरे को अग्रणी माना गया है।[19] इसके बाद या समानान्तर ही भेड़ को भी पालतू बनाया गया लगता है जिसके लिए प्रयुक्त अवि शब्द का अर्थ ही होता हैं पालतू या रक्षणीय पशु। यह वरुण का भाग है जो वैदिक देवताओं में एक प्राचीन देवता हैं। यही चरण सम्भवतः हिरन को भी पालतू बनाकर उससे दूध आदि प्राप्त करने के प्रयोग का रहा लगता है, परन्तु दूध के मामले में इसे अधिक उपयोगी न पाकर इसे पालने का कष्ट जरूरी नहीं लगा और वन्य रूप में यह पशु पर्याप्त मात्रा में सुलभ था ही। यह मरुद्गणों का वाहन है[20] और इसका आखेट बहुत हाल तक प्रचलित रहा है। यह रोचक है कि इनमें से काले मृगों को तो यज्ञ का रूप ही कहा गया है।[21] गधे, घोड़े या टट्टू और गाय-भैंस आदि का पालन इन छोटे जानवरों को पालने के बाद हुए अनुभव और ज्ञान के बाद आरम्भ हुआ हो सकता है, यद्यपि इनका शिकार बहुत पहले से प्रचलित था।

कृषि से पहले पशु-पालन की इस अवस्था के विषय में यह उल्लेख प्रायः आता है कि पशु का नामकरण ही इस आधार पर पड़ा है कि वे पोषण प्रदान करते हैं[22] वे अन्न हैं, रस हैं या कहें दूध और मांस के स्रोत हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो कृष्ट अन्नों से पहले पशु पोषण के मुख्य स्रोत थे।

आहार-अन्वेषण और शिकार की अवस्था से आगे बढ़कर मनुष्य ने पशु-पालन की ओर कदम क्यों बढ़ाया? ऊपर से देखने पर यह एक मामूली परिवर्तन मालूम होते हुए भी एक क्रान्तिकारी कदम था और इसे कृषि-क्रान्ति से कम महत्व नहीं दिया जा सकता। क्षुधातुर मनुष्य पशुओं का शिकार करने पर उन्हें मारकर खा तो सकता था, पर उन्हें जीवित रखकर लम्बे समय तक उनकी सेवा करते हुए उन्हें दूध आदि के साधन के रूप में जिलाए रखने की बात सोच भी नहीं सकता था। इसके अतिरिक्त पशु-पालन से पहले की अवस्था में सम्भवतः उसे यह सूझ भी नहीं सकता था कि आखेट के पशुओं में से कुछ का दूध निकाला और उस पर अपना गुजर किया जा सकता है। इसके विपरीत, यदि फल-फूल और आखेट की सम्पन्नता की स्थिति थी तो उसे पशु पालने की झंझट की क्या जरूरत थी? जरूरत पड़ने पर शिकार किया और अपनी भूख मिटायी, बाकी समय के लिए पूरी

तरह आज़ाद !

अतः इसके लिए भाव और अभाव के एक चक्र की कल्पना आवश्यक है। वर्ष के किसी विशेष मौसम में जब घास-फूस की प्रचुरता रहती थी, इन जानवरों में से अनेक के यूथ जंगलों को छोड़कर नदियों की घाटियों में उगी हुई घास-फूस के लिए बाहर निकल आते थे, इन ऊँची घासों के बीच उनका शिकार आसानी से किया जा सकता था। कारण जिन घासों और कासों को चरने ये पशु आते थे वे मनुष्य को छिपा और दुबक कर घात लगाने का भी मौका दे सकती थीं। पर इस घास के सूख जाने या चर लिए जाने के बाद या गर्मी के मौसम में जब पशु-यूथ जंगलों की ओर लौट जाते थे, शिकार करना अधिक कठिन होता रहा होगा। वर्ष-चक्र के इस परिवर्तन के कारण ही सम्भवतः कभी मनुष्य को यह सूझा कि प्रचुरता के इस मौसम में आपेक्षिक अभाव के दिनों के लिए शिकार को बाँधकर जीवित रखा जा सकता है और इस तरह वह अनजाने ही एक नयी उत्पादन-पद्धति की ओर बढ़ गया—दूध और ऊन आदि का उत्पादन।

पर एक अन्य सम्भावना जो इसके साथ ही दिखाई देती है वह यह कि पशु जिस मौसम में बच्चे देते थे उस मौसम में उनका शिकार करना शेष कालों की तुलना में अधिक आसान था। मनुष्य अपनी जंगली अवस्था में अधिक तेज़ी से भाग लेता रहा होगा, पर जानवर भी कम तेज़ी से नहीं भागते। उनके तरुणों को पकड़ना अधिक आयासकर होता हैं। उन पर काबू करना भी आसान नहीं। पर इन नवजात शिशुओं को, चाहे वे भागते हुए पशुओं से पीछे छूट जाने पर हो या सोते समय, घात लगाकर पकड़ना, कहीं अधिक आसान था। और इन शिशुओं को तब तक जीवित रखना जब तक वे जवान नहीं हो जाते और उनसे अधिक मांस नहीं मिलता, पशु-पालन का कारण बना होगा। दूसरे शब्दों में कहें तो, इनके पैदा होने के मौसम में अपनी तात्कालिक आवश्यकता से काफ़ी अधिक शिशुओं को पकड़ लेना और आगे के लिए एक पूँजी जमा कर लेना। शिशुओं या शावकों को पकड़ने का कुछ मामलों में लाभ यह भी था कि अपने बच्चे के मोह में आतुर माताएँ अन्धों की तरह स्वयं अपने शिशुओं के पास खिंच आती रही होंगी और बच्चों के माध्यम से इनको भी पकड़ लेना अधिक आसान होता रहा होगा। यह सुविधा पशुओं के प्रसव-ऋतु में ही उपलब्ध थी और इसलिए इसी समय इनको अधिक संख्या में पकड़कर बाद के लिए रखा जा सकता था। यह एक रोचक बात है कि भारत के बाहर भी जहाँ पशुओं के शिकार के प्राचीन प्रमाण मिलते हैं उनमें इनके शावकों या बच्चों का अनुपात बहुत अधिक है।

ऐसा सोचने का सबसे बड़ा कारण यह भी है कि आज तक शिकार के दो ही रूप रहे हैं। एक तो सीधे पशु पर प्रहार जो उसका अंग-भंग कर देता है और अधिकांश मामलों में काबू में आने से पहले ही उसे अधमरा कर देता है। ऐसे पशु को केवल

मारकर खाया ही जा सकता है। पकड़ कर रखना चाहें तो न केवल वह अधिक समस्याएँ पैदा करेगा अपितु पहला मौका मिलते ही भाग कर निकल जायेगा। दूसरा तरीका शिशुओं को पड़ने का रहा है। पालने के लिए पशु हों या पक्षी, सभी को उनके शैशव में ही पकड़ा जाता रहा है। इसी स्थिति में उनको अपने संरक्षण में लेकर उनके स्वभाव आदि में इच्छित परिवर्तन भी किया जा सकता है और उनको पूरी तरह अपना आश्रित भी बनाया जा सकता है। कारण, यह पालतू जानवर बड़ा होकर भी उतनी तेज़ी से भाग कर हिंस्र पशुओं से अपना बचाव नहीं कर सकता, अतः अपनी रक्षा के लिए उसे अपने पोषक ममुष्य के सहारे की आवश्यकता होगी।

पशुपालन का आरम्भ कहाँ हुआ, यह प्रश्न कुछ टेढ़ा है। कुछ लोग मानते हैं कि पशुपालन का आरम्भ पश्चिमी एशिया में ही हुआ होगा जहाँ यूरोप का आदमी हिमयुग की चपेट से बचने के लिए खिसक आया था और यूरोप का आदमी तो नयी कालोनी पाते ही आविष्कार पर आविष्कार आरम्भ कर ही देता है सो उसने पश्चिमी एशिया में भी झटपट कृषि-क्रान्ति कर डाली और इसके साथ ही पशुपालन भी करने लगा। हमारे लिए ऐसा मान पाना कुछ कठिन है। कारण, उन्नत कृषि ही पशुपालन से पूर्व के चरण में असम्भव नहीं था, कृषि की दिशा में आरम्भिक प्रयोग और परीक्षण भी पशुपालन के अभाव में असम्भव था। कारण, इसके लिए भी किसी एक सीमित क्षेत्र में अर्धस्थायी निवास जरूरी था और इस अर्धस्थायी निवास के लिए उसके पास कोई ऐसा साधन होना ज़रूरी था जिसके बल पर वह उस क्षेत्र में अपना गुजर कर सके। यह पशुपालन से उपलब्ध दूध और मांस का आधार हो सकता था, या हो सकता था मछली का शिकार जो उसे कम-से-कम पहले अवसर पर बीज बोने से लेकर फ़सल तैयार होने तक इसकी रक्षा करने के लिए अर्ध-स्थायी आधार प्रदान कर सकता था।

अन्यथा भी हम पाते हैं कि अनेक जन-समुदाय ऐसे रहे हैं जो पशुपालन से आगे बढ़े ही नहीं, कुछ पशुपालकों का तो कृषिकर्मियों से विरोध भी रहा है—जैसा कि हम इन्द्र की पूजा के निषेध की उस कथा में पाते हैं जिसका गोवर्धन पूजा से सम्बन्ध है। कारण, आरम्भ में जिन क्षेत्रों में खेती की जा सकती थी वे ठीक वे ही द्रोणी क्षेत्र हो सकते थे जिनमें चारण किया जा सकता था और इसलिए पशु-पालकों और कृषिकर्मियों के बीच हितों का टकराव था। चारण-भूमि को क्रमशः कृषि-भूमि में परिवर्तित करने का सिलसिला अभी आज तक चलता आया है। अतः पशुपालन को कृषि के बाद के चरण की खोज मानना या इसके समानान्तर रखना अतर्क्य है। पशुपालन के बिना उन्नत कृषि सम्भव नहीं थी, पर कृषि के बिना भी पशुपालन सर्वथा सम्भव था, अतः इन दोनों के बीच पहला और अनिवार्य चरण पशुपालन का ही हो सकता था।

पशुपालन का आरम्भ किस तरह हुआ, इस पर विचार करते हुए विद्वानों ने यह सुझाया है कि पश्चिमी एशिया के उन सीमित क्षेत्रों में यहाँ कृषिधान्य वन्य रूप में उत्पन्न होते थे, पशुओं और मनुष्यों का जमाव हुआ। मनुष्य ने हिंसक पशुओं से इन जानवरों को बचाने का प्रयत्न आरम्भ किया जिससे पशु विश्वस्त भाव से अपने इन रक्षकों के क़रीब खिचते गये और इस प्रकार उनके बीच वह निकटता क़ायम हुई जो आगे चलकर पशुपालन का रूप ले बैठी।

इस मान्यता में एक दोष यह है कि यदि आदमी और पशु उसी क्षेत्र तक अपनी जीविका के लिए निर्भर थे तो पशु फ़सलों के तैयार होने से पहले ही उन वन्य सस्यों के चर कर साफ़ कर सकते थे। उन सस्यों की रक्षा के लिए इस जंगली पशुओं को भगाना ज़रूरी था, न कि परचाना। मनुष्य इन सहज सुलभ पशुओं का आखेट करके अपना गुज़र भी कर सकता था। पर इससे न तो कृषि के लिए अनुकूल स्थिति पैदा हो सकती थी, न ही पशुओं के साथ वह आत्मीयता पैदा हो सकती थी जो पशुपालन की अनिवार्य शर्त है। जब तक ममुष्य शिकार पर निर्भर करेगा, पशु उससे उसी तरह दूर भागेंगे जैसे किसी अन्य हिंस्र पशु से। अतः पशुओं के शिशुओं को पकड़ कर उन्हें अपने संरक्षण में पाल कर ही उन्हें पालतू बनाने का आयोजन किया जा सकता था, और वन्य हिंस्र जानवरों से यदि किसी की रक्षा का सवाल उठ सकता था तो इस प्रकार पाले हुए पशुओं के मामले में ही। इन्हें ही नियन्त्रित ढंग से चराया जा सकता था, अर्थात् उस क्षेत्र को सुरक्षित रखते हुए जिनमें कृषिधान्य पैदा होते हों, शेष चर भूमि तक उन्हें सीमित रख कर ही एक साथ सुविधापूर्वक आहारसंग्रह भी किया जा सकता था और पशुधन भी बढ़ाया जा सकता था। इसके लिए जरूरी था कम-से-कम वन्य सस्यों के क्षेत्र का परिरक्षण और यह उस प्राथमिक चरण में क्षेत्रीय वितरण के द्वारा ही सम्भव था, अन्यथा दूसरे पशु न सही दूसरे क़बीले ही इस प्रकार बचा कर गये धान्यों के तैयार होने पर एक दिन में ही उनका सफ़ाया कर सकते थे।

वस्तुतः इस प्रकार के क्षेत्रीय बँटवारे की सूचना भी हमें कृषि से पहले के चरणों में ब्राह्मणों आदि में मिलती है। वायु पुराण का वह उल्लेख इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है कि लोभ के वशीभूत होकर प्रजा-जन विविध अंचलों पर अधिकार करने लगे। शतपथ ब्राह्मण में भी इसका उल्लेख आता है[23], पर इनमें कृषि के चरण को इस भूवितरण से सीधे जोड़ दिया गया है। इसके अतिरिक्त ब्राह्मणों में क्षेत्रीय वितरण के कुछ ऐसे हवाले भी आते हैं जिनसे लगता है कि आखेट और आहारसंग्रह के चरण में ही क्षेत्रीय विभाजन हो चुका था और यह अस्वाभाविक भी नहीं है। इसके अनुसार देवों को अपने हिस्से में जो क्षेत्र मिला था उसमें गूलर के वृक्षों की अधिकता थी।[24] आहारसंग्रह के चरण में ही इस प्रकार का विभाजन इसलिए ज़रूरी हो गया लगता है कि अपने लम्बे जीवन-अनुभवों से वनचर मनुष्य

ने यह देख लिया था कि यदि किसी प्रकार का नियन्त्रण न रहे तो लोग फलों और कन्दों को तैयार होने से पहले ही तोड़ और खोद लेते हैं और इनका पूरा लाभ किसी को वहीं मिल पाता। इस अवस्था का संकेत हमें वायु पुराण के विवरण में मिलता भी है। अतः परस्पर मिलकर या अपनी शक्ति के अनुसार वन्य जन-जातियों ने वन्य क्षेत्र का भी बँटवारा कर लिया था और इसके अनुसार कोई दूसरा कबीला किसी अनधिकृत भू-क्षेत्र में क़दम नहीं रख सकता था और यदि ऐसा दुस्साहस किसी ने किया तो उसकी हत्या की जा सकती थी और इसका कोई प्रतिकार नहीं हो सकता था। इस कठोर बन्धन का आदर सभी को करना पड़ता था। इस व्यवस्था के अवशेष बहुत बाद तक बने रहे हैं और इस की झलक रामायण के किष्किधा काण्ड में मिलती है जिसमें सुग्रीव तथाकथित ऋष्यमूक पर्वत क्षेत्र में रहता था और इससे बाहर नहीं जा सकता था, और बालि इस क्षेत्र में प्रवेश नहीं कर सकता था।[25] यहाँ कारण ऋषि के शाप को बताया गया है जो काल्पनिक है।

भारत में हम पशुपालन का एक बहुत ही विश्वसनीय चित्र पाते हैं जिसकी पुष्टि न केवल साहित्यिक साक्ष्यों से और पशुपालन की परम्परा से होती है, अपितु भारतीय प्राकृतिक परिवेश भी इसके सर्वथा अनुकूल दिखायी देता है। पहली बात तो यह कि प्राचीन ग्रन्थों में ग्राम्य और आरण्यक पशुओं के उल्लेख बार-बार आते हैं और ये सभी जानवर जिन्हें पालतू बनाया गया है—बकरी, गाय, भैंस, गधा, ऊँट, सुअर, घोड़ा, कुत्ता, बिल्ली आदि भारती जंगलों और कछारों में अभी हाल तक पाये जाते रहे हैं और कुछ आज भी पाये जाते हैं। इनमें से कुछ के विषय में तो सन्देह ही नहीं कि इनका सर्वप्रथम पालन भारत में ही हुआ था। बेशक कुछ जानवरों की स्थानीय नस्लें बहुत अच्छी नहीं रही लगती हैं। उदाहरण के लिए, घोड़े की स्थानीय नस्ल वही रही प्रतीत होती है जिसे टट्टुओं के रूप में पहचाना जा सकता है। दो कूबड़ के सैंधव ऊँट तो ऐतिहासिक काल में भी अरब आदि देशों को निर्यात किये जाते थे जहाँ ये अमीरों और राजाओं की सवारी में काम आते थे।[26] इसी तरह कुक्कुट जो जंगली रूप में आज भी भारत में पाये जाते हैं, पश्चिमी जगत को भारत की ही देन बताये जाते हैं और वे भी काफ़ी बाद में ही वहाँ पहुँचे लगते हैं।[27] हड़पा सभ्यता के ककुद्मान वृषभ भारतीय नस्ल के हैं और मेसोपोटामिया आदि में जिन साँड़ों को नस्ल सुधारने के लिए मँगाया जाता था[28], सम्भव है, उनमें इनका भी शुमार रहा हो। सूअर के शिकार के उल्लेख प्राचीन साहित्य में प्रायः आते हैं। भैंस[29] की तरह यह जानवर भी पानी और दलदल से इतना लगाव रखता है कि यह सोचना कठिन लगता है कि मूलतः यह किसी शुष्क प्रदेश का प्राणी रहा होगा। अतः इसे नदियों से ऐसे क्षेत्रों का प्राणी मानना होगा जिसमें दलदल आदि का बाहुल्य रहता रहा हो। इस दृष्टि से इसका

प्रसार विश्व में प्राचीन काल से ही बहुत व्यापक रहा लगता है।

आरम्भिक पशुपालन के लिए हम जिस प्रकार के चर क्षेत्रों की चर्चा ऊपर कर आये हैं उनकी परिधि में भारत की नदियों का द्रोणीक्षेत्र भी आता है जहाँ की नदियाँ अपनी धाराएँ इतने मुक्त ढंग से बदलती रही हैं कि उत्तर का समतल मैदान ऐसा लगता है जैसे नदियों ने इसे सहस्राब्दियों के दौरान क्रमशः जोत-सा डाला हो। इन नदियों रेती काँस, कुश और दूब के लिए कितनी उपयुक्त रही है, इस पर कुछ कहने की आवश्यकता नहीं। कुश और दूर्वा के साथ जुड़ी हुई पवित्रता का एक प्रधान कारण यह दिखायी देता है कि पशुचारण की आरम्भिक अवस्थाओं में और स्यात बाद में भी पशुओं के चरने के लिए ये सर्वथा उपयुक्त घासें थीं और आगे चलकर इनको प्रतीकात्मक महत्व मिल गया।

पशुपालन की क्रमिक प्रक्रिया और लम्बा अनुभव भी भारत में किसी अन्य क्षेत्र की तुलना में अधिक स्पष्ट दिखायी देता है। सीधे अधिक हिंस्र और तेज गति वाले पशुओं को नहीं अपितु क्रमिक रूप में बकरी, भेड़, गाय, भैंस, गधा, टट्टू, घोड़ा, ऊँट आदि को पालना ही पशुपालन का सही रूप है। इस क्रमिक शिक्षण के अभाव में या इससे उपलब्ध जानकारी के अभाव में सीधे तेज गति वाले जानवरों के पालतू बनाने और प्रयोग में लाने की बात एक लम्बी छलाँग जैसी लगती है। यदि ऐसे ही अनुभवों के बाद स्तेपी आदि में भी घोड़े को पालतू बवाया गया हो तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं।

पशुपालन का अनुभव भारत में जिस झक का रूप ले चुका था, उसकी भी अन्यत्र मिसाल नहीं मिलती। कुछ पशुओं को पालने और उनसे लाभान्वित होने के बाद हाथी, शेर, साँप, रीछ, बन्दर जैसे जानवरों और मोर, तीतर, बटेर, कबूतर, तोता, मैना आदि पक्षियों को भी पालतू बनाने की कोशिश की गयी। यद्यपि इसमें पूरी सफलता नहीं मिली, पर इनको पोष्य तो बना ही लिया गया और मनोरंजन से लेकर कुछ छोटे-मोटे कामों में जहाँ भी सम्भव हुआ इनका उपयोग होता है। उदाहरण के लिए, हाथी को लिया जा सकता है जो अर्ध-पालतू बनकर की रह गया। हाथी पालने के उल्लेख ऋग्वेद काल से ही मिलने आरम्भ हो जाते है।[30] ऋग्वेद में सिंह को पिंजड़े में बन्द कर रखने का उल्लेख भी आता है।[31] मनु ने सिंह को कठघरों में, पक्षियों को पिंजड़े में, साँपों को पिटारी में पोसने का उल्लेख किया है।[32] इन सबकी परम्परा बहुत पुरानी लगती है।

पालतू बनने के लिए बन्य पशुओं और पक्षियों के शावकों या नन्हें बच्चों को पकड़ने का और इसके बाद इन्हें प्रशिक्षित करने का प्रचलन भारत में अब भी ज़ारी है।

ऊपर के विवरण इस बात की पुष्टि करते दिखायी देते हैं कि पशुपालन का आरम्भ जिन क्षेत्रों में हुआ हो सकता है, उनमें भारत एक प्रमुख स्थान रखता है।

यह न केवल ऊपर के उदाहरणों में झलकता है, अपितु पशु और प्राणि-जगत् के प्रति क्रमशः विकसित होने वाले उस भारतीय दृष्टिकोण में भी दिखायी देता है, जिसकी अन्तिम परिणति प्राणिमात्र के जीवन का समभाव से सम्मान और किसी भी प्रकार के जीव वध को पातक मानने में देखा जा सलता है, जिसे जैन धर्म ने पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया। पर जैन धर्म के बाहर भी चींटी तक को चारा देने, पशुओं-पक्षियों के किए खाद्यान्न का कुछ भाग छोड़ देने, उनके पीने के लिए पानी की व्यवस्था करने आदि में यह करुणा स्पष्ट देखी जा सकती है। बेशक, ये सभी बातें उत्पादन में वृद्धि और सम्पन्नता आने के साथ जुड़ी हुई हैं और यह मानसिक परिवर्तन एक दिन में घटित नहीं हो गया। मांसाहार की तुलना में शाकाहार की जो श्रेष्ठता भारत में क्रमशः विकसित हुई, उसके पीछे भी इस समृद्धि का ही हाथ है। जिसके पास सब कुछ उपलब्ध था, वे ही चुनावपूर्वक कुछ छोड़ भी सकते थे। जिनकी हालत ऐसी नहीं थी, मिसाल के लिए आर्थिकदृष्टि से विपन्न वर्ग और वन्य जातियाँ, वे इस प्रकार की वर्जना को अपने प्राणों की कीमत पर ही स्वीकार कर सकते थे।[32] अतः शाकाहार उनमें कभी प्रचलित नहीं हो पाया। इसका सबसे अधिक प्रचलन वणिक समाज में अनायास नहीं दिखायी देता। यह समाज का सबसे समृद्ध तबका रहा है।

परन्तु इन विविध अनुसंगी तथ्यों के बावजूद यह मानना निरापद नहीं है कि अन्यत्र भारत के प्रभाव से ही पशु-पालन का आरम्भ हुआ हो सकता था या हुआ होगा। इस प्रकार के निष्कर्ष बहुत सावधानी की माँग करते हैं और इनके लिए जितनी व्यापक जानकारी का आधार होना चाहिए, वह हमारे समकालीन जगत् को आज उपलब्ध नहीं है। जहाँ भी मनुष्य का अस्तित्व रहा है, अपनी भौतिक सीमाओं में वह अपनी समस्याओं के हल ढूंढ़ता रहा है और एक निश्चित सीमा तक वह इसमें सफल भी रहा है। अतः यह मानना अधिक निरापद लगता है कि अन्य क्षेत्रों में भी स्वतन्त्र रूप से पशु-पालन के प्रयत्न हुए होंगे। इस दृष्टि से इस पहलू पर ध्यान देना जरूरी है कि विभिन्न क्षेत्रों में एक ही पशु की किन किस्मों को पालतू बनाया गया। कारण, विगत लाखों वर्षों के दौरान भारी प्राकृतिक उपद्रवों और अस्थिरताओं के कारण पशु भी जीवन-रक्षा के लिए दूर-दूर तक भागने पर मजबूर हुए हैं और मूलतः कोई विशेष पशु, जिस भी क्षेत्र में क्यों न पैदा हुआ हो, नये क्षेत्रों में पहुँचकर उसने स्थानीय परिस्थितियों के अनुरूप अपने को ढालते हुए अपनी काया और आकार में भी भारी परिवर्तन कर लिये थे।

आरम्भ में पशु-पालकों को कुछ कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। पूरा समाज पशु-पालन की दिशा में अग्रसर नहीं हुआ था। आहार-अन्वेषण और आखेट तक सीमित कबीलों के लोग जब तब उनकी बकरियों, भेड़ों, घोड़ों और गायों को चुरा ले जाते थे और इनकी वापसी के प्रयत्न में इनको लड़ाई-झगड़े भी करने पड़ते

थे, जैसा कि आजि, वाजि, गविष्टि आदि शब्दों से पता चलता है, जो आगे चलकर सीधे युद्ध या संघर्ष के अर्थ में रूढ़ हो गये। विद्वानों ने इन शब्दों का अर्थ करने में ग़लती नहीं की है, पर इनके वास्तविक चरण को समझने में उनसे भूल अवश्य हुई है। यह शब्द-सम्पदा पशु-चारण काल की देन है, पर जिस काल तक इन शब्दों का प्रयोग होता रहा है, उस काल तक समाज पशु-चारण की अवस्था से आगे बढ़ ही नहीं पाया था, यह सोचना ठीक नहीं है।

सन्दर्भ व टिप्पणी

1. इसके प्रस्तावकों में चाइल्ड, ब्रेडवुड, पिगट आदि रहे हैं। यद्यपि विगत दशकों में पूर्वग्रहीत मान्यताओं में काफ़ी बदलाव आया है, पर स्थिति अभी तक उलझी हुई ही है।
2. वी. जी. चाइल्ड, ह्वाट हैपंड इन हिस्ट्री, लन्दन, 1957
3. बाइबिल, जेनेसिस, अध्याय 2-4
4. मैक्समूलर, 'ऑन दि माइग्रेशन ऑफ़ फेबल्स', सिलेक्टेड एसेज, 1881, 531 और आगे।
5. मौलाना सैयद सुलेमान नदवी, अरब और भारत के सम्बन्ध, हिन्दुस्तानी एकेडमी, प्रयाग की अवधानता में 22, 23 मार्च 1929 को दिये गये व्याख्यानों का अनुवाद। अनु. श्री रामचन्द्र वर्मा, 1930
6. वायु पुराण, अनु. रामप्रताप त्रिपाठी, सम्वत् 2008, अध्याय 8
7. इस आदिम आहार-संग्रही समाज का चित्र महाभारत में भी पाया जाता है :

   समान जन्म-मरणः समः सर्वेः गुणैः नृणाम्।...
   न वै राज्यं न राजासीत् न दण्डः न च दण्डिकः।
   धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम्॥
   जात्या च सदृशाः सर्वे कुलेन सदृशाः तथा॥

   शान्तिपर्व, 58.8, 14 व 107. 30
8. इयं गोः त्वक् पुरुषे ह एष अग्र आस। ते देवा अब्रुवन। गोः वा इदं सर्वं बिभर्ति हन्त य इयं पुरुषे त्वक् गवि एतां दधाम तया एषा वर्षन्तं तया हिमं तया घृणिं तितिक्षध्यत इति। ते अवच्छाय पुरुषं। गवि एतां त्वचं अदधुः तया एषा वर्षन्तं तया हिमं तया घृणिं तितिक्षते। अवच्छितः हि वै पुरुषः। तस्मात् अस्य यत्र एव क्व च कुशः वा विकृन्तति तत एव लोहितं उत्पतति तस्मिन्

एतां त्वचं अदधुः तस्मात् उ एव तस्मात् न अन्यः पुरुषात् वासः बिभर्ति एतां हि अस्मिन् त्वचं अदधुः तस्मात् उ सुवासा एव बुभूषेत् स्वया त्वचा समृध्या इति तस्मात् अपि अश्लीलं सुवाससं दिदृक्षन्ते स्वया हि त्वचा समृद्धः भवति। न ऊ ह अन्ते गोः नग्नः स्यात्। वेद ह गोः अहं अस्य त्वचं बिभर्मि इति सा बिभ्यती त्रसति त्वचं म आदास्यत इति तस्मात् उ गावः सुवाससं उप एव निश्रयन्ते। शतब्रा. 3.1.2.13-17

9. शतब्रा. 1.2.3.1; 2.1.1.8; 3.4.4.2, आदि।
10. ते असुरा भूयांसः बलीयांस आसन, तांब्रा. 18.1.2; कनीयस्विन इव वै तर्हि देवा आसन् भूयस्विनः असुराः। ताब्रा. 12.13.31; कनीयसा एव देवा ज्यायसा असुराः। शतब्रा. 14.4.1
11. वस्तुतः जिन ओषधियों का उल्लेख किया गया है, उनकी संख्या पन्द्रह है, न कि सत्रह या चौदह।
12. वायु पुराण, अध्याय 8
13. शतब्रा. 3.1.1.6
14. एस. पी. गुप्त, 'हर्डिंग ऐज ए बैकड्राप...', पुरातत्व, 1980-81, 101-111
15. देखें पीछे, 'वैदिक समाज'।
16. पुरुषं ह वै देवाः। अग्रे पशुं आलेभिरे, तस्य आलब्धस्य मेधः अपचक्राम, सः अश्वं प्रविवेश। ते अश्वं आलभन्त। तस्य आलब्धस्य मेधः अपचक्राम, सः गां प्रविवेश, ते गां आलभन्त। तस्य आलब्धस्य मेधः अपचक्राम, सः अजं प्रविवेश। ते अजं आलभन्त। तस्य आलब्धस्य मेधः अपचक्राम। सः इमां पृथिवीं प्रविवेश। तं खनन्तं इव अन्वीयुः तं अनु-अविन्दन तौ इमौ व्रीहियवौ तस्मात अपि एतौ इतः हि खनन्तं इव एव अनु-विन्दन्ति। शतब्रा. 1.2.1.6-7. आगे इस पिष्टान्न से बने पशु का रूपक-सा खड़ा किया जाता है, "यदा पिष्टानि अथ लोमानि भवन्ति। यत् आपः आनयति अथ त्वक् भवति यदा संयौति अथ मांसं भवति।" शतब्रा. 1.2.1.8
यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य है कि जहाँ अन्न उपजाने का उल्लेख आता है, वहाँ भारतीय परम्परा व्रीहि या धान (खरीफ़ के अनाज) को यव (रबी की फ़सल) से पहले रखती है। राजस्थान की साँभर झील और बेलन नदी के तटवर्ती कोल्डीहवा तथा इलाहाबाद व प्रतापगढ़ के विशेषतः साई नदी तथा कुछ तालाबों के तट पर रहने वाले पहले धान से परिचित दीखते हैं।
17. बकरे की इस श्रेष्ठता के अनेक चिह्न वैदिक साहित्य में मिलते हैं, यथा—बकरा ब्रह्म व अग्नि का रूप है—आग्नेयः वा अजः स्वेन एव एनं एतत् आत्मना स्वया देवतया सम्भरति अथ उ ब्रह्म वा अजः ब्रह्मणा एव एतत्

सम्भरति । शतब्रा. 6.3.4.15.

धरती की रचना करने के बाद ब्रह्मा ने अजा के रोंए से सृष्टि की—अध अजा लोमेन संसृजति । शतब्रा. 6.3.6.4

18. रेड मैन, दि राइज़ ऑफ़ सिविलाइजेशन, 1978, 135
19. पशुओं में बकरे को अग्रणी माना गया है—अथ एतान् पशून् आवर्तयन्ति । तेषां अज: प्रथम एति...शतब्रा. 6.3.5.12
20. ऋ. 1.39.6; 85.4; 5; 2.34.3; 36.2; 3.26.4; 5.55.6; 58.6, आदि।
21. शतब्रा. 6.4.1.6; 6.7.11, आदि। देखें, सैबुईसी., 12, पृ. 23, टि. 2 भी।
22. पौष्णा: पशव: ।शतब्रा. 5.2.5.6; पशवो वै रायस्पोष:, शतब्रा. 3.4.1.13; इन्द्रियं वै वीर्यं रस: पशव:, ताब्रा. 13.7.4; पशवो वै राय:, शतब्रा. 3.3.1.8; पुष्टि: पशव:, 3.1.4.9; अन्नं पशव:, 6.2.1.15; पशवो वै रेवत्यो मधुप्रियम्, ताब्रा. 13.7.2, आदि।
23. ते ह ऊचु: । हन्त इमां पृथिवीं विभजामहै तां विभज्य उपजीवाम इति तां ओक्ष्णै: चर्मभि: पश्चात् प्रांच: विभजमाना अभि ईयु: ।...शतब्रा. 1.2.5.2
24. ते ह सर्व एव वनस्पतय: असुरान् अभ्युपेयु: उदुम्बर: ह एब देवान् न जहौ... शतब्रा. 6.4.5.2
25. तत: शापभयाद् भीत: ऋष्यमूकं महागिरिम् । प्रवेष्टुं न इच्छति हरि: द्रष्टुं वापि नरेश्वर ।। रामायणम् 4.11.64
26. सैयद सुलेमान, नदवी, पूर्व., 1930, 65
27. कीथ, बेबीलोन ऐंड इंडिया, कुप्पूस्वामी शास्त्री कमेमोरेशन वाल्यूम, 67; बैशभ, पूर्व., 1967, 26
28. फ्रैंकफर्ट, दि बर्थ ऑफ़ सिविलाइजेशन इन दि नीयर ईस्ट, 1954, 62
29. भैंस को पालतू बनाने के सबसे पुराने प्रमाण मेहरगढ़ से मिलते हैं।
30. ऋ. 10.106.6
31. ऋ. 10.28.10
32. मानव श्रोतसूत्र, 9.2.4.4

अध्याय तीन

कृषि-क्रान्ति और देवासुर संग्राम

कृषि की ओर मनुष्य ने कब और किन परिस्थितियों में क़दम बढ़ाया, यह अधिकारी विद्वानों के बीच अरसे से विवाद का विषय बना हुआ है। इस विवाद में उलझना हमारे लिए एक जोखिम मोल लेने जैसा ही है, पर भारतीय स्रोतों से इस विषय में जो जानकारी प्राप्त होती है उसे एक निश्चित परिप्रेक्ष्य देने के लिए उपलब्ध सूचनाओं को यथासम्भव सुलझे रूप में रखना और इनकी अपनी तर्कसंगति पर प्रासंगिक रूप में अपने विचारों को पेश करना ज़रूरी है।

ऐसा लगता है कि आखेट और आहार-संग्रह के चरण में ही मनुष्य ने वन्य रूप में पैदा होने वाले स्थानीय अनाजों का उपयोग करना आरम्भ कर दिया था और इसके हज़ारों वर्ष बाद उसने स्वयं इनको उगाना आरम्भ किया। वन्य अनाजों को जिस भी अनुपात में हो, नवीं-दसवीं सहस्राब्दी में ही आहार का अंग बनाया जाने लगा था और इनकी विधिवत खेती सातवीं सहस्राब्दी में आरम्भ हो गयी थी। जिन स्थलों या क्षेत्रों से वन्य अनाजों के उपयोग के और फिर बाद में कृषि के प्रमाण मिलते हैं, उनके विषय में यह सोचा जाना स्वाभाविक ही है कि स्थानीय जनों ने स्वयं बिना किसी बाहरी प्रेरणा या प्रभाव के खेती का आरम्भ किया होगा। पर ऊपर से बहुत सीधा-सा दीखने वाला यह प्रस्ताव भी कुछ निकट से जाँच की माँग करता है।

हमें यह नहीं भूलना होगा कि आखेट और आहार-संग्रह के चरण में मनुष्य यायावर था जो जहाँ-तहाँ, आहार की सुलभता होने पर या विशेष मौसमों में सुरक्षा के तकाज़ों से अस्थायी पड़ाव भी कायम करता चलता था। जिन दो हज़ार वर्षों के लम्बे दौर में उसका अपना प्रयास वन्य अनाजों के संग्रह तक सीमित था, उस दौर में उसे अपने अटन क्षेत्र में जहाँ भी उपयुक्त अनाज मिलते रहे होंगे वह उनका संग्रह करता रहा हो सकता है और इस तरह उसके पूरे अटन क्षेत्र के भीतर वन्य अनाजों का संग्रह कुछ ही शताब्दियों के बीच प्रचलित हो गया होगा और

इस तरह उस समूचे भूभाग में जिसमें वन्य अनाज उग रहे थे और ऐसे कबीलों में जो इसके सम्पर्क में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में आ सकते थे, बहुत जल्द ही यह ज्ञान फैल गया होगा। ऐसी स्थिति में उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर हम इस बात का निर्णय नहीं कर सकते कि वन्य अनाजों का खाद्य-पदार्थ के रूप में उपयोग सर्व-प्रथम कहाँ आरम्भ हुआ। कृषि की दिशा में पहल इस प्रसार-क्षेत्र में कहीं भी हो सकती थी और इसलिए पुरातत्व के आधार पर वर्तमान स्थिति में यह तय कर पाना कठिन है कि इस दिशा में प्रथम प्रयोग कहाँ हुए थे।

वस्तुतः अनाज के सूख जाने पर इसको जुटा कर रखने और फिर इसको भून और कूट कर सुखाद्य बनाने का चरण स्वयं भी एक मध्यवर्ती चरण रहा लगता है। इसके लिए एक अल्पतम तकनीकी विकास की जरूरत थी। पर वन्य अनाजों में दाने आने से ले कर इनके गदराने तक वह इनको छील और मसल कर या, जहाँ जरूरी हुआ, सीधे बालियों को आग पर झुलस कर इससे भी हजारों वर्ष पहले से खाता आ रहा था जिसकी तिथि नियत करना कठिन है। कुछ देशों की स्थानीय परम्पराओं में इस चरण के अवशेष आज भी पाये जा सकते हैं, जैसे--भारत में होली और नवान्न के अवसरों पर जौ आदि की बालियों को सीधे आग की लपट परझुलस कर इन्हें मसल कर प्रसाद के रूप में खाना या विभिन्न पकवानों में एक-दो दाने उस आदिम चरण की यादगार के रूप में डालना।

आहार-संग्रह के चरण से आगे बढ़कर मनुष्य ने कृषि की ओर कदम क्यों बढ़ाया ? यह सवाल भी कम टेढ़ा नहीं है। आरम्भ में सरल भाव से यह सोच लिया गया था कि आहार-संग्रह और आखेट के चरण में मनुष्य का जीवन बहुत कष्टमय था और वह दिन-रात आहार जुटाने की ही चिन्ता में लगा रहता था। न आराम था, न अवकाश। अतः इस दारुण स्थिति से उबरने के लिए ही उसने कृषि का सहारा लिया। पर विगत दो दशकों में हुए कुछ अध्ययनों ने इस सरलीकरण को खण्डित करके इस समस्या को एक असाध्य गुत्थी का-सा रूप दे दिया। रिचर्ड ली[1] ने दक्षिण अफ्रीका के कुंग बुशमेन कबीले के अध्ययन के बाद यह दावा किया कि कुंग कबीला जिस सूखे और उजड़े पर्यावरण में रहता है उसमें भी कबीले की महिलाएँ केवल दो घण्टे के श्रम से अपने पूरे परिवार की गुजर के लिए पर्याप्त आहार जुटा लेती हैं और यह आहार पोषकता की दृष्टि से भी बहुत अच्छा होता है। पुरुष जब-तब शिकार करते हैं और इसके लिए दल बनाकर निकलते हैं और प्रायः कई दिनों की भाग-दौड़ के बाद ही उनके हाथ कोई शिकार लग पाता है, पर उनका शिकार पर निकलना उतना आहार की तलाश के लिए नहीं होता जितना अपना शौर्य और कौशल प्रकट करने के लिए। अकसर तो वे कई-कई दिन शिकार पर ही नहीं निकलते। इस नयी खोज ने आहार-संग्रही मनुष्य के विषय में प्रचलित मान्यता को तो बदला ही, साथ ही इसने एक नयी उलझन पैदा कर दी। यदि

मनुष्य आहार-संग्रह और आखेट से अपना गुज़र कर सकता था तो उसने कृषि की ज़हमत क्यों मोल ली ?

हार्लन[2] ने इस गुत्थी को कुछ और उलझा दिया था। उन्होंने तुर्की में वन्य रूप में उगे गेहूँ की हाथ से कटाई करने का और फिर एक कामचलाऊ दस्ता लगे आदिम किस्म के हँसिये से कटाई का प्रयोग किया और पाया कि जिस प्रकार के आदिम हँसिये का उपयोग वहाँ के मनुष्य ने पहली बार किया था उससे वह नंगे हाथों की तुलना में केवल बीस प्रतिशत अधिक अनाज जुगा सकता था। अन्तर इतना कम था कि यह समझ में नहीं आ रहा था कि आख़िर मनुष्य ने इतने जतन से हँसिये का आविष्कार क्यों किया ? इतना ही नहीं, उसने यह भी पाया कि एक परिवार केवल तीन हफ्ते के श्रम से वन्य रूप में उगे अनाज का इतना संग्रह कर सकता था कि इससे पूरे परिवार का गुज़ारा पूरे साल हो सके। वन्य गेहूँ पोषण की दृष्टि से भी काश्त के गेहूँ से श्रेष्ठ होता है। अब उनके सामने भी यही सवाल था कि मनुष्य ने आहार-संग्रह के मुक्त जीवन को छोड़कर किसानी की ज़हमत क्यों मोल ली ? यदि ऐसा किया भी तो कटाई के वे आदिम हथियार क्यों बनाये जिनके बिना उसका काम लगभग उतनी ही आसानी से चल सकता था।

कहाँ तो पहले से चली आ रही मान्यता के अनुसार आहार-संग्रही मनुष्य का जीवन पशुवत था और भोजन जुटाने की उसकी चिन्ता इतनी गहरी थी कि उसे सोचने-विचारने की फुर्सत ही नहीं थी, कहाँ इन नये प्रस्तावों के अनुसार जो ठोस अनुभवों पर आधारित थे, उसके पास फुर्सत-ही-फुर्सत थी। इन नयी खोजों ने विद्वानों के सामने एक नयी मुसीबत पैदा कर दी कि आखिर मनुष्य ने आहार-संग्रह और आखेट की निश्चिन्तता का जीवन छोड़ कर खेती की ज़हमत क्यों मोल ली ?

कृषि की ओर मनुष्य के अग्रसर होने की विशेष परिस्थितियों को पश्चिमी एशिया को सामने रखते हुए ही कल्पित करने के प्रयत्न किये जाते रहे हैं, क्योंकि खेती के अपेक्षाकृत पुराने प्रमाण पहले इस क्षेत्र से ही आये थे। इनमें से एक था चाइल्ड का प्रसिद्ध हिमयुग का सिद्धान्त।[3] इसके अनुसार विगत हिमयुग के दौरान पश्चिमी एशिया और उत्तरी अफ्रीका की जलवायु आज की अपेक्षा अधिक आर्द्र और ठण्डी हो गयी थी और इसकी समशीतोष्णता के कारण यहाँ वनस्पतियों और आखेट के पशुओं का बाहुल्य हो गया था और जीवन बहुत आसानी से चल रहा था। पर दस हज़ार ई. पू. के लगभग जब हिमयुग समाप्त होने लगा तो यहाँ की जलवायु अपेक्षाकृत अधिक शुष्क और गर्म हो गयी। पहले जहाँ आबादी का बिखराव पूरे क्षेत्र में था वहाँ अब यह क्रमशः सिमटकर नदियों के पार्श्वों पर और कुछ नखलिस्तानी क्षेत्रों में आ गयी और इस तरह जो दबाव पैदा हुआ उससे बचने के लिए मनुष्य ने स्वयं खेती करना आरम्भ कर दिया और लगभग इसी के साथ,

या इसके कुछ ही बाद, पशुपालन भी करने लगा। ब्रेडवुड को लगता रहा कि विगत 12,000 वर्षों के दौरान इस क्षेत्र की जलवायु में कोई खास परिवर्तन हुआ ही नहीं है, अतः उनके अनुसार कृषि का एक नाभिकीय क्षेत्र था, जो जैसा कि स्वाभाविक है, पश्चिम एशिया में ही था, जहाँ की अपनी मेधा और विशिष्ट परिस्थितियों के कारण कृषि का विकास हुआ और वहीं से इसका अन्यत्र प्रसार हुआ।[4] कुछ दूसरे अध्येता मानते रहे हैं कि हिमयुग के दौर में ही जब पश्चिमी एशिया की जलवायु अधिक खुशगवार थी, यहाँ की उर्वरता और सम्पन्नता के कारण आबादी में तेजी से वृद्धि हुई और इसके दबाव में ही खेती का आविष्कार करना पड़ा।[5] इन विविध प्रस्तावों में से किसी को सर्वथा त्याज्य या स्वीकार्य नहीं पाया गया है और इन्हें इस जटिल समस्या को सुलझाने के लिए की गयी अटकलबाजियों से अधिक महत्व नहीं दिया जा सकता।

वास्तविकता आधुनिक विद्वानों के अनुमानों की अपेक्षा पौराणिक विवरणों के अधिक निकट प्रतीत होती है, जिनसे प्रकट होता है कि मनुष्य ने कृषि का आरम्भ इसलिए किया कि आहार-संग्रह के चरण में कबीलाई अनियमितता के कारण और मौसम की अनिश्चितता के कारण वन्य अनाजों की प्राप्ति में जो अनिश्चितता बनी रहती थी उसे दूर किया जा सके। उसने कृषि को इसलिए अपनाया कि प्रकृत पौधे कहीं तो इतने सघन उग सकते थे कि उनमें अच्छी तरह बीज ही न लग सकें और कहीं इतने विरल कि उनका होना-न-होना ही बराबर था, वहाँ अनाजों के प्रतिस्पर्धी घास-मोथों को निर्मूल करके या भूमि का संस्कार करके, अब बीजों को समुचित दूरी पर और अविरल क्रम में बिखरा कर समुचित फ़सल पैदा की जा सके और अन्ततः इसलिए भी कि जिन क्षेत्रों में वन्य रूप में अनाज के पौधे नहीं उगते थे उनमें इनको बो कर और सिंचाई आदि की समुचित व्यवस्था करके अनाज की पैदावार बढ़ायी जा सके। पर इसका आरम्भ आहार-संग्रह के चरण में ही सबसे पहले वन्य उपज वाले क्षेत्रों की जंगली जानवरों और अन्य जंगली कबीलों से रखवाली करते हुए और फ़सल तैयार होने से पहले इसे नोचने-खसोटने के अपने निजी प्रलोभन को भी रोकते हुए, इस विषय में सामाजिक वर्जनाओं या वरुण (वर्जनात्मक) पाशों का विधान करते हुए ही किया गया, जिनके कारण कृषि से पहले के चरण से ही मुख्य फ़सलों—धान और यव—को वरुण प्राघास कहा जाने लगा था।[6]

विशेषज्ञों की एक सीमा यह होती है कि विशेष और सुनिश्चित की खोज में अतिरिक्त व्यस्तता के कारण उनका ध्यान प्रायः आम और प्रत्यक्ष चीज़ों की ओर नहीं जा पाता, अन्यथा उन्होंने कम-से-कम बागबानी आदि के उदाहरणों से इस समस्या के एक पहलू को अवश्य सुनिश्चित कर लिया होता। जंगल में और बाग में अन्तर यह होता है कि बाग में जो भी झाड़-झंखाड़ उग सकते हैं, उन्हें उगने नहीं

दिया जाता अपितु कतिपय चुने हुए पौधों को ही, एक निश्चित योजना के अनुसार ही, एक निश्चित अन्तराल पर ही लगाया जाता है ताकि इनका भरपूर लाभ पाया जा सके। ठीक यही बात कृषि के आरम्भ पर भी लागू होती है।

कृषि के आरम्भ के सन्दर्भ में हिमयुग आदि की भूमिका का कोई खास महत्व नहीं है। पहली बात यह कि हिमयुग का अन्तिम चरण चाइल्ड के अपने प्रस्ताव के अनुसार भी दस हजार ई. पू. में घटित हुआ था, जब कि कृषि का आरम्भ इससे कम-से-कम तीन हजार वर्ष बाद हुआ और इतना बड़ा अन्तराल कुछ कम नहीं होता। फिर हिमयुग के इस उत्तरवर्ती दौर के विषय में जलवायु की शुष्कता और निर्वाह-योग्य क्षेत्रों के संकोच की जो कल्पना की गयी थी उसमें इस बात का खयाल ही नहीं किया गया था कि कोई नया विकास अभाव और दुर्भिक्ष के दिनों में नहीं होता।[7] यह प्रस्ताव रखते हुए चाइल्ड के दिमाग़ में 'आवश्यकता आविष्कार की जननी है' का किताबी सूत्र तो रहा लगता है, पर इस बात का ध्यान नहीं कि आवश्यकता अभाव का पर्याय नहीं है। अभाव से अपेक्षाकृत मुक्त समाज इस मुक्ति के अनुरूप ही नयी आवश्यकताएँ पैदा करता और इनकी पूर्ति के लिए नये-नये प्रयोग करता जाता है और इस तरह स्वयं अपने द्वारा गढ़ी हुई चुनौतियों का सामना करता हुआ यह तब तक आगे बढ़ता रहता है जब तक आवश्यकताओं और चुनौतियों का यह सिलसिला चलता रहता है। किन्हीं भी कारणों से इसमें गतिरोध आने के साथ इसमें परिरक्षणवादिता आ जाती है। नयी आवश्यकताएँ पैदा करने के ठीक विपरीत यह अपनी आवश्यकताओं को घटाना आरम्भ कर देता है और यह सिलसिला उस पर पड़ने वाले दबावों और इनसे उत्पन्न होने वाले अभावों के समानान्तर जारी रहता है।

कृषि का आविष्कार सर्वप्रथम कहाँ हुआ, इस बात का निश्चय करना, जैसा कि हम कह आये हैं, आसान नहीं है। मोटे तौर पर इतना ही कहा जा सकता है कि उस पूरे क्षेत्र में जहाँ विभिन्न अनाज वन्य रूप में उगते थे, इनका संग्रह और उपभोग आहार-संग्रह काल से करते आ रहे जनों में से ही किसी ने इस दिशा में पहल की होगी। पर जैसा कि हम देख आये हैं, इस मामले में बार-बार पश्चिम एशिया का ही नाम दुहराया जाता रहा है जो ठीक नहीं है। हमें जो सूचनाएँ उपलब्ध हैं उनके आधार पर यह कहना अधिक सही होगा कि अपेक्षाकृत एक छोटी काल-सीमा के भीतर, कुछ ही शताब्दियों में, एक बहुत विशाल क्षेत्र में मनुष्य ने उन अनाजों में से कुछ को एकाधिक क्षेत्रों में उगाना आरम्भ कर दिया, जिससे प्रथम दृष्टि में यह लगता है कि इन सभी क्षेत्रों में स्वतंत्र रूप से कृषि का विकास हुआ और इनके बीच किसी सबसे प्राचीन और अन्य सभी के प्रेरक की खोज कर पाना कम-से-कम पुरातात्विक आधार पर तो असम्भव-सा ही है। उदाहरण के लिए पुरातत्व के आधार पर यह कैसे तय किया जा सकता है कि ईराक, तुर्की, सीरिया,

जोर्डन आदि के वे स्थल जहाँ सातवीं सहस्राब्दी ई. पू. में यव की खेती आरम्भ हो गयी थी भारत की विन्ध्य तलहटी—मगहरा, कोल्डिहवा—तथा लुंकरनसर तथा साँभर झील के बीच उससे कुछ पूर्ववर्ती धान की खेती को कैसे प्रेरित कर सकता था, या इसके ठीक विपरीत कैसे घटित हुआ हो सकता था ? फिर जब जौ की छह क़तारों वाली किस्म जो भारत में वन्य रूप में पैदा होती थी और जिसके प्रमाण हड़प्पा के स्थलों से तथा मेहरगढ़ से सातवीं सहस्राब्दी ईसापूर्व से प्राप्त होते हैं जो कृष्ट यव के प्राचीनतम नमूनों में से एक है और ईरान-ईराक़ के शिनाख्त किये गये स्थलों से केवल दो क़तारों वाले जौ के नमूने ही पाये जाते हैं और छह क़तारों वाला यव वहाँ बाद में पहुँचता है[9], यद्यपि यह जेरिको में पहले से मौजूद था, तो अन्तराल को देखते हुए क्या यह दावा किया जा सकता है कि ईरान-ईराक़ के क्षेत्र की दो क़तारों वाले जौ की खेती भारत की प्रेरणा से, या भारत की छह कतारों वाले यव की खेती जेरिको की प्रेरणा से आरम्भ हुई, या क्या यह माना जा सकता है कि भारत में जहाँ वन्य धान का कर्षण किसी रूप में आठवीं सहस्राब्दी में आरम्भ हो चका था, जो न केवल धान अपितु किसी भी अनाज की खेती का भी सबसे पुराना उदाहरण है, वहाँ वन्य रूप में उगने वाले अन्य अनाजों, यव और गेहूँ आदि की खेती का प्रयत्न नहीं किया गया होगा ?

पुरातात्विक दृष्टि से इस उलझी स्थिति का एक ही हल दिखायी देता है और वह यह कि भारत से लेकर भूमध्य सागर के तट तक को घेरने वाले महाअटन क्षेत्र में विचरण करने वाले आहार-संग्रहियों और शिकारियों ने कृषि का आरम्भ होने से पहले हजारों वर्षों से वन्य अनाजों को भी अपने आहार का अंग बना लिया था, यद्यपि यह उनकी जरूरत पूरी करने की दृष्टि से बहुत अपर्याप्त था। फिर, इस विशाल क्षेत्र में जहाँ कहीं भी पहली बार इन वन्य अनाजों को स्वयं उगाने का प्रयोग हुआ, इसकी सूचना कुछ ही शताब्दियों के भीतर पूरे क्षेत्र में फैल गयी और इसमें अलग-अलग स्थलों पर स्थायी बस्तियाँ बसा कर स्थानीय वन्य अनाजों की नस्लों की ही खेती आरम्भ हुई और इस तरह अलग-अलग अंचलों की स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार लोगों को स्वतः प्रयोग करते और अपनी भूलों से सीखते हुए आगे बढ़ना पड़ा।

दूसरे शब्दों में कहें तो यद्यपि यह तय करना कठिन है कि कृषि में पहल किसकी थी, पर इस सूचना के प्रसार के बाद इसका आरम्भ और आरम्भिक प्रयोग इस पूरे क्षेत्र में स्थान-स्थान पर होता दिखायी देता है। कृषि के आविष्कार के लिए सबसे उपयुक्त क्षेत्र कौन-सा रहा हो सकता है, इस पर कुछ विद्वानों ने[10] विचार करते हुए इसके लिए निम्न पाँच शर्तें सुझायी थीं :

1. अन्न प्रजातियाँ वहाँ वन्य रूप में पैदा होती रही हों;
2. जलवायु सह्य रही हो;

3. वर्ष के कुछ महीनों में तापमान बहुत ऊपर चला जाता रहा और सूखे की नौबत आ जाती रही हो;
4. मनुष्य वहाँ पहले से आबाद रहा हो; तथा
5. शिकार और वनस्पतियों का स्थानीय स्रोत स्थानीय आबादी का भरण-पोषण करने की दृष्टि से अपर्याप्त रहा हो।

यदि इन शर्तों को भारत पर घटित करें तो पायेंगे कि ये सभी इसे कृषि के मामले में पहल करने की दृष्टि से सबसे उपयुक्त क्षेत्र या कहें सबसे उपयुक्त क्षेत्रों में से एक सिद्ध करती हैं। भारतीय पुरातात्विक साक्ष्य जो राजस्थान की साँभर झील के पास से,उत्तर प्रदेश के महगरा और कोल्डिहवा से प्राप्त हुए हैं,अपनी निजी पहल से बहुत प्राचीन काल में ही खेती के आरम्भ के विषय में हमें आश्वस्त करते हैं। इनमें यदि किसी तरह की कमी रह जाती हो तो वह भारतीय परम्परा से पूरी हो जाती है जिसके अनुसार यव की खेती या कहें रबी की खेती से पहले देव अन्य धान्यों—खरीफ़ के धान्यों—की खेती भी करते थे। पर फिर वे ऐसे क्षेत्र में आ गये जहाँ धान की खेती अधिक कष्टसाध्य थी, अतः उनका सारा प्रयत्न रबी की खेती तक ही सिमट कर रह गया। ब्राह्मणों में इस प्राचीन परम्परा को इस रूप में दुहराया गया है कि जब अन्य सभी औषधियों ने देवों का साथ छोड़ दिया तो भी यव ने उसका साथ नहीं छोड़ा, अतः सभी औषधियों के सार-तत्व को उन्होंने यव में रख दिया। इसीलिए जब अन्य औषधियाँ पानी के अभाव में मुरझाने लगती हैं तब भी यह हरा रहता है। प्रकारान्तर से कहें तो, उन्होंने कृषि-कर्म उस क्षेत्र में आरम्भ किया जिसमें धान अधिक आसानी से उगाया जा सकता था और वहाँ से बाद में हटकर उस क्षेत्र में पहुँचे जहाँ यव आसानी से पैदा हो सकता था। महत्व-पूर्ण अनाजों के उल्लेख में भी सम्भवतः इसीलिए धान के बाद यव का--व्रीहियवौ--नाम बार-बार लिया जाता है। हम इस विषय में वायु पुराण का जो विवरण पीछे दे आये हैं उसमें उन भौतिक कारणों और अनुभवों को भी बहुत सटीक रूप में रखा गया है जिसमें यहाँ कृषि का आरम्भ हुआ और जो आधुनिक विद्वानों द्वारा किये जाने वाले अनुमानों की तुलना में अधिक विश्वसनीय और तर्कसंगत प्रतीत होता है। इसे पुनः सूत्र रूप में रखें तो, मौसम की अस्थिरता, जंगली कबीलों की संयम-हीनता, सूखे आदि के गम्भीर संकटों के दौर जिनमें खाद्य पदार्थों का अकाल-सा उत्पन्न हो जाता रहा, मनुष्य को इस समस्या का कोई स्थायी हल ढूँढ़ने को बाध्य करने लगा और इस विषय में सामूहिक सोच-विचार, जिसे प्रतीकात्मक रूप में प्रजापति के पास जाने और उनसे मार्ग-दर्शन लेने के रूप में रखा गया है, वन्य अनाजों पर आश्रित रहने के स्थान पर स्वयं अपनी पहल से इनकी व्यवस्थित खेती करने का कारण बना।

भारतीय साहित्य में कृषि-क्रान्ति के दौरान किये गये प्रयोगों और संघर्षों

को देवासुर संग्राम के रूप में पेश किया गया है और कृषि को यज्ञ का पुरातन रूप कहा गया और इन विवरणों में जितने स्पष्ट और विस्तार से हम इस इतिहास को सुरक्षित पाते हैं वह अन्यत्र किसी परम्परा में दुर्लभ है। अतः इन विवरणों पर दृष्टि डालना और इससे भी पहले सुर-असुर और यज्ञ आदि के मूल आशय को स्पष्ट करना प्रासंगिक होगा।

3
सुर और असुर

सुर और असुर शब्द एक-दूसरे के विलोम हैं। इसके बावजूद परम्परागत व्याख्याकार असुर शब्द की व्युत्पत्ति 'असु' नामक एक कल्पित धातु से करते रहे हैं जिसका मूल अर्थ क्षेपण, प्राण आदि[11] किया जाता रहा है। असुर शब्द का प्रयोग वैदिक साहित्य में अनेक बार देवों के विशेषण के रूप में भी हुआ है, इसी से सम्भवतः इसे सुर का विलोम न मानकर इसके लिए कोई भिन्न मूल तलाशने की आवश्यकता अनुभव हुई। निघण्टु के अनुसार, 'असु' प्रज्ञा[12], प्राण व जीवन[13] का पर्याय है। सायण असुर को क्षेपणशील[14], निरसनशील[15], प्रेरक[16], प्राणदाता[17], बलदाता[18] आदि अर्थों में ग्रहण करते हैं। सामान्यतः एक धातु से दर्जनों और कभी-कभी सैकड़ों शब्द निकलते हैं, पर यह 'असु' धातु ऐसी है जिससे केवल एक शब्द असुर निकला। यह तथ्य हमारे मन में इस व्युत्पत्ति के प्रति सन्देह पैदा करता है। वस्तुतः सुर और असुर शब्द केवल व्युत्पत्ति की दृष्टि से ही नहीं, अर्थ-विकास की दृष्टि से भी एक-दूसरे के विलोम हैं और इनको इसी रूप में ग्रहण करते हुए हम इनके मूल अर्थ को और इनके आपसी सम्बन्धों और विरोधों को समझ सकते हैं।

सू— जिसका मूल रूप चू भी हो सकता है, मूलतः जलवाची है, पर इसका प्रमुख भाव (चूने) टपकने वाला या निकलने वाला है, और यह बूंद के टपकने की ध्वनि का अनुकार रहा प्रतीत होता है। पर साथ ही पानी की धार के पतले छिद्र से तेज़ी से निकलने की ध्वनि भी ध्यान देने के योग्य है जिसका प्रयोग आप आज भी अपने बच्चे से सवाल करते समय करते हैं—सू-सू करना है ? जो भी हो, पैदा होना, निकलना, पैदा करना इसके धातुगत अर्थ बने जिनसे सुत, सुता, सवन, सुवन सविता, प्रसविता, सूत्-र, सुत्या, स्व(भोजन, धन)आदि शब्द निकले हैं। जिन शब्दों का प्रयोग जल के लिए हुआ है उन्हीं में से कुछ का प्रयोग प्रकाश, कांति आदि के लिए भीहुआ है।[20] सू—चू के प्रजनन और प्रचुरता वाले भाव से 'सु' उपसर्ग अधिक और अच्छे का भी द्योतक बना। प्रचुरता में प्र-चुः-ता को स्पष्ट लक्ष्य किया

जा सकता है।

अतः सुर शब्द का व्यवहार मूलतः उत्पादक (कृषिकर्मी) के लिए आरम्भ हुआ लगता है और इसके विपरीतार्थक रूप में असुर शब्द का प्रयोग प्रचलित हुआ। इसकी पुष्टि इस बात से भी होती है कि असुरों को अकर्मा, नि-अक्रतू, अव्रत, अधायु, गृध्नु, अयज्यू, अराध, अनप्नस आदि भी कहा गया है जिनका अर्थ है काम न करने वाला, दूसरों की कमाई पर पलने वाला, कंगाल आदि। इनके विपरीत देवों को सुकर्म, सुक्रतु, क्रतुविद, व्रतचरिष्णु, सुराध, श्रम और तप करने वाला आदि बताया गया है जो उनकी कर्मठता का सूचक है। इस तरह मूलतः सुर शब्द मोटे तौर पर वही अर्थ रखता था जो अर्थ 'आर्य' शब्द।

4
कृषि यज्ञ

यज्ञ का सम्बन्ध उपभोग और उत्पादन से रहा है और बाद में इसे एक आनुष्ठानिक रूप दे दिया गया। यज्ञ ही धन है[21], यज्ञ ही अन्न है[22], यज्ञ का ही सभी प्राणी भोग करते हैं[28], यज्ञ ही अपना (उत्पादित) भाग है[24], यज्ञ मधुसार है[25], यज्ञ ही श्रेष्ठतम कर्म है[26], यही प्रजापति या जनता का पालन करने वाला है[27], यज्ञ ही ज्ञान है[28], यज्ञ विश है, इसी में सभी जीव समाहित हैं[29], यज्ञ ही विश्व का आधार है[30], जिस बैल से खेती का काम होता है वह स्वयं भी यज्ञ ही है[34], संवत्सर जिसके ऋतु काल का ज्ञान कृषि के लिए आवश्यक था, और जिसके विशेष मौसमों में फल-फूल पैदा होते हैं, स्वयं भी यज्ञ है।[32] यज्ञकर्ता स्वयं भी यज्ञ है।[33] इसकी महत्ता यह है कि यह सभी प्राणियों और सभी देवताओं की आत्मा है।[34] मनुष्य और देवता सभी का गुजर-बसर यज्ञ पर ही निर्भर करता है।

इस तरह यज्ञ का सबसे महत्त्वपूर्ण पक्ष इसका उत्पादन पक्ष है। पशुचारण काल में सम्भव है, पशुवृद्धि को यज्ञ का रूप माना जाता रहा हो और मैथुन वाले या रेतःसेक वाले पक्ष पर ज़ोर उस काल का भी अवशेष हो सकता है, अन्यथा मैथुन वाले मामले में तो राक्षस भी यज्ञपरायण ही थे। जो भी हो, यज्ञ को आगे के चरण में कृषि-कर्म से या उत्पादन के उन्नत चरण से जोड़ लिया जाता है और फिर यह आनुष्ठानिक रूप ले लेता है।

यदि हम यज्ञ के विवरणों पर ध्यान दें तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि इसका सम्बन्ध कृषि-कर्म से ही था। ऋग्वेद में एक पहेली बुझायी जाती है कि इस पृथ्वी का परम अन्त क्या है? भुवन की नाभि क्या है?[35] और अगली ऋचा में उत्तर दिया जाता है कि यह यज्ञ की वेदी ही पृथ्वी का परम अन्त है और यज्ञ ही भुवन

की नाभि है।[36] ब्राह्मणों आदि में पृथ्वी को ही वेदी बताया जाता है।[37] इस वेदी से ही सब कुछ प्राप्त किया गया, अतः इसका नाम वेदी पड़ा।[38] जहाँ तक पृथ्वी है वहाँ तक वेदी है। जहाँ तक वेदी है वहीं तक पृथ्वी है।[39] धरती को तीन अँगुल जोत कर खेती की जाती है, अतः वेदी की मोटाई भी तीन अँगुल की है।[41] वस्तुतः जो जुती हुई खेती की भूमि या उर्वी है वही वेदी है[41] और उसी से हर चीज़ पैदा होती है।

क़बीलाई सामूहिक सोच-विचार और निर्णय को भारतीय परम्परा में प्रतीकात्मक रूप में प्रजापति के पास जाने और उनके सुझाव पर नये तरीके अपनाने के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इन निर्णयों में, जैसा कि हम कह आये हैं, पहला था वन्य अंचलों का बँटवारा, ताकि प्रत्येक क़बीला मनमानी लूट-खसोट छोड़कर अपने क्षेत्र की वन-सम्पदा की रक्षा करे और प्राकृतिक सम्पदा का भरपूर उपयोग कर सके। यह बँटवारा मध्य-पाषाण काल तक पूरा हो चुका लगता है। दूसरा विकास था कुछ अधिक दूरदर्शी लोगों द्वारा पशुसम्पदा का प्रबन्ध और पशुपालन की दिशा में प्रस्थान और इन दुहरे प्रयासों के बाद सम्भवतः हज़ारों वर्षों बाद सूखे आदि की स्थितियों में सस्यों की रक्षा के लिए सिंचाई आदि का प्रबन्ध और फिर ऐसे क्षेत्रों में जहाँ ये धान्य प्रकृत रूप में नहीं पैदा होते थे, दूसरी वनस्पतियों की सफ़ाई करके इनके लिए क्षेत्र-विस्तार।

5
देवासुर संघर्ष

देवासुर संघर्ष का आरम्भ इस अन्तिम दौर में शुरू होता है। कारण, कृषि के लिए क्षेत्र-विस्तार करते समय उन जनों ने जिन्हें देव की संज्ञा प्राप्त हुई जंगलों को जलाना आरम्भ कर दिया और यह एक ऐसा निर्णय था जिसका विरोध दूसरे कबीले ही नहीं, अपितु इन कबीलों के भी बहुत-से लोग कर सकते थे। इस वन-दहन अभियान को ही उस प्राथमिक यज्ञ का नाम दिया गया है जो प्रथम धर्म था और जिसका क्रमशः विस्तार किया जाता रहा है।[42] यह संघर्ष कहाँ आरम्भ हुआ, या कहें कृषि की दिशा में ये आरम्भिक प्रयोग किस क्षेत्र में आरम्भ हुए, इसके विषय में हमें क्षीण संकेत ही मिल पाते हैं।

देवों की दिशा पूर्व बतायी गयी है।[43] यह अग्नि से और पुरोहितों से सम्बन्धित है।[44] मात्र दिशा से क्षेत्र का निर्धारण कठिन है। हम इतना ही कह सकते हैं कि वैदिक साहित्य के रचनाकाल में वैदिक जन जिस क्षेत्र में रहते थे उससे पूर्व कहीं यह प्रयोग किया गया होगा। जिन जनों ने इस दिशा में पहल की थी उनकी परम्परा के अनुसार उनके पूर्वज दक्षिण की ओर से उस क्षेत्र में आये प्रतीत होते हैं; कारण,

दक्षिण को पितरों की दिशा बताया गया है और उत्तर को मनुष्यों की दिशा।[45] इस पहल से पहले तक न कोई देवता था, न ही असुर। यदि सुर का अर्थ उत्पादक है तो इस उत्पादन कार्य का आरम्भ होने से पहले न तो कोई सुर हो सकता था, न ही इसका विलोम असुर शब्द अस्तित्व में आ सकता था। सम्भव है, वे सभी मनुष्य ही कहे जाते ही रहे हों। सम्भव है, मनु नाम के एक आदि पुरुष की कल्पना बाद के चिन्तन की देन हो और आर्थिक अवस्था में आने वाले प्रत्येक परिवर्तन के साथ इस आदि पुरुष का एक नया रूप जुड़ता गया हो। मन्वन्तरों के साथ या मनुष्य के सांस्कृतिक जीवन में घटित होने वाले क्रान्तिकारी परिवर्तनों के साथ अलग-अलग मनुओं की कल्पना की गयी प्रतीत होती है, जिसका फलक आगे के युगों में अधिक बढ़ा दिया गया। यह मात्र एक सम्भावना है, इसके विषय में कुछ भी निश्चय के साथ नहीं कहा जा सकता।

जब जंगलों को जलाकर कृषि के लिए विस्तृत और तृण-गुल्म-रहित भूमि तैयार करने का काम आरम्भ हुआ तो पहली बार ये आग लगाने वाले लोग देव कहे जाने लगे।[46] और कृषि उत्पादन के साथ वे सुर या उत्पादक हो गये। पहले मनुष्य कन्दमूल का कच्चा ही सेवन करता था, पर इस अभियान के साथ वह पके भोजन के दिशा में भी प्रयोग करने जा रहा है। देवता अग्नि के माध्यम से ही अपना भोजन ग्रहण करते हैं। अपक्व भोजन मानुषी या वन्य जीवन से जुड़ा हुआ है और पका भोजन इस देव-समाज से। अतः यज्ञ और व्रत के अवसर पर देवताओं को पक्वान्न का भोग चढ़ाने से पहले मनुष्य केवल वही आहार ग्रहण कर सकता है जो इससे पहले वह वन्य मनुष्य के रूप में ग्रहण करता था।[47]

देवताओं और असुरों के बीच हुए संघर्ष में एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि देवताओं ने असुरों को शस्त्र से पराजित नहीं किया।[48] उन्होंने वन-दहन से, महा-हवि से असुरों को पराजित किया।[49] उन्होंने अपनी नयी उत्पादन पद्धति से या शाकमेध से असुरों को पराजित किया।[50] उन्हें ब्रीही और यव से या वरुण-प्रघासों से असुरों पर विजय मिली।[51] वे यज्ञ के द्वारा असुरों को परास्त करने में सफल हुए।[52] असुरों का विरोध यज्ञ से है।[53] उनकी शत्रुता क्षत्रियों से नहीं, ब्राह्मणों से या उन महायज्ञ के प्रवर्तकों से है। वे ही राक्षसों के अपहन्ता हैं।[54] अग्नि ही राक्षसों के अपहन्ता हैं।[55] संवत्सर प्रजापति या जनता का पालक है।[56] यज्ञ जनता का पालक या प्रजापति है।[57] यह विस्तृत धरती भोजन पात्र है, प्रजापति है।[58] प्रजनन या उत्पादन ही प्रजापति है।[59]

देवता और असुर जब इस रूप में विभाजित नहीं हुए थे तब वे एक ही पिता की और एक ही माता पर आश्रित सन्तानों की तरह थे। दोनों प्रजापति के पुत्र हैं।[60] पर कृषि की ओर अग्रसर होने के साथ वे सौतेले (प्रतिस्पर्धी) भाई बन गये।[61] पिता तो एक ही रह गया, पर माताएँ दो हो गयीं। एक ही माता वह फल,

फूल, कन्द, आखेट सब कुछ स्वतः देने वाली धरती या दिति और दूसरे की माता वह धरती जिसको जलाकर तृण-गुल्म-हीन बना दिया गया है। यह अदिति है। यह स्वतः कुछ नहीं देती, इससे श्रम और तप से ही कुछ प्राप्त किया जा सकता है।

6
आरम्भिक कठिनाइयाँ

जिन लोगों ने कृषि की दिशा में पहल की उनके सामने कई परेशानियाँ थीं। पहली समस्या तो यह कि सभी इस बात पर सहमत नहीं थे कि वनस्पतियों को, जो स्वतः फल-कन्द देती हैं, जलाकर अपने एक विश्वस्त साधन-स्रोत को समाप्त किया जाये। कुछ लोग ही इसके पक्ष में हो सकते थे, शेष इसका विरोध कर रहे थे। जिन्होंने यह रुख अपनाया कि इनकी रक्षा की जाये उनको राक्षस कहा गया।[62] इस तरह राक्षस और असुर दोनों समानार्थी हो गये।

एक दूसरी आशंका यह थी कि क्या यह बृहद् प्रयोग सचमुच सफल हो पायेगा? सम्भवतः ऋतु-काल का जो अध्ययन किया गया था वह बहुत सही नहीं था। देवता पहले बीज बोने के लिए बिलकुल ठीक समय का चुनाव नहीं कर पाते थे। वन्य फसलें यूँ भी समय से पहले पक कर तैयार हो जाती हैं। शतपथ ब्राह्मण में इस प्रसंग को एक रूपक के द्वारा प्रस्तुत किया गया है। ऋतुओं ने देवों से यज्ञ में अपना हिस्सा माँगा, पर देवों ने ऐसा करने से इनकार कर दिया। ऋतुएँ देवों से रूठ कर चुपके से असुरों की ओर चली गयीं, जो कि इनको अप्रिय और इनसे द्वेष करने वाले सौतेले भाई थे। इसके बाद असुरों को खूब समृद्धि मिली। वनस्पतियाँ बिना जोते-बोये उनके लिए खूब फसलें दे रहीं थीं, वे पक कर तैयार हो चुकी थीं जब कि देव अभी जोतने-बोने में लगे हुए थे। वे इस पर सोच-विचार करने लगे और तय किया कि ऋतुओं को वापस बुलाया जाये। देवताओं ने अग्नि को ऋतुओं को मना कर लाने को भेजा और अग्नि ने ऋतुओं को बताया कि उसने ऋतुओं को यज्ञ में हिस्सा देने के लिए देवताओं को मना लिया है। इत्यादि।[63]

ऋतुओं का यह विपर्यय एक बहुत बड़ी कठिनाई थी। एक बार को लगा कि खेती का काम देवों को सदा के लिए छोड़ देना पड़ेगा। कारण, ऋतुओं के अतिरिक्त स्वयं यज्ञ के भी रूठ कर चले जाने का उल्लेख पाया जाता है और यहाँ भी देव उसे किसी तरह मना कर लाने की कोशिश करते हैं।[64] एक बार जंगलों को जला देने के बाद उनके पास दूसरा चारा भी क्या था? जले हुए जंगल में वनस्पतियाँ नष्ट हो चुकी थीं और उन्हें उगने में वर्षों का समय लगता, यज्ञ का यह रूठना सम्भवतः

समय से वर्षा आदि न हो पाने के कारण नियत मौसम में बोआई आदि न हो पाने या बोआई के बाद सूखे आदि से सम्बन्धित है। अर्थव्यवस्था में क्रान्तिकारी परिवर्तन के साथ पहला अनुभव अधिक दारुण होता ही है। यदि क्षेत्रीय विभाजन न हो चुका होता तो शायद खेती का विचार छोड़कर देवों ने भी अपनी पुरानी लीक अपनायी होती और कहीं अन्यत्र खिसक गये होते। पर अब तो उनके जीने-मरने का सवाल पैदा हो गया था इसलिए वे उससे जुड़े रहे।

अपने आरम्भिक चरण में खेती ज़मीन को बिना जोते बोए ही की गयी लगती है। जंगल को जलाया और फ़सल का समय आने पर उसी की राख आदि में बीज बिखेर दिये, जब तक भूमि की उर्वरता रही तब तक खेती की और फिर नये जंगलों को जलाया। (यह झूम खेती भारत के अनेक जंगली कबीलों में इस शताब्दी तक जारी है।) पर जल्द ही यह समझ लिया गया कि यदि ज़मीन को जोता जाए तो एक ही क्षेत्र में बहुत लम्बे समय तक खेती की जा सकती है। बोआई ठीक किस समय की जाए, ज़मीन में कितनी नमी होनी ज़रूरी है, एक नियत भूभाग में कितने बीज डालें, या विभिन्न धान्यों के बीजों के बीच कितनी दूरी होनी चाहिए, बोने के लिए रखे गये बीज कैसे होने चाहिए, उन्हें कीड़ों आदि से कैसे बचा कर रखा जाए कि उनकी उर्वरता बनी रहे, ये तमाम बातें क्रमशः प्राथमिक प्रयोगों और कठिनाइयों से समझ में आती गयीं। यज्ञ में मुहूर्त का विचार, अर्थात् इसके लिए बिल्कुल उपयुक्त ऋतु-काल का ध्यान, जिसे कर्मकाण्डीय यज्ञों ने अपनी तार्किक परिणति पर पहुँचा दिया और जिसने ही आगे चलकर फलित ज्योतिष को जन्म दिया, फसल की बोआई के लिए उपयुक्त ऋतुकाल या कहें इस कृषि-यज्ञ के आरम्भ के लिए उपयुक्त मौसम की पहचान की देन है। विद्वान यह मानते हैं कि भारत में ज्योतिष के विकास में यज्ञों का बहुत बड़ा हाथ है, कारण इनके लिए उपयुक्त ग्रहों नक्षत्रों का ध्यान रखा जाता था। उनका यह विचार ठीक है। वे सिर्फ़ इस बात का ध्यान नहीं रखते कि यह यज्ञ का कौन सा रूप था, जिसके लिए ऋतु काल का उचित ध्यान इतना ज़रूरी था। इसके पीछे अपरिहार्यता क्या थी, इसका वे कोई संकेत नहीं देते। केवल दिन और रात के चक्र से बोआई के लिए सही समय का ज्ञान नहीं हो सकता था। चन्द्रमा भी इसमें सहायक नहीं हो सकता था। वर्षा और गर्मी का परिवर्तन बहुत दूर तक सहायक नहीं हो सकता था। यहीं से ग्रहों-नक्षत्रों की ओर आदमी का ध्यान जाता है और आज तक ग्रामीण किसान इन ग्रहों-नक्षत्रों के आधार पर ही अपनी कृषि के लिए, विशेषतः बोआई के लिए, समय का विचार करते हैं।

बोने से पहले बीजों की परीक्षा भी आवश्यक थी। अनाजों पर कीड़ों आदि का असर हो जाना एक आम सी बात थी। पर इसके बावजूद बीज उग सकते थे। बोने से पहले एक बार यह देख लेना ज़रूरी था कि उनके उगने की सम्भावना है

भी या नहीं और बोने का ठीक समय आ गया है या नहीं। आज भी किसान बोआई से पहले, इसका महूर्त विचार-समय-विचार करते हैं। एक कलश या लोटे में पानी लेकर किसान खेत पर जायेगा और इसके एक कोने में बीजों को बिखेर का पानी डाल कर चला आयेगा। वास्तविक बोआई इसके हफ्तों बाद शुरू होती है। आज इसका रूप रस्मी ही रह गया है। आरम्भ में इन परीक्षणों का रूप वैज्ञानिक था। रामनवमी के दिन आज भी ब्राह्मण जई या जौ के इन कल्लों को यजमान की चोटी में बाँधते हैं। यह जई और विजयादशमी का पर्व है। हम अन्यत्र कह आये हैं कि जय का या विजय का अर्थ पहले अधिक व्यापक था। कुछ विद्वान मानते हैं कि राम कथा का सम्बन्ध कृषि से है। राम का अर्थ किसान और सीता का हलाई है। इस दृष्टि से ये तथ्य कुछ रोचक हैं। जो भी हो, कृषि-यज्ञ की सफलता असुरों पर एक विजय थी, इसे बार-बार दुहराया ही गया है। सीता जनक या उत्पादन कर्मी, कृषिकर्मी पिता की दुहिता है और इसका जन्म मानव पिता और माता से नहीं होता, अपितु असुरों द्वारा मारे गये उन ब्राह्मणों के रक्त से होता है जो घड़े में भर कर ज़मीन में रख दिया गया था। यह उस बलिदान की सजीव मूर्ति है जो कृषि-कर्मियों को इस नवप्रवर्तन के लिए करना पड़ा था। कृषि-क्रान्ति निश्चय ही नीरव क्रान्ति नहीं थी। इसके साथ भी बलिदानों की एक कथा है जो अनेक रूपकों और परवर्ती कथाओं और चरित्रों से मिल कर कुछ दुर्बोध हो चली है।

इस विषयान्तर को छोड़कर हम इस तथ्य पर आयें कि अपने आरम्भिक प्रयोगों के बाद इन कृषिकर्मियों को पशुधन के बाद एक नया और अधिक विश्वसनीय आधार प्राप्त हुआ और इससे उनको अपने अभावों पर और कुपोषण पर विजय मिली। वरुण प्राघासों या व्रीहि और यव की इस प्राथमिक खेती के बाद प्रजा वरुण के बन्धन से मुक्त हुई—'इस फल को इस समय तक न खाओ', 'इन सीमाओं को मत तोड़ो' का बन्धन टूटा। पर यह टूटना नये बन्धनों की सृष्टि भी थी, कृषि सम्बन्धी बन्धनों या पाबन्दियों का आरम्भ। जो भी हो, अब इन लोगों को जो सम्पन्नता प्राप्त हुई उसके कारण ये पहले की अपेक्षा अधिक स्वस्थ और निष्पाप हो गये।[65]

इस सफलता के बाद अब वे वन्य औषधियों और कन्दों पर निर्भर नहीं रह गये। यह प्रकृति पर उनकी एक विजय थी, इसके एक बहुत बड़े रहस्य का भेदन। अब औषधियाँ उनकी पत्नियाँ हो गयीं।[66] पत्नी का अर्थ है पालिता या वह जिसका पालन किया जाए। अब धरती उनकी पत्नी हो गई।[67] इससे उन्हें एक स्वराज्य या आत्मनिर्भरता मिल गयी।

7
कृषि यज्ञ का विस्तार

इन सफलताओं के बाद देवों को एक नया विचार सूझा कि क्यों न यज्ञ का विस्तार किया जाए। दूसरे शब्दों में कहें तो कृषि के प्राथमिक प्रयोग तो केवल उस क्षेत्र तक सीमित थे जो देवताओं के अपने हिस्से में पड़ता था, पर इसके बाद उन्हें यह बात सूझी कि असुरों के क्षेत्र को भी कृषि के लिए ले लिया जाए।[68] उनके मन में अश्वमेध और राजसूय का या कहें कृषि-भूमि के विस्तार का लोभ पैदा हुआ और यहीं से वह दुर्धर्ष संघर्ष आरम्भ होता है जिसका सिलसिला हज़ारों वर्ष तक निरन्तर चलता रहता है जो आज तक ज़ारी है। यज्ञ जब अश्व का रूप धारण करके जंगलों में विचरने लगा, देवता जब मनमानी पर आ गये तो यह असुरों के लिए जीने-मरने का सवाल बन गया। उन्हें उनके अपने क्षेत्र से निर्वासित किया जा रहा था और वे पूरी तरह विपन्न हो रहे थे।

लगता है जंगलों में या कहें पड़ोसी क्षेत्रों के जंगलों में आग लगाने का काम बहुत डरते-डरते और चोरी छिपे किया गया। कारण कुछ थोड़े से लोग ही कृषि की ओर अग्रसर हुए थे। असुर संख्या में अधिक थे और उनके सामने देव दयनीय स्थिति में थे।[69] धोखे से आग लगाने या यज्ञ का विस्तार करने की इस घटना का विवरण पुरोहिती तोड़-मरोड़ के बावजूद शतपथ ब्राह्मण की एक कथा में बहुत विश्वसनीय रूप में प्रस्तुत किया गया है : देवों ने कहा, अब चूँकि हमने यज्ञ कर लिया, अतः आओ हम इस सत्य का विस्तार करें। उन्होंने यज्ञ का आयोजन किया पर असुरों को इसका पता चल गया। उन्होंने कहा **देवों ने यज्ञ कर लिया है और अब वे इस सत्य का प्रसार कर रहे**। आओ इकट्ठा होकर हम अपना हिस्सा माँगें। असुरों को देख कर देवों ने यज्ञ को समेट लिया और कुछ और करने लगे। असुर यह सोच कर कि ये तो कुछ और कर रहे हैं, वहाँ से हट गये। उनके चले जाने पर देवता आगे का आयोजन करने लगे। असुरों को फिर इसकी गन्ध मिल गयी। वे फिर लौट कर आये, पर उन्हें आते देख कर देव फिर कुछ और करने लगे। इस बार भी असुर यह सोच कर वहाँ से हट गये कि ये तो कुछ और कर रहे हैं। यह नाटक तब तक चलता रहता है जब तक यज्ञ का समापन नहीं हो जाता और इसकी समाप्ति के साथ असुर पराजित नहीं हो जाते।[70] यहाँ यह बात महत्वपूर्ण है कि असुरों को देवों से नहीं उनके यज्ञ से विरोध है, यदि वे यज्ञ न करते, जंगलों को आग न लगाते तो उनको इनसे किसी तरह की आपत्ति नहीं होती।

पुरानी जीवन-पद्धति और नयी उत्पादन-रीति का यह संघर्ष बहुत रोचक है। असुरों को देवों से भले शिकायत न हो, कारण जब तक वे उनके जंगलों को नहीं जलाते तब तक उनको कोई क्षति नहीं पहुँचती, पर देवों को असुरों से शिकायत है।

वे प्रायः उनके जानवरों को छीन ले जाते हैं। उनके कबीले अकस्मात आ कर उनकी तैयारी हो रही फसलों को उजाड़ डालते हैं। सम्भवतः मछली का शिकार करने के लिए वे तालाबों पोखरों में मादक या विषैली जड़ी बूटियाँ डाल देते हैं जिनसे उनका पानी पीने योग्य नहीं रह जाता और देवों के मवेशी भी इस पानी को पीकर मर जाते हैं।[71] अतः ठीक पड़ोस में जंगलों का और उन जंगली कबीलों का होना उनके अस्तित्व के लिए निरन्तर खतरा बना रहता है।[72] केवल अतिरिक्त भूमि प्राप्त करने का लोभ ही नहीं, अपने अस्तित्व और अपनी उत्पादन-पद्धति को जीवित रखने की चुनौती भी देवों के वन-दहन कार्यक्रम का कारण बना हुआ था, और इस क्रम में वे उससे कहीं बहुत अधिक भूमि की सफ़ाई करते जा रहे थे जिसका सार्थक उपयोग वे अपने बल-बूते पर कर सकते थे। इस अतिरिक्त भूमि का उपयोग वे चारण भूमि के रूप में ही कर सकते थे और करते रहे।

8
पूर्वी क्षेत्रों से देवों का पलायन

जीने मरने के इस संघर्ष में पहली बार हार का सामना देवताओं को ही करना पड़ा। असुरों ने उनका जीना दूभर कर दिया और वे पूर्व का अपना निवास छोड़ कर भागने को विवश हो गये।

देवों के प्राचीन निवास के विषय में तो यह उल्लेख मिलता है कि वे पूर्व में रहते थे, पर असुरों का निवास कहाँ था, इसका कोई संकेत नहीं मिलता। कारण स्पष्ट है। उस सीमित क्षेत्र को छोड़कर जहाँ देवों ने कृषि का आरम्भ किया था शेष सभी कबीले आसुरी जीवन ही बिता रहे थे। वे वृत्र थे, वे चारों ओर फैले हुए थे, कोई स्थान उनसे शून्य नहीं था।[73] अतः पलायन के बाद देव जहाँ भी पहुँचते हैं उन्हें प्रतिरोध का सामना करना पड़ता है और उनको असुर पराजित कर देते हैं। अन्ततः वे उत्तर की ओर जाते हैं और यहाँ पहली बार उन्हें कुछ सफलता मिलती है या कम-से-कम उनका कोई प्रतिरोध नहीं होता। सम्भवतः इस उत्तर के तराई क्षेत्र से होकर ही वे उस क्षेत्र में आते हैं जहाँ वे अपनी कृषि संस्कृति का सुदृढ़ आधार रखते हैं और क्रमशः बहुत बड़े भू-भाग पर, उनके अपने शब्दों में 'समस्त भुवन' पर, अपना अधिकार कर लेते हैं और इसे कृषि और चर भूमि में परिवर्ति कर देते हैं। जिस क्षेत्र में उनकी पराजय नहीं हुई उसका नाम है अपराजिता दिशा और यह अपराजिता दिशा सारस्वत क्षेत्र से पूर्वोत्तर के कोण पर है।[74] पूर्व के अपने क्षेत्र से भगाए जाने की उनकी याद बहुत बाद तक बनी रहती है।

पर उस आदिम कृषि का सहारा लेने वाले सभी जन पश्चिम की ओर ही नहीं आ गये। कुछ जन उसी क्षेत्र में जहाँ ठिकाना मिला रह गये। झूम खेती या जंगल जलाकर जब तक जमीन में उर्वरता रहे या कम-से-कम जब तक जंगली घास-फूस से पूरा क्षेत्र इस तरह घिर न जाए कि इसमें अनाज पैदा करना असम्भव हो जाए, तब तक खेती करना और फिर नये क्षेत्र की ओर बढ़ जाना, इस शताब्दी तक जिन क्षेत्रों में कुछ कबीलों में प्रचलित रहा है, सम्भव है ये उन आदिम कर्षकों के ही अवशेष हों।[75]

उत्तर के उस तराई क्षेत्र में, जो बाद के निवास से पूर्वोत्तर में बताया गया है, यदि देवों को अपराजित बताया गया है तो इसका केवल यही आशय हो सकता है कि यह क्षेत्र उस समय में आबाद नहीं था और इसलिए यहाँ किसी तरह के प्रतिरोध का भी प्रश्न नहीं था। इसके साथ ही यह उल्लेख भी आता है कि सोम को राजा बनाकर देवताओं ने अपनी विजय प्राप्त की और अपना खोया हुआ क्षेत्र प्राप्त किया। इससे यह संकेत मिलता है कि उत्तर का यह क्षेत्र अपेक्षाकृत भाट और दलदल भरा था जहाँ वन्य रूप में गन्ना पैदा होता था। इसने तात्कालिक रूप में देवों को सहारा दिया पर अकेले गन्ने के सहारे न तो जीवित रहा जा सकता है न ही देवता स्वयं रह सके। कृषि के उपयुक्त भूमि का वहाँ अभाव था। उन्हें इस बीच बराबर इस बात की चिन्ता बनी रही कि यज्ञ को पुनः कैसे प्रतिष्ठित करें। और इसीलिए उन्हें क्रमशः पश्चिम की ओर बढ़ना पड़ा और इधर आकर वे सरस्वती की उपत्यका में उतरे और एक विशाल क्षेत्र में फैल गये।

सरस्वती अपनी धाराएँ बहुत तेजी से बदलती रही है और इसलिए इसके पार्श्वों पर उन्हें आरम्भ में चराने के लिए तथा खेती का काम शुरू करने के लिए कुछ ऐसी भूमि सहज ही मिल गयी होगी जिसमें किसी के बसने से यहाँ के स्थानीय वन्य जनों को आपत्ति नहीं रही होगी। सम्भवतः उन्हें इस प्रकार की भूमि से कोई लगाव भी नहीं रहा हो सकता है। पर शतपथ की एक कथा और पौराणिक वामनावतार की कथाओं से लगता है कि इस क्षेत्र में बसने से पहले या इसे कृषि के उपयोग के लिए अपने हिस्से में लेने के लिए उन्हें स्थानीय कबीलों से अनुमति लेनी पड़ी। शतपथ में कहानी निम्न प्रकार है :

'देवता और असुर दोनों प्रजापति की सन्तानें थी। उनमें प्रतिस्पर्धा हुई। असुरों ने देवताओं को पछाड़ दिया और यह सोचकर कि सारी दुनिया हमारी है, वे बोले, हम इस धरती का बँटवारा करके गुजर करें। वे पूर्व से पश्चिम की ओर बैल के चमड़े से धरती को बाँटने लगे। यह बात देवों ने सुनी। वे सोचने लगे कि असुर धरती का बँटवारा कर रहे हैं। हम उनके पास चलें और उनसे पूछें कि हमारा क्या होगा? अगर हमें अपना हिस्सा न मिला तो हम कहाँ जाएँगे? वे विष्णु रूपी यज्ञ को नेता बनाकर उनके पास पहुँचे। वे बोले, तुम लोग धरती को

बाँट रहे हो। इसमें हमारा भी तो हिस्सा है। असुरों ने कुछ अनमनेपन से कहा, विष्णु जितनी जगह घेरेगा उतनी जगह हम तुम्हें दे देंगे। विष्णु का आकार बहुत छोटा था, पर देवताओं को इस पर आपत्ति नहीं हुई। उन्होंने कहा, जिसने हमें यज्ञ भर के लिए जगह दे दी उसने हमें सब कुछ दे दिया।

'उन्होंने विष्णु को पूर्व की दिशा में रखा और दक्षिण, पश्चिम तथा उत्तर की ओर से क्रमशः गायत्री, त्रिष्टुप् और जगती छन्दों से घेर दिया। आग को सामने करके वे अर्चना और श्रम करने लगे और उसी से इस सारी पृथ्वी को प्राप्त कर लिया। इसीलिए कहा जाता है कि जितनी विस्तृत यह वेदी है उतनी ही यह पृथ्वी है। इसी से उन्होंने इस समस्त भुवन को प्राप्त किया और अपने सौतेले भाइयों को परास्त कर दिया।

'फिर यह विष्णु थक गया। पर तीन तरफ से छन्दों से और चौथी ओर से अग्नि से घिरा होने के कारण उसके पास भाग निकलने का कोई रास्ता नहीं था। अतः वह वनस्पतियों की जड़ों में छिप गया। उसे अदृश्य देख कर देवता उलझन में पड़ गये। वे सोचने लगे कि चारों ओर से घिरा होने के कारण विष्णु भाग तो सकता नहीं, वह यहीं कहीं होगा। उसे इसी जगह खोजो। क्रमशः खोदते हुए वे उसे खोजने लगे। उन्होंने उसे तीन अंगुष्ठ नीचे ज़मीन में छिपा पाया। इसीलिए यज्ञ की वेदी तीन अंगुल गहरी होनी चाहिए।'

विष्णु ने अपने को वनस्पतियों में छिपा लिया था अतः उन्होंने यह कहते हुए कि 'तुम पोली मिट्टी के हो, कल्याणकारी हो', दक्षिण की ओर से उसे घेर दिया। कारण, **इस धरती को पाने के बाद उन्होंने इसे पोली और कल्याणकारी बनाया था।** पश्चिम की ओर से घेरते हुए कहा, 'तुम आनन्ददायक हो, सुसद्य हो।' उत्तर की ओर से घेरते हुए कहा, 'तुम उर्वर हो, पयस्वती हो।' क्योंकि **सर्वप्रथम इस धरती को पाने के बाद उन्होंने इसे उर्वर और पयस्वती बनाया था।**[77]

इस अन्तर्कथा में गहरे भाववादी पुट के बावजूद इस बात को आसानी से लक्ष्य किया जा सकता है कि यह जंगलों की सफ़ाई और कृषि की दिशा में एक नये विकास को रेखांकित करती है। विष्णु यज्ञ है,[78] विष्णु अग्नि है, क्योंकि अग्नि ही यज्ञ है।[79] विष्णु ने जो पहले देखने में बहुत छोटा था, (प्रज्वलित होकर) अपना प्रबल रूप धारण कर लिया तो पूरी धरती को—और परवर्ती विवरण के अनुसार तीनों लोकों को[80]—अपने अधिकार में ले लिया, और इस तरह एक बहुत बड़ा भूभाग देवों के अधिकार में आ गया और असुर इससे वंचित हो गये। विष्णु को तीन ओर से घेर रखा गया था ताकि वह एक ही दिशा में आगे बढ़े—हवा का रुख देखकर आग इस तरह लगायी गयी थी कि इससे स्वयं वैदिकों के क्षेत्र पर प्रभाव न पड़े और आग इच्छित दिशा में ही बढ़े। विष्णु का थक जाना धरती का कुछ समय के बाद अनुर्वर हो जाना या परती पड़ जाना है जिसमें जलाकर साफ़

की गई भूमि में कुछ फसलों के बाद घास-फूस उग कर उसे कृषि के लिए बेकार बना देते हैं। यही विष्णु का इन वनस्पतियों में, इनकी जड़ों में, छिप जाना है। और तीन अंगुल खोदते हुए वनस्पतियों की जड़ों में से विष्णु को निकालना और इसकी थकान को मिटाना, स्वयं श्रम और अर्चना करना, धरती को उर्वर, पयस्वती, सुसद्य, कल्याणकर बनाना भूमि को जोत-गोड़कर स्थायी रूप से खेती करने का द्योतक है। इस तरह इस रूपकीय आवरण के भीतर सांस्कृतिक विकास की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी सुरक्षित है। समूची पृथ्वी को या कहें कृषि-योग्य भूमि (उर्वी) को यज्ञ की वेदी क्यों कहा गया है और इसका आयोजन जीविका-उपजीवन—के लिए क्यों किया गया है, यह तथ्य इस अन्तर्कथा से स्पष्ट हो जाता है। यज्ञ का वास्तविक स्वरूप क्या था, यहाँ देखा जा सकता है।

बार-बार जगह बदलते हुए, जंगल जलाकर अस्थायी रूप से खेती करने के स्थान पर कहीं एक जगह बसकर और धरती की जोताई-गोड़ाई करके खेती करने का विचार जैसे भी सूझा हो, आरम्भ में यह निर्णय बहुत कठिन निर्णय था। पहली बात तो यह कि वह धरती जो माँ के समान है, क्या उसकी छाती को चीरना एक जघन्य अपराध नहीं ? यह तो मातृ-हिंसा के समान हुआ। माँ का दूध पीने की जगह उसको आहत करके उसका रक्त पीने जैसा हुआ। दूसरा संकोच इस कारण भी था कि कहीं इससे धरती रूठकर अभी जो उपज दे रही है उसे भी बन्द न कर दे। इस दुविधा को दूर करने में तत्कालीन बुद्धिजीवियों को काफ़ी कसरत करनी पड़ी होगी, तभी वे इसके प्रति लोगों में विश्वास जमा पाये होंगे। जो भी हो, इस स्थिति का चित्रण दो रूपकों में हुआ है। पृथ्वी कहती है कि मेरी हिंसा मत करो। वह डरती है कि बृहस्पति अभिषेक के बाद अब बहुत प्रबल हो गया है, कहीं यह मेरी हिंसा न करे और दूसरी ओर बृहस्पति डरते हैं कि कहीं यह पृथ्वी मुझे झटक कर फेंक न दे। इसका समाधान यह कहकर किया गया है कि यदि धरती के साथ माँ और पुत्र का सम्बन्ध रखा जाए तो इसमें कोई किसी की हिंसा नहीं करता।[81] पर यह मानने का पर्याप्त आधार है कि सभी को यह तर्क रास नहीं आया होगा और आदिम कृषि को अपना चुके जनों में से अनेक उससे आगे बढ़ने को तैयार नहीं हुए होंगे और अगले चरण की ओर बढ़ने वाले आर्यों या देवों के लिए ये भी असुरों में ही परिगणित होने थे।[82]

जोताई का काम आरम्भ में सम्भवतः जिन हलों से किया गया वे लकड़ी के बने होते थे, कहें इनका फाल भी लकड़ी का ही होता था।[83] हल खींचने का काम भी पशुओं का उपयोग आरम्भ होने से पहले मनुष्य स्वयं ही करता रहा। यज्ञ का स्फ्य[84] सम्भवतः उस आदिम फाल का ही प्रतीक है जिसे अनुवादकों ने लकड़ी की तलवार माना है। इस स्फ्य से जुती भूमि ही सम्भवतः स्फिग्या[85] है। सम्भव है भूमि जोतने के इस काम में स्त्रियाँ भी भाग लेती रही हों। जुती हुई भूमि या यज्ञ

की वेदी योषा है ही, अनावृष्टि के समय वर्षा कराने के लिए इस शताब्दी के आरम्भ तक स्त्रियाँ रात में नंगे शरीर स्वयं हल चलाती रही हैं, जो उस आदिम अवस्था का अवशेष या प्रजनन क्षमता का प्रतीक हो सकता है। कुछ विद्वानों का विचार है कि कृषि का आरम्भ जहाँ भी हुआ, महिलाओं द्वारा हुआ और इसमें सच्चाई हो सकती है।[86]

पशुओं में पहले जोताई के काम के लिए गायों का उपयोग किया गया।[87] साँडों को हल में जोतना एक मुश्किल काम था। वधियाकरण के बाद इन्हें बैल बनाने के बाद ही उनकी उग्रता को नियन्त्रित करके उपयोग में लाया जा सकता था। ऋग्वैदिक काल से बहुत पहले बैलों का वधियाकरण आरम्भ हो चुका था यह 'वध्रि' शब्द के लाक्षाणिक अर्थों में प्रयोग से तो स्पष्ट है ही, अनट् और वृषभ—बैल और साँड के फ़र्क़ से भी प्रकट है। स्पष्ट है कि शतपथ ब्राह्मण का यह विवरण इससे बहुत पहले की अवस्था का स्मरण है।

कृषि कार्य में भी गो जाति के इस उपयोग ने ही पहली बार पशुवलि के प्रति वैदिकों के दृष्टिकोण में सुधार किया। जैसा कि हम कह आये हैं, गाय दूध का स्रोत होने के कारण पहले ही अघ्न्या बन चुकी थी, पर बन्ध्या या वशा गो, तथा बूढ़ी गायों का मांस वर्जित नहीं था। बछड़ों की बलि काफी बाद तक चलती रही, पर खेती के काम में उनके उपयोग को ध्यान में रखते हुए इसे भी क्रमशः वर्जित कर दिया गया। लोगों को इस वर्जना के लिए तैयार करने वालों को इसे जघन्य पाप ठहराना पड़ा और इसके बावजूद इसे सार्वजनिक मान्यता मिलने में बहुत लम्बा समय लगा।[88]

यह बात अधिक रोचक है कि गाय को अघ्न्या करार देने से पहले कुत्ते को अवध्य करार दिया गया था। कारण रक्षक के रूप में कुत्तों की उपयोगिता पशु-चारण के दौर में ही सिद्ध हो गयी थी। वैदिक काल में यदि कोई सचमुच अस्पृश्य था तो वे जंगली कबीले जो कुत्तों को भी मारकर खा जाते थे। इन्हें ही श्वपच या चाँडाल कहा गया है। कुत्ते का मांस खाने का अर्थ था व्रत-च्युत या धर्म-भ्रष्ट हो जाना। यह रुद्र का वह भैरव रूप है जो सचमुच पशुपति कहा जा सकता है। अवेस्ता में भी कुत्ते के वध को घोर पाप माना गया है, गो वध से अधिक गर्हित, मनुष्य के वध से भी अधिक घोर। ईरानी दण्ड-संहिता के अनुसार यदि मनुष्य का वध करने पर चालीस कोड़े लगते थे तो कुत्ता मारने पर सौ कोड़े।

कोई भी क्रान्ति इकहरी नहीं होती है। इसके साथ पूरी जीवनपद्धति, सोचने—विचारने का तरीका, उपकरण और समाज-व्यवस्था सभी में भारी बदलाव आता है। आधार बदलने के साथ अधिरचना में तदनुरूप परिवर्तन होना अपरिहार्य है ही। अतः हम कृषिक्रान्ति के साथ शक्ति के नये स्रोतों—घोड़ा, बैल, गधा, ऊँट का क्रमशः बहुत तेजी से उपयोग होते पाते हैं। जब तक सारी सम्पदा

पशुधन तक सीमिति थी तब तक इन स्रोतों की ओर ध्यान जाने का प्रश्न ही नहीं उठता था। कोई पशु उस समाज में दूध और माँस के स्रोतों के रूप में या इनकी रखवाली में अपने उपयोग के कारण ही पाला जा सकता था। जहाँ ढोने को ही कुछ न हो वहाँ भारवाही पशुओं की क्या उपयोगिता! और यदि भारवाही पशु तक जरूरी नहीं तो फिर रथ, गाड़ी और नाव आदि की जहमत मोल लेने का प्रश्न ही कहाँ से उठता है। अब बहुत तेजी से—यद्धपि इसके बावजूद इसमें हजारों वर्ष का समय लगा होगा—एक पर एक नये आविष्कार अर्थव्यवस्था के सुदढ़ होने के साथ सामने आते जाते हैं।

कृषि का बड़े पैमाने पर उपयोग, नये धान्यों की तलाश का मार्ग प्रशस्त करता है? आरम्भ में जहाँ कुछ सुपरिचित और सुखाद्य अनाजों की ओर ही ध्यान गया था, वहाँ अब ऐसे विभिन्न सस्यों को पैदा करने का प्रयास किया जाता है मिजनको पशु-पक्षी खाते रहे हैं और इसलिए जो मानव उपयोग के लिए निरापद या कुप्रभाव से शून्य और पोषक माने जा सकते थे। अपने स्वाद को बढ़ाने के लिए वह अनेक कड़वी कसैली खट्टी वनस्पतियों को भी उगाता है। तीसी, तिल, सरसों, आदि को उगाना आरम्भ करता है। इन सबका उपयोग अधिक सार्थक ढंग से करने के लिए कूटने, पीसने, पेरने, ढोने, सँभालने, पकाने, और संचित करने के यन्त्रों पात्रों और विधियों को विकसित करता है। कृषि के क्षेत्र में गोड़ाई, जोताई, कटाई, मड़ाई, आदि के लिए विभिन्न उपकरणों का आविष्कार होता चलता है। इन खोजों और आविष्कारों में भी एक अन्तःसंगति बनी रहती है।

उदाहरण के लिए, कुछ अन्न, जैसे साँवा, कोदो, मडुआ, ज्वार आदि आहार संग्रही अवस्था में मनुष्य के लिए अखाद्य बने हुए थे, कूटने, पीसने के तरीकों और यन्त्रों के विकास और पाक कला में विकास के बाद खाद्य बन जाते हैं। जब तक मनुष्य अनाज की बालियों को अधपकी हालत में सीधे आग पर सेंक कर उनका टूंण-तृण आदि जला कर जैसे-तैसे पेट भर लेता था तब तक दलहनों के अलाया जौ उपयुक्त अन्न था। गेहूँ को भूनते समय जब तक उसकी खोल जले तब तक उसके दाने आग में बिखर कर स्वाहा हो सकते थे। पर अब वह प्रधान अनाजों में आ जाता है। कुछ विद्वानों का खयाल है कि चूँकि अनाजों में अधिक उल्लेख जौ का ही आता है अतः भारतीय कृषक को दूसरे अनाजों का, खास कर गेहूँ का, पता ही नहीं था। रोमिला थापर ने इस मान्यता की पुष्टि में 12 वीं शताब्दी का अमरसिंह के नाम एक रोचक हवाला लिंगानुशान में पूरक के रूप में अनुलग्न पुरुषोत्तम देव के त्रिकाण्डदेश का दे रखा है कि गेहूँ को म्लेच्छ भोजन कहा गया है।[90] यहाँ हम उससे प्राचीन परम्परा की याद दिलाना उचित समझते हैं जिसके अनुसार गोधूम न केवल आरण्यक ओषधियों में भी गिना गया है, अर्थात् यह भारत में वन्य रूप में उगता था, अपितु गेहूँ को मनुष्य के सबसे निकट भी माना

गया है। शतपत ब्राह्मण के एक विवरण के अनुसार अनाजों में गेहूँ का छिल्का उसी तरह सबसे पतला होता है जैसे जानवरों में सबसे पतली त्वचा मनुष्य की होती है और इसलिए यह मनुष्य के सर्वथा निकट है और इससे ही असुरों पर विजय पायी गयी थी।[91] गोधूम शब्द मूल्यतः उस कोदुमै से व्युत्पन्न है जो तमिल में सुरक्षित है।

आखेट और आहार-संग्रह के चरण में पके हुए बर्तनों की आवश्यकता नहीं थी। पानी के लिए यदि किसी पात्र को आवश्यकता हुई भी तो इसे लौकी या नारियल के खोल, बाँस के कूपे में या चमड़े की थैलियो में रखाजा सकता था। ऋग्वैदिक काल तक पेयपदार्थ रखने के लिए चमड़े थैलों का प्रयोग होता था[92] और सम्भवतः यह क्रम ब्राह्मण काल तक जारी रहा था। चमड़े की थैलों में दूध और दही रखना भी जारी था।[93] खोलदार बड़े फलों के कमण्डुल या जलपात्र तो आज भी साधुओं में पाये जाते हैं जो मृद्भाण्डपूर्व चरण के अवशेष हैं। पर दूध गर्म करने या खाना पकाने आदि की बाध्यता ने मिट्टी के बर्तन बनाने और पकाने की आवश्यकता को जन्म दिया, क्योंकि पत्थर के पात्र जो एकमात्र अग्निसह पात्र हो सकते थे, इन कामों के लिए बहुत अधिक उपयुक्त नहीं थे। अतः मृद्भाण्डों के आविष्कार को भी कृषि के आविर्भाव के निर्धारण में उपयोगी पाया जा सकता है।

इस तरह हम पाते हैं कि अपने उन्हीं अनुभवों और कार्यों के बल पर कृषि के चरण के आसपास कुछ सौ या हजार वर्षों के दौरान ही एक पर एक नये आविष्कार होते चले गये, जैसे तरु या वृक्ष को पानी में बहते देखकर इन पर सवार होकर जलधारा को पार करने का अनुभव, पुनः मिट्टी के पक्के पात्रों आदि से नदी से पानी भरते समय यह ज्ञान कि इस तरह का पात्र पानी में नहीं डूबता पर यदि इसका पोलापन न रहे तो यह आसानी से पानी में डूब सकता है, पेड़ों के तनों को पोला करके इन्हें अधिक सुकर तरणियों में बदलना और फिर इनके पटरों को जोड़कर बड़ी नौकाएँ बनाना। हड़प्पा के विशाल स्नानागार में डामर का प्रयोग देखकर विद्वानों को यह पता चला कि हड़प्पावासी डामर से परिचित थे। पर यदि इस स्नानागार से इसका प्रमाण नहीं मिलता तो भी यह अनुमान करना कठिन नहीं था कि वे डामर से परिचित थे। कारण डामर या किसी जलरोधी द्रव्य का प्रयोग किये विना नौकाओं को अछिद्र नहीं बनाया जा सकता था। अतः इसका ज्ञान ऐसे सभी जनों को जो नौकाएँ बनाते थे, पटरों को जोड़ कर नौकाएँ बनाने से पहले से था, यह समझना कठिन नहीं है। सम्भव है इसका ज्ञान पक्के मृद्भाण्ड बनाने से भी पहले से रहा हो और इनके सहारे अपनी टोकरियों को अछिद्र बनाकर इनमें पानी आदि लाने का काम भी लिया जाता रहा हो।

परन्तु जहाँ तकनीकी विकासों को लक्ष्य करना और इनकी विशेष परिस्थितियों पर ध्यान देना जरूरी है, वहीं इस बात की सावधानी भी बरती जानी

चाहिए कि इनके महत्व का मूल्यांकन स्थानीय परिस्थितियों और विकल्पों का सही मूल्यांकन करते हुए किया जाए। हम पीछे इस बात का उल्लेख कर आये हैं कि नहरों का विकास एक विशेष परिस्थिति में आवश्यक था और इनके बिना सभ्यता विशेष एक सीमा से आगे बढ़ ही नहीं सकती थी यहाँ तक कि आदमी अपने लिये पेय जल की व्यवस्था तक नहीं कर सकता था। परन्तु इसे ही विकास का मानक बना कर दूसरी सभ्यताओं का मूल्यांकन करना ग़लत है। महत्व उन विकल्पों का है जो इनके लिए उन विशेष परिस्थितियों में उपलब्ध थे या तैयार किये गये थे। इसका एक रोचक उदाहरण मिस्र है जहाँ हेरोडोटस के समय तक भी खेतों में जुताई नहीं की जाती थी। नील की बाढ़ उतरते ही बीज बिखेर दिये जाते थे और इसके बाद सूअरों को खोलकर इनमें दौड़ाया जाता था ताकि इनके पैरों के दबाव से बीज नीचे धँस जायें और उन्हें चिड़िया आदि चुँग न सकें। इस निहायत अविकसित तरीके के बावजूद वहाँ बहुत अच्छी उपज होती थी।[93] इसी तरह भारत में आज तक कछारों के ऐसे टुकड़े पड़ते हैं जिनमें बोआई के समय तक हल आदि चलाने की सम्भावना नहीं होती और जहाँ-तहाँ पानी लगा रहता है। इनमें बीजों को कीचड़ में ही बिखेर दिया जाता है जिसे छींटा या बिखराव पद्धति कहा जाता है और इसके बावजूद इनकी उपज बहुत अच्छी होती है।

अतः जब किन्हीं प्राचीन स्थलों से कटाई आदि के अविकसित औजार मिलते हैं, जैसे जग्रोस की पहाड़ियों के कुछ स्थलों से, तो ध्यान इस बात पर दिया जाना चाहिए कि इनके अभाव में क्या खेती का आरम्भिक चरण पूरा नहीं हो सकता था और क्या यह सचमुच कृषि चरण का सूचक है?

कृषि क्रान्ति से आर्थिक आत्मनिर्भरता और सम्पन्नता के द्वार खुले और पहले की तुलना में मनुष्य स्वस्थ और नीरोग—अनमीव—तो हुआ ही साथ ही वह नये अविष्कारों, नयी उद्यभावनाओं के द्वारा अपने बौद्धिक विकास की दिशा में भी अग्रसर हुआ और इन सबके अतिरिक्त इस चरण ने मनुष्य को एक उच्चतर नैतिकता से भी जोड़ा। अनमीव के साथ ही मनुष्य ने अकिल्विष या निष्पाप होने की ओर भी पहला क़दम बढ़ाया।

अब उत्पादन के लिए श्रम और तप का, इसकी रक्षा के लिए जागरूकता और कड़कती ठण्ड में भी पहरेदारी या रखवाली का मूल्य बढ़ गया। नयी फ़सल बोने के लिए घोर अभाव की स्थितियों में भी बीज को बचा कर रखना, दूसरों के खुले खेतों की खड़ी फसल को भी न छूना, तथा उपद्रवकारी जमातों का मुकाबला करना तथा अन्य अनेक कामों में सामूहिक साझेदारी ने एक नये कार्य-विभाजन और नये ढँग की अन्तर्निर्भरता को जन्म दिया। सबसे बड़ी बात यह है कि कृषि के साथ मनुष्य पहली बार स्थायी बस्तियाँ बसा कर रहने को बाध्य हुआ और उसकी बाध्यता ने आगे सामाजिक और आर्थिक विकास की नयी और उच्चतर

मंजिलों को सम्भव बनाया, जिनकी चरम परिणति नगर-सभ्यता का विकास था।

भाषा जो मानवीय सम्पर्क का सबसे सशक्त माध्यम है, तकनीकी विकास, आर्थिक प्रचालन और सामाजिक सम्बन्धों से और इनके सन्दर्भ में मनुष्य के चिन्तन और प्रत्ययन से सबसे अधिक प्रभावित होती है। कृषिक्रान्ति का आधार सुदृढ़ होने में जितनी शताब्दियों या सहस्राब्दियों का समय क्यों न लगा हो, उसके पिछले भाषिक ऋक्थ की तुलना में उसे एक बहुत अधिक सम्पन्न भाषा की आवश्यकता थी और यह भाषा विगत पाषाणी चरण की निरी कामचलाऊ और अदृश्य रूप में मन्थर गति से विकसित हुई सीमित अभिव्यक्तियों की तुलना में बहुत तेज़ी से विकास की माँग कर रही थी।

भाषा के विकास के इस पहलू पर कुछ रुक कर विचार लेना इसलिए ज़रूरी प्रतीत होता है कि भारोपीय भाषा और इसका प्रसार इतिहासकारों के लिए एक उलझन तो बना ही रहा है, स्वयं भाषा की उत्पत्ति और विकास भी एक समस्या बनी रही है। बाइबिल की आदम और ईव वाली कहानी के आधार पर अधिकाँश विद्वान यह मान लेते हैं कि आरम्भिक चरणों में मनुष्य ने जिस नयी चीज़ को जो भी नया नाम दे दिया वही उसकी संज्ञा बन गयी। यह कोरा भाववाद है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि मनुष्य में नये आविष्कार करने की क्षमता बहुत सीमित है। अपने पुराने अनुभवों को विभिन्न स्रोतों से संचित सूचनाओं से जोड़ते-तोड़ते हुए ही वह नये आविष्कार करता रहा है, यद्यपि कुछ आविष्कार उसकी भूलों से 'अंधे के हाथ बँटेर' की तरह भी हो गये हैं। इन नये आविष्यकारों से उसके अनुभव और ज्ञान का दायरा और इनके बीच जोड़-तोड़ करने की उसकी क्षमता बढ़ती चली गयी है और इसलिए बाद के कालों में नये आविष्कारों की सम्भावनाएँ भी इसी अनुपात में बढ़ती गयी है।

तकनीकी जगत में नये आविष्कारों की तरह भाषा के क्षेत्र में भी नये और बिल्कुल नये आविर्भाव बहुत दुष्कर पड़ते हैं और आज जब विविध क्षेत्रों में नित नये आविष्कार हो रहे हैं और भाषा में उसी अनुपात में तेज़ी से विकास हो रहा है, तब भी कोई व्यक्ति बिल्कुल नये नाम नहीं दे सकता और वह भी तब जब कि हम जानते हैं कि कोई सम्पन्न-से-सम्पन्न भाषा भी अपनी समग्र ध्वनिमाला के समग्र सम्भावित चरों का उपयोग नहीं करती और इसलिए अब तक बचे हुए विकल्पों का प्रयोग करके नये और अधिक छोटे शब्द नयी चीज़ों के लिए गढ़े जा सकते हैं और आज के सुलभ संचार माध्यमों का उपयोग करके सबको यह बताया भी जा सकता है कि यह नया शब्द अमुक नयी चीज़ के लिए गढ़ा गया है और यदि किसी एक व्यक्ति द्वारा नयी चीज़ के लिए नया शब्द गढ़ने और बाकी लोगों के द्वारा इसे स्वीकार कर लिए जाने का तर्क यही है तो इसे अधिक निरापद रूप में सर्वमान्य भी बनाया जा सकता है। पर ऐसा नहीं होता। प्राथमिक चरणों में जब संचार से लेकर नयी

उद्भावनाओं का दायरा भी बहुत छोटा था तब तो इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती।

अतः मनुष्य ने उन्हीं ध्वनियों के जोड़-तोड़ से जो उसे सहज सुनने में आती थीं अपनी प्राथमिक अभिव्यक्तियों को जन्म दिया। ये ध्वनियाँ थीं उसकी अपने हर्ष-विषाद और क्रीड़ा के क्षणों की अभिव्यक्तियाँ, उसके प्राकृतिक परिवेश के विभिन्न जीवों-जन्तुओं की ध्वनियाँ, वायु और जल से प्रवाह के विभिन्न वेगों के समय विभिन्न वस्तुओं में उत्पन्न गति और टकराव से उत्पन्न ध्वनियाँ और अपनी निजी क्रियाशीलता-हथियार आदि गढ़ने, भागने-दौड़ने आदि—से उत्पन्न नाद। इन्हीं की पूँजी पर मनुष्य ने अपनी भाषा की आरम्भिक नींव रखी जिसकी कुछ अधिक विस्तार से अन्यत्र चर्चा की गयी है।[94] यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि एक ही मूल ध्वनि के एकाधिक अनुक्रमों, अपनी भौगोलिक परिस्थितियों के कारण इन ध्वनियों की भिन्नता तथा जलवायविक कारण से उच्चारण तन्त्रों के प्रसार आदि की सीमाओं आदि के कारण एक ही वस्तु का अलग-अलग क्षेत्रों में अलग-अलग, यद्यपि काफी दूर तक निकटस्थ ध्वनियों द्वारा, अनुकरण किया गया था। मनुष्य मात्र या भाषामात्र के विषय में यहाँ किसी सरलीकरण की न तो उपयोगिता है न ही औचित्य, अतः भारतीय भूभाग में मध्य पाषाणी चरण तक की भाषाओं या बोलियों में प्रचलित ध्वनिमाला स्पर्शवर्णों, विसर्जनीय वर्णों और स्वर वर्णों का, जिनमें से अन्तिम की संख्या सम्भवतः वर्तमान स्वरमाला से अधिक थी, का ही अस्तित्व था और अधिकांश शब्द द्वयक्षरी थे।

नये शब्द-भण्डार और नयी व्यंजनाओं की आवश्यकता से भाषा में किंचित् सायास और तेज़ी से परिवर्तन हुए। इनमें से एक था स्पर्शवर्णों का महाप्राणन व घोषीकरण, अर्ध-स्वरों या अन्तस्थ वर्णों का आविर्भाव, स्वर्ण-संयोग के साथ-साथ असवर्ण संयोजन, आदि। पर नयी ध्वनियों का विकास भी नयी आवश्यकता की पूर्ति के लिए पर्याप्त नहीं था और नये विकास का तर्क स्वयं नयी शब्दावली का जनन करने की बाध्यता पैदा कर रहा था। उदाहरण के लिए जब मनुष्य नयी चीज़ें बनाने के लिए दो चीज़ों को जोड़ रहा था तो इस जुड़ी हुई चीज़ की अभिव्यक्ति के लिए उन दोनों शब्दों का भी जुड़ जाना स्वाभाविक था जो इनके लिए प्रयुक्त होते थे और इस तरह तकनीकी विकास और बौद्धिक उत्कर्ष के साथ भाषा में भी उत्कर्ष आता गया। एक समृद्ध और क्लासिकी चरण तक पहुँचने में किसी भाषा को कितना समय लगा होगा इसका सही निश्चय करना हर मामले में सम्भव नहीं। पर एक ही मूल भाव से जुड़े नये पर भेदक शब्दों के लिए किसी भाषा ने जोड़-तोड़ की कौन-सी युक्ति अपनायी और इसका शब्दभण्डार चरण विशेष पर अपनी किसी अन्य प्रतिस्पर्धी भाषा की तुलना में कितना समृद्ध या विपन्न था, इस आधार पर दोनों सभ्यताओं या संस्कृतियों के तुलनात्मक विकास

के स्तर को अवश्य समझा जा सकता है। इन विविध दृष्टियों से वैदिक भाषा अपने समकालीन और किंचित परवर्ती भाषाओं से बहुत आगे बढ़ी हुई सिद्ध होती है।

भारतीय सन्दर्भ में सबसे महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि यहाँ की परम्परा कतिपय अति-प्राचीन महान पुरुषों को महर्षियों और नवप्रवर्तकों के रूप में याद करती रही है और उनके असाधारण ज्ञान की धाक आज तक बनी हुई है। इन ऋषियों को सात बताया जाता है और इनके नाम भी सुरक्षित हैं। जहाँ तक संख्या और सटीक नामों की बात है, इस पर हम बहुत अधिक भरोसा नहीं कर सकते। पर यह मानने का पर्याप्त कारण है कि विभिन्न क्षेत्रों में किये गये आविष्कारों और खोजों के पीछे एक लम्बे दौर में पैदा हुए चिन्तकों और आविष्कारकों का हाथ था और इनको वह समाज उचित सम्मान देना जानता था। आरम्भ में मन्त्रों को रचने या यज्ञ करने कराने के कारण नहीं बल्कि अपने इन अनुसंधानों के कारण ही, सत्य का या प्रकृति के रहस्य का सीधा साक्षात्कार करने के कारण ही इनको ऋषि और ब्रह्मर्षि की संज्ञा प्राप्त हुई थी।[95] कहीं-कहीं इनके कारनामों का सांकेतिक उल्लेख पाया जाता है। यथा, ऋषियों ने ऋतुओं को पैदा किया, या कहें वर्षचक्र का सूक्ष्म अध्ययन आरम्भ किया और ज्योतिष का आधार रखा। अंगिरा का नाम यज्ञ और अग्नि से जुड़ा हुआ है जो उस मेधावी व्यक्ति की याद दिलाता है जिसने उत्पादन की एक नयी पद्धति का रास्ता दिखाया। उसे मार्ग का विस्तार करने वाला बताया गया है। दूसरे ऋषियों के योगदान के विषय में कुछ भी निश्चयपूर्वक कहना कठिन है, पर ऊपर हम जिन विकासों का उल्लेख कर आये हैं उनकी खोज और आविष्कार का सम्बन्ध इनमें से कुछ के साथ अवश्य रहा लगता है।

इस तरह कृषि के सर्वतोमुखी विकास की एक सुथरी तस्वीर हमें भारत में दिखाई देती है जिसमें कृषि की प्रेरणा से लेकर इसके क्रमिक विकास और इसके दौरान अनुभव की गयी कठिनाइयों का बहुत विश्वसनीय विवरण मिलता है। पर यह सोचना ग़लत होगा कि जो लोग इस विकासयात्रा में शामिल हुए थे, वे जो कुछ भी करने में समर्थ हुए वह सब केवल उनके अपने ही आविष्कारों और खोजों तक सीमित था। औद्योगिक क्रान्ति के मामले में हम देखते हैं कि एक बार इस क्रान्ति का आरम्भ हो जाने के बाद इसका तेज़ी से दूसरे क्षेत्रों में विस्तार होता है और जगह-जगह नये आविष्कार और खोजें होने लगती हैं और कुछ मामलों में इस दिशा में बाद में उन्मुख होने वाले देश पहल करने वाले देश से बाजी मार ले जाते हैं। औद्योगिक क्रान्ति के समय संचार के साधनों का उन्नत विकास हो चला था अतः यह काम कुछ ही शताब्दियों के भीतर हो जाता हैं। पुराने समाजों में संचार प्राथमिक स्तर का था और शिक्षा तथा सघन सम्पर्क की कमी के कारण सामुदायिक ग्रहणशीलता अपेक्षाकृत कम थी, अतः इसमें बहुत लम्बा समय लगा

होगा। पर इन विकासों के विस्तार से अगले चरणों पर विभिन्न क्षेत्र एक-दूसरे से प्रभावित और लाभान्वित हुए होंगे।

सन्दर्भ व टिप्पणियाँ

1. रेडमैन, दि राइज़ ऑफ़ सिविलाइज़ेशन, 1978, 90.
2. हार्लन, 'ए वाइल्ड ह्वीट हार्वेस्ट इन तुर्की', आर्कियॉलॉजी, 20, 3, 1967, 197-201.
3. चाइल्ड, मैन मेक्स हिमसेल्फ, 1934.
4. ब्रेडवुड, दि नीयर ईस्ट ऐंड दि फाउंडेशन्स ऑफ़ सिविलाइज़ेशन, 1952; 'दि ऐग्रीकल्चरल रिवोल्यूशन', साइंटिफ़िक अमेरिकन, 263, 3, 1960, 130-52.
5. बोंज़रप, हर्बर्ट राइट, स्मिथ व यंग आदि, देखें, चार्ल्स आर. रेडमैन, 1978 99-100.
6. शतब्रा. 1.2.4.14; 5.2.3.1-3, आदि।
7. देखें, रेडमैन, पूर्व., 100.
8. जी. आर. शर्मा, हिस्ट्री टु प्री-हिस्ट्री—आर्कियॉलॉजी ऑफ़ दि गंगा वैली ऐंड दि विन्ध्याज़; 1980; गुरदीपसिंह, 'दि इंडस वैली कल्चर सीन इन दि कंटेक्स्ट ऑफ़ पोस्ट ग्लेशियल क्लाइमेट ऐंड इकॉलॉजिकल स्टडीज़ इन दि नार्थ-वेस्ट इंडिया', आर्कियॉलॉजी एंड फिज़िकल ऐंथ्रोपॉलॉजी इन ओसीनिया, 6, 2, 1971, 185-86. तुलना करें, विष्णुमित्रे, 'पैलियोबोटैनिकल इविडेंस इन इंडिया', इवोल्यूशनरी स्टडीज़ इन वर्ल्ड क्रॉप्स, डाइवर्सिटी ऐंड चेंज इन दि इंडियन सब-कांटिनेंट, संपा., जोज़ेफ हचिंसन, कैंब्रिज, 1974, 3-30 भी। विष्णुमित्रे ने गुरदीप की मान्यता पर सन्देह प्रकट किया है, पर इसका खण्डन नहीं। इतने प्राचीन चरण पर भारत में कृषि के प्रमाण देखकर आशंका और अविश्वास ही पहली स्वाभाविक प्रतिक्रिया रही है।
9. देखें, जैरिज व मीडो, 'दि ऐंटीसिडेंस ऑफ़ सिविलाइज़ेशन इन दि इंडस वैली', साइंटिफिक अमेरिकन, 243, 1980, 102-110; जैरिज ने पूर्व प्रस्तावित 6000 ई. पू. की कालसीमा को अन्य तथ्यों को देखते हुए और भी पीछे ले जाने का प्रस्ताव किया है। देखें, 'क्रॉनोलोजी ऑफ़ अर्लियर पीरियड्स ऑफ़ ग्रेटर इंडस ऐज़ सीन फ्रॉम मेहरगढ़, पाकिस्तान', साएआ-1981,

21-28; रेडमैन, पूर्व, 122 के अनुसार छ कतारों वाला जौ पहली बार तेल ए सव्वान में 6000 ई. पू. में प्रकट होता है।

10. अल्फोंसे द कांदोल व राइट, रेडमैन, पूर्व., 89 पर उद्धृत।
11. असु क्षेपणे, असून् प्राणान् राति ददाति इति असुरः।
12. नि. 3.9.
13. प्राण के पर्याय में असु। नि. 3.7.
14. ऋ. 1.24.14 पर भाष्य।
15. वही, 1.54.3.
16. वही, 3.29.14; 38.4.
17. वही, 5.42.1; 51.11.
18. वही, 3.3.4; 53.7; 56.8, आदि।
19. किसी प्राचीन स्तर पर ही च का स में परिवर्तन होने लगा था, पर फिर भी अनेक शब्द संस्कृत और देशज बोलियों में ऐसे बचे रह गये हैं जिनमें च मौजूद है। तुलना करें, सवन्-च्यवन्, सू-च्यु, सुत-च्युत, शोषण-चोषण, हिं. चूसना, आदि।
20. तु. कं— जल>कमनीय, कांति; कल>कलित, कल; घृ>घृत>घर्म; स्व >स्वः, स्वर, स्वर्ग; सू>सुरा, सूर्य; स्व>स्विद्/स्वेद, श्वेत; अर्>अर्य >अर्यमा; हर>हरि, हरित, आदि। देखें, भगवानसिंह, 1973, भी।
21. यज्ञो वै वसुः। यजु. 1.2; संयत वसुः 15.18;—विदद्वसुःतांब्रा. 11.4.5; 15.10.4;—सुम्नम्, यजु. 1267, आदि।
22. यज्ञो वा उ अन्नम्, शतब्रा. 2.3.4.1; यज्ञ उ देवानां अन्नम्, 8.1.2.10.
23. यज्ञो वै भुज्युः, यजु. 18.42; शतब्रा. 9.4.1.11.
24. यज्ञो भगः। यजु. 11.7. देखें, नि. 2.10; भग धन का पर्याय गिनाया गया है। भगस्य भगधेयस्य, नि. 9.31
25. यज्ञो ह वै मधुसारघम्। शतब्रा. 3.4.3.13;
26. यज्ञो वै श्रेष्टतमं कर्म। यजु. 1.1; शतब्रा. 1.7.1.5; यज्ञो हि श्रेष्ठतमं कर्म। तै. 3.2.14.
27. यज्ञ उ वै प्रजापतिः कौब्रा। 10.1.13.1; यज्ञ प्रजाततिः। शतब्रा. 11.0.3.9, आदि।
28. स एषा त्रयी विद्या यज्ञः। शतब्रा. 1.1.4.3.
29. यज्ञो वै विशः यज्ञे हि सर्वाणि भूतानि विष्टानि। शतब्रा. 8.7.3.21.
30. यज्ञो वै भुवनस्य नाभिः। तैब्रा. 3.9.5.5.
31. यज्ञो वा अनः। शतब्रा. 1.1.2.7
32. संवत्सरो यज्ञः। शतब्रा. 11.2.7.1, आदि।

33. यजमानो वै यज्ञः । ऐब्रा. 1.28; यजमानो यज्ञः । शतब्रा. 13.2.2.1.
34. सर्वेषां वा एष भूताना सर्वेषां देवानां आत्मा यत् यज्ञः । शतब्रा. 14.3.2.1.
35. पृच्छामि त्वां परं अन्तःपृथिव्याः पृच्छामि यत्र भुवनस्य नाभिः ।
ऋ. 1.164.34.
36. इयं वेदि परः अन्तः पृथिव्याः अयं यज्ञः भुवनस्य नाभिः । ऋ. 1.164.35. अन्यत्र भी, वेदिः वै परः अंतः पृथिव्याः । तैब्रा. 3.9.5.
37. पृथिवी वेदिः, ऐब्रा. 5.28; तैब्रा. 3.3.6.2; इयं पृथिवी वै वेदिः, शतब्रा. 7.3.1.15, आदि ।
38. तद् यत् अनेन इमां सर्वां समविन्दन्त तस्मात् वेदिः नाम तस्मात् आहुः यावती वेदिः तावती पृथिवी इति । शतब्रा. 1.2.5.7.
39. एतावती वा पृथिवी यावती वेदिः, तैब्रा. 3.2.9.12. यही बात अन्यत्र भी दुहरायी गयी है । बाद में कर्मकाण्डीय यज्ञ के लिए जो वेदी बनायी जाने लगी वह इस पृथिवी का ही परिमित रूप है, "तस्याः (पृथिव्याः) परिमितं रूपं यत् अंतर्वेदि अथ एष भूमा अपरिमितो यो बहिर्वेदि" । ऐब्रा. 8.5.
40. त्र्यंगुला वेदिः स्यात् । शतब्रा. 1.2.5.9.
41. उर्वरा वेदिः भवति एतत्···तांब्रा. 16.13.6.
वेदी शब्द की जो व्याख्या ब्राह्मणों में दी गयी है वह उतनी ही उलझी हुई भाषा में है जितनी उलझी भाषा इन पुरोहितों के अपने गूढ़ ज्ञान के उद्घाटन के लिए लाभदायक थी । वेदी शब्द उसी विद् धातु से निकला है जिससे वेद, विद्या, विधि, वित्त, वेदना, वेधा, आदि । वेद का मूल अर्थ था गोचर या इंद्रिय ग्राह्य (जगत) और फिर यह सम्पत्ति और धन का भी सूचक हो गया । इस जगत की प्रतीति कराने वाला ज्ञान भी वेद, इसका इन्द्रिय बोध भी वेद और प्राचीन परम्परा से लब्ध ज्ञान-भण्डार भी वेद, इसको जिन कृतितों में लिपिबद्ध किया गया है वे भी वेद ! ये विभिन्न अर्थ बाद में भी चलते रहे हैं । इस तरह हम पाते हैं कि देवासुर संघर्ष और यज्ञ तथा व्रत के प्रसार के जो विवरण भारतीय साहित्य में मिलते हैं उनका सम्बन्ध उत्पादन-पद्धति में आये नये परिवर्तन से है और इस संघर्ष कथा के पीछे छिपा है दो अर्थ-व्यवस्थाओं का टकराव ।
42. ऋ. 1.164.50; 10.90.16; अथर्व. 7.5.1, तैसं. 35.11.5; तैआ. 3.2.7; शतब्रा. 10.2.2.2.
43. प्राची हि देवानां दिक् । शतब्रा. 3.1.1.2;6;
44. शतब्रा. 7.3.2.1.
45. प्राची हि देवानां दिक् अथ उदक्-प्रवण उदीची हि मनुष्याणां दिक् दक्षिणतः पुरीषं प्रति उत् ऊहति एषा वै दिक् पितृणां...शतब्रा. 1.2.3.17; देखें,

1.7.1.17; 3.1.1.6-7. आदि भी।

46. यत् वा एनं विकृपन्ति। एतत् ह वा अस्मिन् देवाः संस्करिष्यन्त...शतब्रा. 7.1.4.18. यथा स्वयं अतृण्णायां उपहिता भूमिं प्राप्नुयात् एवं उपदधाम अस्यां हि एव एता जायन्त इमां अनु प्ररोहन्ति। शतब्रा. 3.2.13.

तमिल का एक शब्द है 'ती', जिसका अर्थ है आग। अग्नि का पुराना नाम है, ती। इसी से देव शब्द की उत्पत्ति हुई लगती है। संस्कृत में मूल 'त्' 'द्' में बदल गया। पर कुछ शब्दों में इसकी छाया बनी रह गयी है। तिक्त-जलाने वाला, काटने वाला, कड़वा; तिग्म-तीखा, पैना; तीक्ष्ण-तीखा; तेज-प्रकाश ज्योति; तितिक्षा-सहनशक्ति, प्र-तीक, टीका, आदि। वैयाकरणों ने इनमें से कुछ के लिए एक अलग धातु 'तिज्' की कल्पना की है, पर तेजस् इस बात का संकेत है कि मूलतः इस वर्ग के शब्दों का आर्थी स्रोत भिन्न नहीं था। उनकी कठिनाई यह प्रतीत होती है कि वे आद्यक्षर 'द्' के किसी प्राचीनतर रूप 'त्' की कल्पना नहीं कर सकते थे। इस मूल 'त्' ने 'द्' का ही रूप नहीं लिया है, अपितु कहीं-कहीं 'ध' रूप भी लिया है। 'धी'-बुद्धि; भोजपुरी 'धिकवल'—गरम करना, उबालना, आदि शब्द 'ती' से ही निकलते हैं। 'ती' वाले रूप से बना शब्द 'तिथि', 'दी' से बने 'दिवस' और 'दिन' के समानान्तर आज भी जीवित है। तमिल का 'ती' शब्द संस्कृत 'दी' का तमिल में आनयन होता तो उसकी अर्थसीमा भी वही रहती। पर उसमें मूल अर्थ 'आग' और लाक्षणिक अर्थ, क्रोध और ज्ञान अधिक संगत और प्राचीन लगते हैं। इससे निकले शब्द तीक्कडन्-अग्नि संस्कार के 'कडन' को 'कृत्य' का अपभ्रंश माना जा सकता है, पर 'तीगु'—बुराई, आफ़त, अपराध; तीक्कायदल्—आग तापना, तीदल्—झुलसना आदि से मूल अर्थ अधिक स्पष्ट होता है। धिक्, या धिक्कार को मूलतः जिस घृणा का सूचक माना जाता है उससे जुड़ी हुई अनिष्ट कामना को तब तक नहीं समझा जा सकता जब तक 'ती-क्कडन' और लौकिक प्रयोग 'आग लगे', 'मुँह जला' आदि को सामने न रखें।

47. अथ अतः अशन अनशनस्य एव।...यत् उ अश्नाति देवान् अति-अश्नाति इति स यत् एव अशितं अनशितं तत् अश्नीयात् इति यस्य वै हविः न गृहणन्ति तेन उ देवान् न अति-अश्नाति। स वा आरण्यं एव अश्नीयात्...।

शतब्रा. 1.1.1.7-10

48. ते देवाः दण्डैः धनुर्भिः न व्यजयन्त...शतब्रा. 1.4.5.6.

49. महाहविषा ह वै देवा वृत्रं जघ्नुः। तेन उ एव व्यजयन्त...शतब्रा. 2.5.1.1; 2.1; 2.5.3.1, आदि।

50. शाकमेधैः एव देवा वृत्रं अघ्नन्...शतब्रा. 2.5.5.1; 2.4.4.1, आदि।

51. वरुण प्रघासैः वै प्रजापतिः प्रजा वरुण पाशात् प्रामुंचत्...शतब्रा. 2.4.4.1.

52. वारुण्या वा एता ओषधयः याः कृष्टे जायन्ते...शतब्रा. 5.2.7.9; देखें 2.4. 3.1; 16; 3.6.4.1, आदि भी।
53. यज्ञेन वै देवाः। इमां जितिं जिग्युः...शतब्रा. 3.1.4.3
54. ब्राह्मणो हि रक्षसां अपहन्ता...शतब्रा. 1.1.4.6.
55. अग्निः हि रक्षसां अपहन्ता तस्मात् देवं उपदधाति...शतब्रा. 1.1.5.6.
56. षड् वा ऋतवः संवत्सरस्य संवत्सरो यज्ञः प्रजापतिः।...द्वादश वै मासाः संवत्सरस्य संवत्सरो यज्ञः प्रजापतिः...शतब्रा. 2.2.2.3-4.
57. वही। यज्ञ चूंकि अन्न का उत्पादन है और अन्न से ही पालन होता है, अतः अन्न को भी प्रजापति होना ही था, अन्नं वा अयं प्रजापतिः त्वत् मुखा एतत् अन्नं अदाम...तत् देवा अन्नं अकुर्वत्। शतब्रा. 7.1.2.4; एष वै प्रत्यक्षं यज्ञो यत् प्रजापतिः। शतब्रा. 4.3.4.3.
58. इमे लोकाः प्रजापतिः। शतब्रा. 7.5.1.27; प्राजापत्यो वा अयं लोकः। तैब्रा. 1.3.7.5; प्रजापतिः वै पृथिव्यै जनिता। शतब्रा. 7.3.1.20.
59. प्रजननं प्रजापतिः। शतब्रा. 5.1.3.10.
60. देवाश्च वा असुराश्च। उभेय प्राजापत्याः। शतब्रा. 1.2.5.1; 2.1.1.8, आदि।
61. असुरों को प्रायः द्वेष करने वाला सौतेला भाई कहा गया है, शतब्रा. 1.1.5.10; 3.3.38, आदि।
62. तु. करें, रक्षो रक्षितव्यं अस्मात्। नि. 4.18. शतपथ ब्राह्मण में एक स्थल पर राक्षस शब्द की व्युत्पत्ति निम्न प्रकार दी गयी है, देवान् ह वै यज्ञेन यजमानाः तान् असुर रक्षसानि ररक्षुः न यक्षध्व इति तद् यत् अरक्षन् तस्मात् रक्षांसि। शतब्रा. 1.1.1.16.
63. ऋतवः ह वै देवेषु भागं ईषिरे। आ नः यज्ञे भजत, मा नः यज्ञात् अन्तर्गता अस्तु एव, नः अपि यज्ञे भाग इति। तत् वै देवा न जज्ञुः। त ऋतवः देवेषु अजानत्सु असुरान् उपावर्तत अप्रियान् देवानां द्विषतः भ्रातृव्यान्॥ ते ह एतां एधतुं मेधां चक्रिरे। यां एषां एतां अनुशृण्वन्ति कृषन्तः ह स्म एव पूर्वे वपन्तः यन्ति लुनन्तः अपरे मृणन्तः शश्वत् ह एभ्यः अकृष्ट-पच्या एव ओषधयः पेचिरे॥ तत् वै देवानां आग आस। कनीय इन्वतः द्विषन् द्विषते अरातीयति किं उ एतावत् मात्रं उपजानीत यथा इदं इतः अन्यथा असत इति। ते ह ऊचुः। ऋतून एव अनुमन्त्रयामहा इति केन इति प्रथमान् एव एनान् यज्ञे यजाम इति॥...शतब्रा. 1.6.1.1-8.
64. यज्ञः ह देवेभ्यः अपचक्राम। ते देवाः अमन्त्रयन्ता नः शृणु उप नः आवर्त्तस्व इति तेन उपावृत्तेन देवा अजयन्त तेन इष्ट्वा एतत् अभवन् यत् इदं देवाः। शतब्रा. 1.5.3.6; ते देवा अकामयन्त। कथं नु इमं यज्ञं पुनः आप्याययेम

आयात यामानं कुर्याम तेन आयातयाम्ना प्रचरेम इति । शतब्रा. 1.5.3.24.

65. वरुण प्रघासैः वै प्रजापतिः । प्रजा वरुण-पाशात् प्रामुन्चत् ता अस्य अनमीवा अकिल्विषाः प्रजा प्राजायन्त अथ एतैः साकमेधैः एतैः वै देवाः वृत्रं अघ्नन्, एतैः वा एव व्यजयन्त...। शतब्रा. 2.4.4.1, आदि।

66. ओषधयः वै देवानां पत्न्यः । शतब्रा. 6.4.2.4.

67. पृथिवी अदितिः सा इयं देवानां पत्नी । शतब्रा. 5.3.1.4.

68. ते देवाः अकामयन्त । कथं नु इमं अपि संवृंजीमहि यः असुराणां इति, ते अर्चन्तः श्राम्यन्तः चेरुः त एतं हविर्यज्ञं ददृशुः यत दर्श पूर्णमासौ ताभ्यां अयजन्त ताभ्यां इष्ट्वा एतं अपि संवृंजत । शतब्रा. 1.7.2.23.

69. कनीयस्विन् इव वै तर्हि समये देवा आसन् भूयस्विनः असुराः । तांब्रा. 12.13.31;
ते असुरा भूयांसः बलीयांसः आसन् । तांब्रा. 18.1.2;

70. सैबुईसी., 43, 1978 सं., 258-61.

71. ततः असुरा उभयीः ओषधीः याः च मनुष्याः उपजीवन्ति याः च पशवः कृत्यया एव त्वत् विषेण एव त्वत् प्रलिलिपुः उत एवं चित् देवान अभिभवेम इति ततः न मनुष्याः आशुः न पशवः आलिलिशिरे ता ह इमाः प्रजा अनाशकेन न उत् पराबभूवुः । शतब्रा. 2.4.3.2.

72. देवा ह वै यज्ञं तन्वानाः । ते असुर रक्षसेभ्यः आसंगात् विभयान् चक्रुः ते ह ऊचुः संस्थापयाम यज्ञं यदि नः असुर रक्षसानि आसजेयुः संस्थति एव नः यज्ञः स्यात् । शतब्रा. 4.1.1.6.

73. वृत्रः ह वा इदं सर्वं वृत्वा शिश्ये । यत् इदं अन्तरेण द्यावा-पृथिवी स यत् इदं सर्वं वृत्वा शिश्ये तस्मात् वृत्रः नाम । शतब्रा. 1.1.3.4.

74. देवाः असुराः वा एषु लोकेषु समततन्त, त एतस्यां प्राच्यां दिशि अयतन्त, तान् ततः असुरा अजयन्, ते दक्षिणस्यां दिशि अयतन्त, तान् ततः असुरा अजयन्, ते प्रतीच्यां दिशि अयतन्त, तान् ततः असुरा अजयन्, त उदीच्यां प्राच्यां दिशि अयतन्त ते ततः न पराजयन्त । सा एषा दिक् अपराजिता । ऐब्रा. 3.3.14.

75. सामाजिक-आर्थिक विकास में यह अकसर देखने में आता है कि किसी चीज का प्रवर्तन करने वाले अपने इस अहंकार के कारण कि उन्होंने इस उन्नत पद्धति को सबसे पहले अपनाया, अपनी पुरानी स्थिति से चिपके रह जाते हैं जब कि उनसे प्रेरणा ग्रहण करने वाले नये प्रयोग करते हुए आगे निकल जाते हैं। झूम या स्थान-बदल खेती करने वालों का दम्भ भी कुछ ऐसा ही है। 'असुर कहानी' में इसका आभास पाया जा सकता है।

76. ते ह ऊचुः संस्थापयाम यज्ञं यदि नः असुर रक्षसानि आसजेयुः संस्थित एव नः यज्ञः स्यात् । शतब्रा. 4.1.1.6.

77. देवाः च वा असुराः च। उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे ततः देवा अनुव्यं इव आसुः अथ ह असुरा मेनिरे अस्माकं एव इदं खलु भुवनं इति। ते ह ऊचुः। हन्त इमां पृथिवीं विभजामहै तां विभज्य उपजीवाम इति, ता औक्षणैः चर्मभिः पश्चात् प्रांचः विभजमाना अभि ईयुः। तत वै देवाः शुश्रुवुः। विभजन्ते ह वा इमां असुराः पृथिवी प्र इत तत् इष्यामः यत्र इमां असुरा विभजन्ते के ततः स्याम यत अस्यै न भजेमहि इति ते यज्ञं एव विष्णुं पुरः कृत्य ईयुः। ते ह ऊचुः। अनु नः अस्यां पृथिव्यां आभजत अस्तु एव नः अपि अस्यां भाग इति ते ह असुरा असूयन्तः इव ऊचुः यावत् एव एष विष्णुः अभिशेते तावत् वः दद्म इति। वामनः ह विष्णुः आस। तत् देवा न जिहीडिरे महत् वै नः अदुः ये नः यज्ञ सम्मितं अदुः इति। ते प्रांचः विष्णुं निपाद्य। छन्दोभिः अभितः परि अगृह्णन् "गायत्रेण त्वा छन्दसा गृह्णामि" इति दक्षिणतः, त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा परि-गृह्णामिः इति पश्चात्, 'जागतेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामि' इति उत्तरतः। तं छन्दोभिः अभितः परिगृह्य। अग्निं पुरस्तात् समाधाय तेन अर्च्चन्तः श्राम्यन्तः चेरः तेन इमां सर्वां पृथिवीं समविन्दन्त तत् यत् अनेन इमां सर्वां समविन्दन्त तस्मात् वेदिः नाम तस्मात् आहुः यावती पृथिवी इति, एतया हि इमां सर्वां सं-अविन्दन्त एवं ह वा इमां सर्वां सपत्नानां सं-वृंक्ते निर्भजति अस्यै सपत्नान य एवं एतत् वेद। सः अयं विष्णुः ग्लान। छन्दोभिः अभितः परिगृहीतः अग्निः पुरस्तात् न अपक्रमणं आस स तत् एव ओषधीनां मूलानि उप-मुम्लोच। ते ह देवा ऊचुः। 'क्व नु विष्णुः अभूत, क्व नु यज्ञः अभूत' इति ते ह ऊचुः 'छन्दोभिः अभितः परिगृहीतः अग्निः पुरस्तात् न अपक्रमणं अस्ति, अत्र एव अनु इच्छत' इति तं खनन्त इव अनु ईषुतं त्रि-अंगुले अनु अविन्दन् तस्मात् त्रि-अंगुला वेदिः स्यात्, तत् उ ह अपि पांचिः त्रि-अंगुलां एव सौम्यस्य अध्वरस्य वेदिं चक्रे। चत् उ तथा न कुर्यात्। ओषधीनां वै स मूलानि उप मुम्लोचत् तस्मात् ओषधीनां एव मूलानि उच्छेत्तवै ब्रूयात्, अनु एव अत्र विष्णुं अनु-अविन्दन् तस्मात् वेदिः नाम। तं अनुविद्य उत्तरेण परिग्रहेण परि-अगृह्णन्। 'सुक्ष्मा च असि शिवा च असि' इति दक्षिणतः इमां एव एतत् पृथिवीं संविद्य सुक्ष्मां शिवां अकुर्वत 'स्योना च असि सुषदा च असि' इति पश्चात् इमां एव एतत् पृथिवीं संविद्य स्योनां सुषदां अकुर्वत 'ऊर्जस्वती च असि पयस्वती च' इति उत्तरतः इमां एव एतत् पृथिवीं संविद्य रसवतीं उपजीवनीयां अकुर्वत। शतब्रा. 1.2.5.1-11.

78. यज्ञो वै विष्णुः। शतब्रा. 1.1.2.13; 3.1; 3.1.16; 3.5.2.3; 3.2; 4.2.1.10, 13.1.8.8, आदि। यज्ञो विष्णुः, 1.9.3.9; कौषीब्रा. 4.2; गो-उब्रा. 4.6; तै. 1.2.5.1. विष्णु शब्द की व्युत्पत्ति विश — विस्तृत होना, फैलना आदि, से मानी गयी है जो अग्नि के सन्दर्भ में ठीक ही है। उसका एक पर्याय

ही है वैश्वानर और यही काम विष्णु भी करते हैं। अग्नि के तीन रूपों—पार्थिव, अन्तरक्षीय और द्युलोकीय को सामने रखें तो तीन चरणों में इस अग्नि द्वारा तीनों लोकों को माप लेने की बात भी स्पष्ट हो जायेगी जो बाद की कथाओं में देखी जाती है। ऋग्वेद तक इस परवर्ती कथा का रूप गढ़ा जा चुका था, 'इदं विष्णुः विचक्रमे त्रेधा नि दधे पदम्। समूढ़ अस्य पांसुरे।। त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुः गोपा अदाभ्यः। अतः धर्माणि धारयन्।'

ऋ. 1.22.17; 18;

पर यहाँ यह स्मरण करना उपयोगी होगा कि वन-दहन का यह कार्यक्रम पहले से चला आ रहा था। वामनावतार से पहले से। अतः विष्णु का यह अवतार या वामन रूप उतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना उनकी खोज वनस्पतियों की जड़ों में करना और ज़मीन को खोदकर उनको निकालना अर्थात् इन वन्य घासों और तृणों की जड़ों को खोदकर निकालना और भूमि का संस्कार करना ताकि भूमि की उर्वरता को खर-पतवार नष्ट न करें और उसका पूरा लाभ खाद्य-धान्यों को मिल सके। यह है जोताई-बोआई का आरम्भ। इसी के साथ जुड़ा है धरती को सुषदा बनाना, अर्थात् स्थायी बस्ती के योग्य बनाना या एक जगह टिककर खेती करना। अतः इस नये चरण के साथ पहली बार देव विश बनते हैं, स्थायी रूप से टिककर या वेश्म बनाकर रहने वाले। ऋग्वेद के उक्त सूक्त में भी यह स्पष्ट है, "स्योना पृथिवी भव अनृक्षरा निवेशनी। यच्छ नः शर्म सप्रथः।।" ऋ. 1.22.15. यहाँ धरती को निवेशनी बनाने का तथ्य इसे स्योना और पांसुर बनाने के तथ्य से कम रोचक नहीं है।

यास्क भी 'विष्णुः विशतेः वा वि-अश्नोतेः वा' (निरुक्त 12.18) में इस तरह की सम्भावना को स्वीकार करते हैं।

79. एष वै यज्ञो यत् अग्निः। शतब्रा. 2.1.4.19.

80. तीनों लोकों की विजय अग्नि के भौम, अन्तरिक्षीय और द्युलोकीय तीन रूपों—आग, इन्द्र और सूर्य—की कल्पना की देन है।

81. अथ इमां उप अवेक्षमाणः जपति 'नमो मात्रे पृथिव्यै नमो मात्रे पृथिव्यै' इति, बृहस्पतेः ह वा अभिषिषिचानात् पृथिवी बिभयांचकार महत् वा अयं अभूत यः अभ्यषेचि यत् वै मा अयं न अवदृणीयात् इति, बृहस्पतिः ह पृथिव्यै बिभयांचकार यत् वै मां इयं न अवधून्वीत इति, तत् अनया एव एतत् मित्र-धेयं अकुरुत न हि माता पुत्रं हिनरित न पुत्रः मातरम्। शतब्रा. 5.2.1.18. देखें 19 भी।

82. स्वयं वैदिक समाज में भी ऐसे पुरानपन्थी लोगो का अभाव नहीं रहा है जो केवल उस अन्न पर गुज़र करने का संकल्प लेते थे जो खेत या ज़मीन पर

गिरा मिले। इन्हें चणक या अन्न कण जुटाने वाला कहा जाता था। चाणक्य शब्द भी इसी चणक से व्युत्पन्न है।

83. सच्चिदानन्द मिश्र ने इसके लिए तीक्ष्णाग्र दण्ड शब्द का प्रयोग किया है।

84. शतब्रा. 5.4.1.15.

85. ऋ. 3.32 11.

86. डी. पी. चट्टोपाध्याय, लोकायत।

87. शतब्रा. 5.2.4.13; सैबुईसी. 41.51.

88. देवताओ ने कहा, गाय और बैल ही तो सभी का भरण करते हैं अतः गाय और बैल का मांस न खायें...यदि कोई गाय या बैल का मांस खाता है तो यह कुछ वैसे ही होगा जैसे वह सब कुछ खा जाये, सर्वनाश कर डाले। ऐसे व्यक्ति की अगले जन्म में दुर्दशा होगी। यह ऐसा ही जघन्य अपराध है जैसे भ्रूण-हत्या। इसके बावजूद याज्ञवल्क्य ने कहा कि 'मैं तो खाता हूँ। हाँ, इसे नरम होना चाहिए।" स धेन्वै च अनुडहश्च न अश्नीयात् धेनु अनडुहौ वा इदं सर्वं बिभृतः ते देवाः अब्रुवन्...यः धेनु अनडुहयोः अश्नीयात् अन्तगतिः इव तं ह अद्भुतं अभिजनितोः जायायै गर्भं निरवधीत इति पापं अकृत इति पापी कीर्तिः तस्मात् धेनु-अनडुहयोः न अश्नीयात् तत उ ह उवाच याज्ञ्य-वल्क्यः अश्नामि एव अहं अंसलं चेत् भवति इति ।। शतब्रा. 3.1.2.21.

89. ऋ. 4.18.13.

90. रोमिला थापर, पूर्व., 1978, 217; देखें, वही, पाद टिप्पणी, पृ. 232.

91. अन्नं वै गोधूमा अन्नं वा एष उज्जयति यो वाजपेयेन यजते...शतब्रा. 5.2. 1.13; गौधूमं चषालं भवति। पुरुषो वै प्रजापतेः नेदिष्ठं सो अयं त्वक् ऐते वै पुरुषस्य औषधीनां नेदिष्ठतमां यद् गोधूमाः तेषां न त्वक् अस्ति मनुष्य-लोकं एव एतेन उज्जयति। शतब्रा. 5.2.1.6.

92. देखें, प्री-आर्यन ऐंड प्री-द्रविडियन इन इंडिया, सं. पी. सी. बागची, 1929 में ब्लाख, पृ. 49 व 53; भगवानसिंह, आर्य द्रविड़ भाषाओं की मूलभूत एकता, 1973, 32. कौदुमै गोधूम का तमिल में आनयन नहीं है। कोदु-, कोत्तु से भारतीय बोलियों में अनेक खाद्य वस्तुओं के नाम जुड़े हुए हैं —कोत्तुमल्लि, कोत्तन्, आदि। कोत्तु का शाब्दिक अर्थ है गुच्छा, आवरण, हिंदी का धवद—गुच्छा इसी से सम्बन्धित है। कोवा – कटहल का कोदो, कोत्तलि या बदली, म-कोय, कोय-ना- महुए का फल, कोयरी-सब्ज़ी उगाने वाला, गोदा-पीपल का फल; सं. गुद्-ढकना, आदि इसी मूल से निकले हैं। कोदो, गेहूँ, कोवा, मकोय, केला आदि सभी के बीज/फल आवरण के भीतर लिपटे होते हैं। अतः गोधूम जो अपने इस उच्चारण में अर्थ की दृष्टि से खासा अटपटा लगता है, इस मूल कोदुमै का विकृत या 'संस्कृत' रूप है।

कम-से-कम फ़ारसी तक गन्दुम शब्द की व्याप्ति गेहूँ की खेती की शुरुआत भारत में और यहाँ से ईरान की ओर प्रसार को प्रकट करता है। इसके बावजूद गेहूँ जौ की अपेक्षा नया धान्य प्रतीत होता है और सम्भवतः इसलिए यज्ञ के प्रयोजन के लिए जौ का महत्व अधिक रहा है। इसके अतिरिक्त देवताओं को चढ़ाया जाने वाला अन्न हो या पशु उसे अक्षत होना चाहिए—उसका कोई हिस्सा टूटा या कटा (जूठा) नहीं होना चाहिए। गेहूँ अपने फटे पेट के कारण इसके उपयुक्त नहीं हो सकता था। मलेच्छ भोजन के पीछे भी ऐसा ही कोई तर्क रहा लगता है या, सम्भव है, पुरुषोत्तम देव जिस क्षेत्र के पंडित हैं उसमें गेहूँ पैदा ही न होता रहा हो और इसका भोजन विकार पैदा करने वाला माना जाता रहा हो जैसे बंगाल में माना जाता रहा है। हमारे लिए महत्वपूर्ण बात यह है कि इससे अधिक प्राचीन विवरणों में इस तरह का संकेत नहीं मिलता।

93. हेरोडोटस, हिस्ट्रीज, II, 1901, 14, विलडुरांट, आवर ओरिएंटल हेरिटेज, 1954, 156.

94. भगवानसिंह, पूर्व., 139-86.

95. ऋषि शब्द की अनेक व्याख्याओं में से एक यह है कि इन्होंने कठोर श्रम और तप किया और इसीलिए ऋषि कहलाये। यह एक रोचक बात है कि चाहे मनुष्य हो या देवता, सृष्टि और नवप्रवर्तन के साथ बार-बार श्रम और तप का उल्लेख आता है। आगे चलकर इस श्रम और तप ने हठयोग का रूप ले लिया, पर आरम्भ में यह उत्पादन के लिए श्रम, नयी सृष्टि या आविष्कार के लिए श्रम ही रहा लगता है। इसकी असाधारण महिमा और प्राचीन ऋषियों, नयी उत्पादन पद्धति में अग्रणी भूमिका प्रस्तुत करने वालों के साथ, इस शब्द के जुड़े रहने के कारण विभिन्न साधना और चिंतन पद्धतियों के साथ जुड़े व्यक्तियों को भी श्रमण, ऋषभ, तपस्वी, यती, आदि कहा जाने लगा। "ते यत् पुरा अस्मात् सर्वस्मात् इदं इच्छन्तः श्रमेण तपसा अरिषन् तस्मात् ऋषयः।" शतब्रा. 6.1.1.1; "सः अयं पुरुषः प्रजापतिः अकामयत। भूयान् स्याम् प्रजायै इति सः अश्राम्यत् तपो अतप्यत स श्रान्तः तेपानः ब्रह्मैव प्रथमं असृजत्...।" 6.1.1.8.

अध्याय चार

अतिरिक्त उत्पादन और स्वर्ग की तलाश

कृषि-क्रान्ति सहस्राब्दियों के दौरान फैला हुआ एक ऐसा आर्थिक रूपान्तरण है जिसकी वास्तविक प्रकृति और भूमिका को कई बार ग़लत रूप में पेश किया जाता है। जब हम इसके लिए क्रान्ति शब्द का प्रयोग करते हैं तो कुछ ऐसा लगता है मानो यह सारा परिवर्तन एक झटके में ही पूरा हो गया हो। इसी तरह जब हम शहरीकरण को कृषि-क्रान्ति से सीधे जोड़ देते हैं, तो उस गुणात्मक परिवर्तन को सही परिप्रेक्ष्य में रखने में भूल करते हैं जो शहरीकरण के साथ घटित हुआ।

वास्तव में कृषि-क्रान्ति के दौर में मनुष्य के आहार-संग्रही से उत्पादक बनने से उतना बड़ा अन्तर नहीं आया जितना इसके कारण आने वाले सामाजिक-आर्थिक सम्बन्धों में अन्तर से पड़ा। इससे पहले आखेट और आहार-संग्रह के चरण में ही नहीं, बल्कि पशुचारण काल में भी जो उत्पाद थे उनकी प्रकृति नश्वर थी। कहें दूध, फल, कन्द, मांस ये सभी अपने स्रोत से अलग होने के बाद इतने कम समय में ही नष्ट हो सकते थे कि इनका संग्रह नहीं किया जा सकता था, अतः इनके अतिरिक्त अंश को दूसरों के साथ मिल-बाँट कर खाना होता था। यह इस प्राचीन चरण के नैतिक तकाज़ों की ही याद है जिसके कारण व्यक्तिगत सम्पत्ति का विकास हो जाने के बाद भी दूध, फल, मांस आदि के विक्रय को पेशे के रूप में गर्हित माना जाता रहा है।

पर कृषि के साथ एक ऐसा उत्पाद हासिल हुआ जिसे अपेक्षाकृत लम्बे समय तक संग्रहीत किया जा सकता था। इस संग्रह के बल पर लम्बे समय तक की निश्चिन्तता हासिल की जा सकती थी। यदि संग्रह का रूप ऐसा हो कि इसके साथ ही कुछ दूसरे लोगों को इससे अपेक्षाकृत वंचित भी किया जा सके तो अपने अतिरिक्त संचित भण्डार के बल पर दूसरों को अपना उपकरण बनाया जा सकता था। अतः कृषि के आविर्भाव के साथ हम कुछ स्पष्ट चरण देख सकते हैं—

1. कृषि-भूमि पर अधिकार और इसे घास-मोथे से रहित करके, जोताई और गोड़ाई से इसको उपजाऊ बनाना।
2. अपनी निजी शक्ति से जितनी भूमि पर खेती की जा सकती थी उससे भी अधिक बड़ी भूमि की सफ़ाई और उससे दूसरों को वंचित करना और इन स्वत्व-वंचितों को अपना उपकरण बनाना।
3. भूस्वामियों का उत्पादन-कार्य से पूरी तरह मुक्त हो जाना और अपेक्षाकृत और भी बड़े भूखण्ड पर अधिकार और इस अधिकार को क्रियान्वित करने के लिए दमन-तन्त्र और अपहरण-तन्त्र का विकास और फिर इस समग्र अतिरिक्त उत्पादन को हड़पकर मालामाल हो जाना।
4. इस अनुपातहीन सम्पन्नता के बल पर अब अपनी सेवा-सुश्रूषा के लिए भी घरेलू दास-दासियों का उपयोग और दूसरी ओर विलासिता और सौख्य के विविध रूपों—अच्छे आवास, वस्त्र, अलंकार, खाद्य पदार्थों आदि की चिन्ता।
5. और इस अन्तिम के कारण इन वस्तुओं के उत्पादन या सुदूर स्थानों से जुटाने के लिए घरेलू उद्योग और क्षेत्रीय और फिर सुदूर व्यापार का आरम्भ। यही ऐसे स्थलों पर जहाँ से सुदूर स्थलों की यात्राएँ अधिक आसानी से की जा सकें, नगर-केन्द्रों की स्थापना का कारण बनता है।

नगर-स्थापन की इस घटना को भारतीय परम्परा लम्बे समय तक देवों के धरती या कार्य-क्षेत्र से अलग होकर स्वर्ग बसाने और स्वर्ग की यात्रा करने की पुरोहिती आडम्बरपूर्ण कथाओं में बार-बार याद किया जाता रहा है। अतः इन परम्परागत विवरणों में कृषि के आरम्भ में उत्पादन-कार्य में लगे देवों की उस विकास-यात्रा को पहचानना कुछ उपयोगी हो सकता है जिसमें वे क्रमशः कृषक से भू-स्वामी और फिर व्यापारी और उपनिवेशवादी बनते हैं और फिर तो धरती और स्वर्ग का यह अलगाव इतना तीखा हो जाता है कि स्वर्ग धरती से उठकर आकाश में चला जाता है। हमें ये विवरण जिस काल की कृतियों से प्राप्त होते हैं वे द्युलोकीय स्वर्गों की कल्पना से हज़ारों वर्ष बाद की हैं, पर विभिन्न आनुष्ठानिक कृत्यों का औचित्य समझाने के व्याज से पुरानी घटनाएँ जिस तरह दुहरायी जाती हैं उनको निकट से देखने पर हम वास्तविकता को आसानी से समझ सकते हैं।

1
कृषिकर्मी देवता

हमने पिछले अध्याय में यह कहा है कि देवता शब्द मूलतः 'ती'—आग से

निकला है और इसका प्रयोग उन व्यक्तियों के लिए हुआ था जिन्होंने जंगलों को जलाकर खेती की शुरुआत की थी। सभी देवताओं को अग्नि का ही रूप-भेद मानना, सबका अग्नि पर और यज्ञ पर ही अपने जीवन के लिए निर्भर करना इस रहस्य के कारण भी हो सकता है। अत: देव और सुर शब्द भी आर्य और कृष्टी की तरह आरम्भ में कृषि-कर्मी या उत्पादक के ही पर्याय थे।

इस प्रथम चरण में देवों ने स्वत: ज़मीन को तृण-गुल्मों से साफ़ करके खेती योग्य भूमि हासिल की।[1] वे भूमि की स्वत: जोताई करते और इस जुती हुई भूमि में और इसके साथ कछार आदि की ऐसी ज़मीन में जिसमें जोताई की आवश्यकता नहीं थी बिना जोताई के ही, बोआई करते रहे।[2] उन्होंने अर्चना(फसल की अच्छी देखभाल?), श्रम और तप के बल पर दूसरों की अपेक्षा असाधारण सफलता हासिल की, जिसे बार-बार जय कह कर याद किया गया है। परन्तु यह सारा प्रयास कृषि-कार्य के सिलसिले में था, इस विषय में किसी तरह का भ्रम नहीं रहने दिया गया है।[3] यज्ञ जिसने आगे चलकर कृषि-कर्म का स्थान ले लिया या, कहें, देवों के स्वामी बनने के बाद जो वास्तविक कृषि-यज्ञ की नकल बनकर रह गया, आरम्भ में उत्पादन या कृषि का यही श्रेष्ठ कर्म था और यही धर्म का प्राचीन रूप था।[4]

कृषि-कर्म अपनाने से पहले वर्ष के कुछ मौसमों में तो फल-कन्द और शिकार की अधिकता रहती थी, शेष में पेट भरना कठिन हो जाता था और क्षुधार्तता और अन्ध-उदरपूर्ति की इन दोनों अतियों का सामान्य स्वास्थ्य पर बहुत बुरा असर पड़ता था और इसके कारण कुपोषण और व्याधि से मृत्यु की दर बहुत अधिक थी। पर कृषि के बाद अब देव रोग और दोष से मुक्त, अनमीव और अकिल्विष होने लगे और उनकी आयु लम्बी होने लगी। अब वे मर्त्य—अकाल मृत्यु के पात्र—से अमर्त्य या पूर्णायु भोग करने वाले हो गये। इस बात को दुहराना ज़रूरी है कि आरम्भ में अमरता का अर्थ मृत्यु से मुक्ति नहीं, अपितु इसका अर्थ पूर्णायु होना या शतायु होना, अर्थात् अकाल मृत्यु से बचे रहना था।[5]

इस आरम्भिक चरण में कर्म[6], धर्म[7], व्रत[8] आदि ने परवर्ती कालों का वाय-वीय अर्थ नहीं ग्रहण किया था।

पर सुपोषण और आरोग्य का सीधा परिणाम था जनसंख्या तेज़ी से वृद्धि और इस वृद्धि के कारण अधिक कृषि-भूमि की आवश्यकता और फिर देवों का अपने आसपास के जंगली इलाके को जलाकर वहाँ के क़बीलों को उनकी वन-सम्पदा से वंचित करके उस पर ज़बरदस्ती क़ब्ज़ा करना और इस तरह देवों और असुरों में उस कठिन संघर्ष का आरम्भ जिसमें इस सैनिक तकाज़े से भी यथाशक्ति अधिक-से-अधिक सन्तान पैदा करने पर ज़ोर दिया जाता है ताकि असुरों को मारा जा सके।[9] दूसरी ओर, असुर जिनके लिए जीने-मरने का सवाल पैदा हो चुका है देवों या इन कृषि-कर्मियों का जीना दूभर किये रहते हैं।[10] असुरों की बेदख़ली और

देवों की छीन-झपट और इसके कारण चलती रहने वाली कटुता और संघर्ष की एक बहुत लम्बी कहानी है और एक तरह से हम कह सकते हैं कि यह दबाव और छीन-झपट आज भी जारी है, यद्यपि इसने इस लम्बे दौर में एक सर्वथा भिन्न रूप ले लिया है। अपनी उच्च तकनीक के कारण वन्य क़बीले इस पूरे दौर में छले और सताये ही गये हैं और इसके बावजूद अपनी रक्षा के लिए उनके प्रतिरोध के कारण उनको सदा आततायी और विघ्नकारी ही बताया जाता रहा है जो अपनी पिछड़ी जीवन-पद्धति के कारण वे कुछ दूर तक बने रहने को मजबूर भी थे, पर उन्हें हम क्रमशः जितना लाचार और कमज़ोर हाल के दौर में पाते है उतने निरीह वे पहले नहीं थे और देवों से पराजित होने के बाद भी वे बार-बार नये सिरे से संगठित होकर, अन्य वन्य क़बीलों को साथ लेकर बहुत दृढ़ता से प्रतिरोध कर रहे थे और उनके जुझारूपन को देखकर लगता था कि ये रक्तबीज हैं। अपने दमन और संहार के बावजूद वे बार-बार उठ खड़े होते हैं।[11]

पर इस उग्र और साहसिक प्रतिरोध के बावजूद जब तक असुर स्वयं भी उसी उन्नत तकनीक को नहीं अपनाते तब तक उनको निरन्तर पराजित होते और अपनी भूमि गँवाते ही जाना था। और यही हुआ। देव या कृषि-कर्मी जमात ने उस समस्त भू-भाग को जिसमें आसानी से खेती हो सकती थी, अपने कब्ज़े में कर लिया और असुरों को बेदख़ल कर दिया।[12]

अपने अरण्य क्षेत्र और इसकी प्रकृत सम्पदाओं से वंचित असुरों के पास केवल तीन विकल्प बच रहते हैं, इस क्षेत्र को जो उनसे छीन लिया जाता है, छोड़-कर जंगलों में लौट जाना या कहीं दूर भाग जाना। यहाँ उन्हें प्रायः उन वन्य क्षेत्रों पर अधिकार जमाये अन्य क़बीलों के प्रतिरोध का सामना करना पड़ता है। दूसरा विकल्प है कुछ पीछे हटकर अन्य वन्य क़बीलों को संगठित करना और उन्हें यह समझाना कि जो विपदा उन पर आज आयी है वह कल इसी भूविस्तार के अभि-यान में उन पर भी आ सकती है और इस तरह उनके सहयोग से आक्रामक दस्ते तैयार करना और बदले की कोशिश करना। तीसरा विकल्प है इन कृषिकर्मियों के सम्मुख आत्मसमर्पण और उनकी सेवा करते हुए अपना जीवनयापन करना।

इस तीसरे विकल्प के कारण, देवों को भू-दासों की एक पूरी जमात मिल जाती है, जिन्हें सुरक्षा देकर वे अपने श्रमिकों के रूप में उपयोग में लाना आरम्भ करते हैं। वायु पुराण के विवरण के अनुसार कर्षणज सस्य की उत्पत्ति होने के बाद, "उनकी सन्दिग्ध वार्ता में यानी जीविकोपाय के विवाद में ब्रह्मा ने बहुतेरी मर्यादा (व्यवस्था) स्थापित की। उनके बीच जो बलवान और भूमिपति थे उन क्षत्रियों को दूसरों की रक्षा का भार सौंपा। जो उन क्षत्रियो के निकट निर्भय हो-कर जीते थे, सत्यवादी और सर्वभूतों में ब्रह्मज्ञानवान् थे वे ब्राह्मण कहलाये। जो उनकी अपेक्षा क्रूर कर्म वाले और यम की तरह जान-बूझकर पृथ्वी पर प्रजाओं का

नाश करते थे उन्हें कीनाश पद से अभिहित कर वैश्य कहा और उन्हें सर्वसाधारण के वृत्ति-साधन कार्य में लगाया। जो सोचते हुए, शोक करते हुए इधर-उधर भ्रमण करते थे और निस्तेज थे, उन्हें शूद्र कहा और उन्हें परिचर्या कार्य में लगाया।"[13]

वह विवरण बहुत बाद का है और इसमें कालक्रम से कुछ विकृति आ गयी है, पर इसके बावजूद इसमें वास्तविकता का बहुत विश्वसनीय चित्र पेश किया गया है। भारतीय सन्दर्भ में यह एक पहेली-सी बनी रही है कि एक तो कृषि, गोपालन और वाणिज्य को वैश्यों का काम बताया जाता रहा है जिससे ऐसा लगता है कि सम्पत्ति के सभी रूपों पर वैश्यों का अधिकार रहा है, और दूसरी ओर सवर्ण समाज में उनको सबसे नीचे स्थान दिया जाता रहा है। सम्पत्ति पर अधिकार रखने वाला वर्ग अपनी क्रूरता और दमन से शून्य नहीं हो सकता और इसके बावजूद वैश्यों को शान्तिप्रिय और सहिष्णु बताया जाता रहा है। इसका अर्थ यह हो सकता है कि सम्पत्ति के सभी रूपों पर क्षत्रियों का अधिकार था और वे प्रत्यक्षतः कोई काम न करके जिन प्रबन्धकों या पर्यवेक्षकों के माध्यम से विविध काम करा रहे थे उन्हें ही वैश्य कहा गया, अन्यथा यह कि आरम्भ में वैश्य शब्द का प्रयोग समूचे स्वामी-वर्ग के लिए होता था जिसमें तीनों उच्च वर्ण शामिल थे और इनका अलगाव बाद में हुआ।

वायु पुराण के उक्त विवरण के अनुसार जिन लोगों को भूसम्पत्ति और पशु-पालन का भार सौंपा गया था वे क्रूर कर्म करने वाले और यम की तरह प्रजाओं को उत्पीड़ित करने वाले लोग थे। अतः यही अधिक ठीक लगता है कि वैश्य शब्द आरम्भ में समूचे स्वामी-वर्ग के लिए प्रयोग में आता था और ये लोग अपने दासों और श्रमिकों के साथ बहुत कठोरता से पेश आ रहे थे और इसी के बल पर वे उनके द्वारा उत्पादित धन का एक बड़ा हिस्सा हड़पने में और इनको नियन्त्रित करने में समर्थ थे।

इसी तरह दासों या शूद्रों के विषय में भी वायु पुराण का उक्त विवरण अधिक संगत प्रतीत होता है। अपनी वन-सम्पदा से वंचित हो जाने के बाद जो लोग निराश्रय हो गये थे उनमें से ही अधिकांश लोगों को इस अग्रधर्षी वर्ग के सम्मुख, जो ही उनके आखेट और आहार-संग्रह क्षेत्र को जलाकर ख़त्म करने और इसे कृषि भूमि में परिवर्तित करने के लिए उत्तरदायी था, आत्मसमर्पण करने को और उसकी अपनी शर्तों पर जीने को बाध्य होना पड़ा था।

इस तरह उत्पादन के साधनों पर अधिकार करने के बाद पहले का मानव समाज जो सुर (उत्पादक) और असुर (अनुत्पादक) में विभाजित था अब देव, विश्वदेव या विश या मनुष्य और दास या असुर में विभाजित दिखायी देता है : देव उत्पादन के साधनों पर अधिकार रखने वाले या भूसम्पदा और पशुसम्पदा के मालिक; विश्वदेव या मनुष्य उनके द्वारा नियुक्त कार्यभारी या पर्यवेक्षक और

दास या श्रमिक। वन्य असुर इस काल में भी तनाव की स्थिति में रहते और इस व्यवस्था का विरोध करते दिखायी देते हैं।

दासों को न केवल श्रमिक और घरेलू नौकर का काम करना पड़ता है, अपितु उनको शिल्पी का काम भी क्रमशः सौंप दिया जाता है। कुशल श्रमिकों की स्थिति निश्चय ही निरे श्रमजीवी दासों से अधिक अच्छी रही होगी, पर बहुत अच्छी नहीं। दासों को श्रम का अक्षय स्रोत और वशवर्ती बनाए रखने के लिए उन पर जो शर्तें लगायी गयी हैं वे उनके भौतिक उत्थान को ही नहीं, उत्थान की सम्भावना को भी समाप्त कर देती हैं। उनका निवास बस्ती से बाहर होगा, ताकि मौक़ा देखकर वे हमला न कर दें। उनके पास न तो कोई वाहन होगा, न ही हथियार। अपने काम के औज़ार वे अवश्य रख सकते हैं। भूसम्पदा पर उनका अधिकार नहीं हो सकता। उनको शिक्षा से वंचित कर दिया गया है, और आतंक क़ायम रखने के लिए आज्ञापालन में तनिक भी प्रमाद होने पर उनको मृत्युदण्ड तक दिया जा सकता है। इसके बावजूद इस बात की पूरी व्यवस्था की गयी है कि उनका जीवन-निर्वाह होता रहे, जो व्यवस्था पशु तक के मामले में भी करनी ही पड़ती है। वस्तुतः शूद्रों की उपमा जो पशु से दी जाती रही है वह मात्र असावधानी या जुगुप्सा के कारण नहीं है। जिस प्रकार पशु को हर प्रकार से वशवर्ती बनाने के लिए उसे नाथने, बाँधने, कसने के लिए विविध तरीके विकसित किये गये उसी तरह शूद्रों के मामले में भी किया गया। शब्दशः नहीं, परन्तु मानसिक रूप से उनको बधिया बनाने की भी पूरी कोशिश की गयी।

उत्पादन के स्रोतों पर अधिकार के बल पर ही अब वे ही देवता जो श्रम और तप करते थे और सीधे उत्पादन-कर्म से जुड़े थे एक तरह से स्वयं असुरों में या अनुत्पादकों में बदल जाते हैं। जो काम वे पहले स्वयं करते थे वह काम अब मनुष्यों या कृष्टियों पर छोड़ दिया जाता हैं।[14] देवताओं के पूर्वकृत कर्म ही अब मनुष्यों के आदर्श बन जाते हैं।[15] पर जहाँ पहले यज्ञ का अर्थ था उत्पादन करना और मिल-बाँटकर खाना, वहाँ अब इसका अर्थ है उत्पादन करना और पहले देवताओं का हिस्सा अलग करके उन्हें पहुँचाना[16] और फिर बचे हुए में अपना भरण करना।[17] यदि मनुष्य यज्ञ न करें या देवताओं का हिस्सा उन्हें न पहुँचाएँ तो देवताओं को भोजन न मिले।[18] इस तरह देवों का उत्पादन पर अप्रत्यक्ष नियन्त्रण बना रहता है। सीधे उत्पादन-कर्म में हिस्सा न लेने वाले ये देव जिनमें अग्नि और वरुण हैं और जो क्रमशः ब्राह्मणों और मन्त्रियों के प्रतीक हैं, उपजीवी की-सी स्थिति में आ जाते हैं।[19] इन्द्र वणिकों के प्रधान हैं। जो देव पहले भूमि का संस्कार और बीज का वपन करते थे, जोताई और बोआई करते थे, उनके प्रतिरूप क्षत्रिय और ब्राह्मण अब हल की मूठ भी नहीं पकड़ते और फिर भी सर्वोत्तम का भोग करते हैं।

इस तरह जो समृद्धि पैदा होती है उसके बाद प्रभुत्व की कामना और अपना-

अपना वर्चस्व स्थापित करने की प्रतिस्पर्धा उत्पन्न होती है। देवताओं में एक तरह का आन्तरिक कलह पैदा हो जाता है। इस कलह के दो कारण हैं : एक तो अपने लिए अधिक बड़े हिस्से की माँग और दूसरा है अपनी अधिमान्यता की भूख। यज्ञ में मेरा भी हिस्सा है, उत्पादन में मेरा पहला हिस्सा है, इस बात को लेकर प्रायः कलह पैदा होता है। इसे ब्राह्मणों में अग्नि, इन्द्र, वरुण, ऋतुओं, वाणी आदि के द्वारा अपने हिस्से के दावों के रूप में अनेक अन्तर्कथाओं में प्रस्तुत किया गया है जो देव-समाज में अपने-अपने हिस्से के लिए हुई तक़रारों का ही प्रतीकात्मक अवशेष है।[20] दूसरा है प्रभुत्व को लेकर देवसमाज का अनेक बार कम-से-कम दो पक्षों में बँट जाना। जब तक देवता स्वयं उत्पादन करते थे तब तक भाग लगाने का झगड़ा नहीं था। जिसने जितना पैदा किया वह उसका। परन्तु जब उत्पादक दूसरे हैं और प्रश्न अतिरिक्त उत्पादन को हड़पने का है तो इनमें से प्रत्येक दूसरे से चालाकी करेगा ही। वैदिक भाग वितरण को कबीलाई समतुल्य वितरण नहीं माना जा सकता। कबीलाई वितरण में अधिक-से-अधिक हड़पने की कोशिश नहीं होती। पर वैदिक वितरण में सर्वत्र चालाकी के दर्शन होते हैं और आदर्श यह रखा जाता है कि सभी को उसका उचित हिस्सा मिले।

ऐसा लगता है कि आपसी फूट और प्रतिस्पर्धा के इस दौर में दासों द्वारा, जिन्हें देवसमाज में अनुगत के रूप में वन्य कबीलों से आये होने के कारण जब-तब असुर भी करार दिया जाता है, विद्रोह भी किया जाता है और वे अपने स्वामियों के बन्धन से मुक्त होने का और उन्हें समाप्त करने का प्रयत्न करते हैं, पर इस अप्रत्याशित घटना के कारण देववर्ग अपनी भूल पहचान लेता है और पुनः संगठित हो जाता है। इस तरह की घटना शतपथ ब्राह्मण में निम्न प्रकार दी गयी है :

जब देवताओं ने आतिथ्येष्टि यज्ञ कर लिया तो उनके बीच फूट पैदा हो गयी। वे चार दलों में बँट गये और कोई किसी की श्रेष्ठता को स्वीकार करने को तैयार न था। अग्नि के साथ वसुगण हो गये, वरुण के साथ आदित्य, इन्द्र के साथ मरुद्गण और कुछ का कहना है कि बृहस्पति के साथ विश्वदेव हो गये, पर दर-असल जो चार वर्गों में बँटे थे वे ही तो विश्वदेव—समग्र देवता हैं। जब उनमें अलगाव हो गया तो असुर-राक्षस उनके पीछे आये और उनके बीच घुस गये। अब उन्हें इसका बोध हुआ कि अरे असुर-राक्षस हमारे बीच घुस आये हैं, अब हम मुश्किल में पड़ गये; हम अपने शत्रुओं के चंगुल में आ जायेंगे। आओ, हम एक हो जाएँ और किसी एक की श्रेष्ठता को स्वीकार कर लें। उन्होंने इन्द्र की श्रेष्ठता को स्वीकार कर लिया और इसीलिए कहा जाता है कि इन्द्र ही विश्वदेव या समस्त देवता हैं और वही समस्त देवताओं में श्रेष्ठ है।[21]

इस कथा को दो रूपों में लिया जा सकता है। एक तो यह कि देवों के अनुकरण पर असुरों में से भी कुछ ने कृषि की ओर कदम बढ़ाया अर्थात् देवों में

शामिल होने और उनसे आगे बढ़ने के लिए चेष्टा करने लगे, पर इन पुराने कृषि-कर्मियों ने अपने को संगठित किया और उनके द्वारा साफ़ की गयी भूमि पर भी अधिकार कर लिया। दूसरा रूप उन दासों का संगठित होकर या देवताओं (भू-स्वामियों) के ही एक पक्ष में आकर अपने उपजीवी स्वामी-वर्ग के प्रभुत्व से मुक्ति पाने और सम्भवतः अपने नियन्त्रकों से भी छुट्टी पाने के प्रयत्न के रूप में। हम दूसरी सम्भावना को अधिक उचित मानते हैं। इसका कारण यह है कि ऐसी ही एक अन्य अन्तर्कथा में असुर देवों का वेश बनाकर उन्हें अकेले में पाकर मारते-पीटते दिखाये गये हैं। इस कथा में "जब देव दीक्षित हो जाते हैं और अपनी-अपनी समिधा लाते और अपना मन्त्रभाग पढ़ते हैं तो असुर एक-एक करके किसी-न-किसी देवता का वेष बनाकर उन पर प्रहार करते हैं। अब वे आपस में एकत्र होने पर शिकायत करते हैं कि देखो तुमने मुझे किस तरह मारा है, तुमने मेरी क्या हालत कर दी। पर अकेले अग्नि ऐसे थे जिन्होंने न तो स्वयं किसी से ऐसा कहा, न ही किसी दूसरे ने उनसे ऐसा कहा। उन्होंने पूछा, 'अग्नि, क्या तुझसे भी उन्होंने ऐसा कहा ?' उसने कहा, न तो मैंने किसी से बात की 'न ही किसी दूसरे ने मुझसे बात की।' अब उन्हें होश आया, 'अग्नि सचमुच हम लोगों में राक्षसों को भगाने वाले हैं। आओ हम भी उन्हीं जैसे बनें। इस तरह हम राक्षसों से बच सकेंगे और स्वर्ग को प्राप्त कर सकेंगे।' इस तरह वे राक्षसों से बचकर स्वर्ग प्राप्त करने में सफल हुए।"[22]

यहाँ देवों को अकेला पा कर उन्हें मारना और वह भी देवताओं का वेश बनाकर, इस बात का संकेत देता है कि यह जंगली असुर-क़बीलों का काम न होकर उनके बीच रहने वाले भूदासों का ही प्रयत्न था। प्राचीन समाजों में श्रमिकों और दासों द्वारा इस प्रकार के विद्रोह यूनान, रोम, आदि में भी अनेक बार हुए थे।

जो भी हो, इन अनुभवों से देव-समाज अपने पारस्परिक कलह को भुलाने में और अधिक संगठित होकर काम करने में सफल होता है। वह किसानों और श्रमिकों पर कड़ी नज़र रखता है और उनकी एक-एक गतिविधि का हिसाब रखता है। देव मनुष्यों के मन की बात जानते हैं।[23] वे मनुष्यों से छिपकर या बचकर रहते हैं।[24] वे हरस्विन् हैं। सबसे पहले वे अपना हिस्सा वसूल कर लेते हैं।[25] उन्होंने अपनी सुरक्षा और वसूली की पक्की व्यवस्था कर रखी है[26] और इस छन्द या व्यवस्था के द्वारा ही वे आनन्दात्म होकर रहते हैं।[27]

ऐसा लगता है कि इस कड़े इन्तज़ाम के बावजूद किसान देवभाग देने से कतराते हैं या बहाने बनाते हैं। यह भी सम्भव है कि फ़सल आदि ख़राब होने पर वे वसूली के समय जो तर्क देते हैं उसे झूठा और गढ़ा हुआ मान लिया जाता है। देवताओं को सत्य और मनुष्यों को अनृत कहने के पीछे शायद यह भी एक कारण हो।[28]

देवताओं का स्वर्ग इस धरती पर ही बसाया जाता है। वे पहले स्वर्ग जाते नहीं अपितु स्वर्ग लोक का भोग भोगते हैं। स्वर्ग में मनुष्य को काम नहीं करना पड़ता, पहले किये हुए कर्मों का अविकल भोग करने को मिलता है। देव जिन्होंने अपने श्रम, तप, साहस और पराक्रम से भूसम्पदा पर अधिकार कर लिया था, वे कर्म से मुक्त होकर अपने एकान्त में यज्ञ का लाभ भोग रहे हैं। दूसरे लोग उनके लिए काम कर रहे हैं। इनके यज्ञ का सर्वोत्तम अंश उनको चढ़ाया जा रहा है। इसके बदले में अपने अनुगतों की रक्षा का भार और इनके कर्तव्यच्युत होने पर इनको दण्ड का विधान और कम-से-कम इनकी आपदा के समय उपेक्षा का ही नहीं अपितु अपनी ओर से उन्हें आफ़त में डालने का विधान अवश्य रखते हैं। श्रम और तप का स्थान साम्राज्य ने ले लिया है और साम्राज्य स्वर्ग है।[29] कबीलाई आतंक बहुत लम्बे समय तक चलता रहता है और यदि देव जो छन्द या प्रशासन-तन्त्र पर अधिकार बनाये हुए हैं, उनकी सुरक्षा को सुनिश्चित न करें तो किसानों पर आये दिन विपत्ति पड़ती रह सकती है।[30] सुरक्षा और इसके बदले में नियमानुसार देवभाग की अदायगी, यह है दोनों का सम्बन्ध।[31] न केवल बाहरी शत्रुओं से अपितु आपस में भी किसी को असहाय पाकर उस पर अन्याय करने वाले की पुकार ये देवता सुनते हैं और दीनों की पुकार सुनने वाले ये दीननाथ न्याय-व्यवस्था भी अपने हाथ में रखते हैं और इस तरह क्रमशः राजतन्त्र और प्रशासन-व्यवस्था का आधार सुदृढ़ होता जाता है।

ब्राह्मणों में प्रायः यज्ञ को मधुसार बताया गया है।[32] यज्ञ किसानों के लिए मधुसार हो या नहीं, पर इन कुलीन देवों के लिए तो है ही जिन्हें अब बिना कुछ किये-कराये उत्पादन का सार भाग मिल जाता है। एक विवरण के अनुसार जैसे भ्रमर फूल का सारा रस चूसकर अलग हो जाता है वैसे ही देवता यज्ञ का सारा रस चूस कर और इसे छोड़कर या उत्पादन-कार्य से मुक्त होकर फिर भी अपना अधिकार जताते हुए यज्ञ-यूप गाड़ कर तिरोधान हो गये।[33]

देवों के इस प्रकार तिरोहित होने के साथ ही नगर सभ्यता का जन्म होता है। समस्त कर्मकाण्डीय आरोपणों और विकारों के बावजूद ब्राह्मणों आदि में भी इस रूपान्तरण को आसानी से पहचाना जा सकता है। निश्चय ही यहाँ नगरों के लिए स्वर्ग शब्द का प्रयोग किया गया है, पर इन प्राचीन स्वर्गों की जो स्मृति इस काल तक बनी रह गयी है उसमें यह समझना कठिन नहीं है कि इन स्वर्गों से तात्पर्य नगरों से ही है और इसलिए स्वर्ग में नगर के सारे लक्षण पाये जा सकते हैं। स्वर्ग का शाब्दिक अर्थ है (सु-अर्क/अर्च), सम्पन्न। इसका अर्थ है साम्राज्य।[34] इसको सधस्थ भी कहा गया है जिसका अर्थ कई रूपों में किया जा सकता है, जैसे—पास बसा हुआ और जहाँ 'अपां सधस्थ' आया है वहाँ स्पष्टतः 'जलधारा के निकट बसा हुआ' आशय स्पष्ट है। पर इसे बड़ी आबादी की बस्ती भी माना जा सकता है।[35]

गोपथ ब्राह्मण के अनुसार इन्द्र के नगर विशाल जल-धाराओं के तट पर बसाये गये थे।[36] आश्चर्य नहीं कि ऐसा सोचते समय रचनाकार का ध्यान इन्द्रप्रस्थ की स्थिति और इसकी व्युत्पत्ति पर भी रहा हो, जहाँ से हड़प्पा और प्राक्-हड़प्पा काल के अवशेष भी मिले हैं। जो भी हो, स्वर्ग के सन्दर्भ में उस द्यु-लोकीय स्वर्ग की बात करते समय भी स्वर्ग-गंगा की बात अवश्य की जाती है जो प्रथम दृष्टि में किसी को भी बहुत अटपटी लगती है। स्वर्ग के चारों ओर एक घेरा या नगर-प्राचीर होता है।[37] इसमें प्रवेश के लिए अनेक द्वार होते हैं और इन द्वारों पर रक्षक नियुक्त होते हैं और ये रक्षक पूरी निष्ठा और तत्परता से अपने कर्तव्य का पालन करते हैं।[38] इस सुचारु रक्षा-व्यवस्था के कारण स्वर्ग में किसी तरह का भय नहीं रहता[39] और सचाई तो यह है कि असुरों के डर से अपनी रक्षा की चिन्ता से ही देवों ने अपने नगर या स्वर्ग बसाये भी थे। इसलिए इसमें प्रवेश भी जाँच-पड़ताल के बाद किया जा सकता है। इसमें सभी का प्रवेश नहीं हो सकता और साधारण हैसियत का आदमी तो इस तक पहुँच ही नहीं सकता या इसमें बस ही नहीं सकता।[40] यह आकार में बड़ा है[41], पर पृथ्वी की तुलना में नहीं, अपितु ग्रामीण बस्तियों की ही तुलना में। इसका सबके लिए असमायी[42] होना ही इसके सीमित आकार को प्रकट करने के लिए पर्याप्त है।

स्वर्ग के अन्य पर्याय भी इस बात की ही पुष्टि करते हैं कि इनका सम्बन्ध नगरों से है; यथा, अलका—अलंकृत अथवा सुव्यवस्थित नगरी। यह ध्यान रहे कि अलका को एक लोक के रूप में नहीं, अपितु एक पुरी या नगरी के रूप में ही कल्पित किया गया है। इसके एकअन्य पर्याय वैकुंठ का अर्थ है वह जिसे कुंठित या ध्वस्त न किया जा सके, जो इसकी रक्षा-व्यवस्था की सुचारुता के साथ-ही-साथ भवनों की मजबूती को भी प्रकट करता है। इससे मिलता जुलता ही भाव इसके एक अन्य पर्याय अमरावती में भी है जो इसे अमर या सुदृढ़ भवनों की बस्ती सिद्ध करता है। पर अन्यथा यदि यह मानें कि इसे अमरों या देवताओं की बस्ती के कारण अमरावती कहा गया है तो भी इस अमरावती को नगर के रूप में ही कल्पित किया गया है। इसमें मनोरंजन के सारे सामान हैं और कामकाज के बिना ही,स्वामित्व या अर्जित पुण्य के कारण ही सारे सुख-सुविधा के सामान हासिल हो जाते हैं। चूँकि स्वर्ग का एक अर्थ आनन्द या परम सुख है, अतः नगरों की स्थापना से पहले कृषि जन्य संपन्नता के दौर में यह पूरा कृषि-क्षेत्र या यजमान-लोक ही स्वर्ग था।[43] पर आर्थिक और सामाजिक सम्बन्धों में बदलाव और विषमता में वृद्धि तथा व्यापारिक गतिविधियों के कारण दूरस्थ स्थानों में अपनी अस्थायी और फिर स्थायी बस्तियाँ बसाने के क्रम में स्वर्गों की संख्या और इनकी स्थिति भी बदलती गयी और अन्ततः वह द्युलोक में पहुँच जाने के बाद भी धरती से अपना सम्बन्ध पूरी तरह काट नहीं पाया और इसे मुख्य रूप से मेरु गिरि या हिन्दुकुश

के क्षेत्र में बाद तक कल्पित किया जाता रहा।[44]

हमें जो संकेत उपलब्ध हैं उनसे प्रकट होता है कि आरम्भिक नगर सरस्वती के तट पर बसाये गये थे।[45] संभव है, आरम्भ में केन्द्रीय नगर के रूप में किसी एक का ही विकास हो पाया रहा हो और इसलिए यह स्वर्ग भी एक ही रहा हो, पर व्यापारिक तकाज़ों से कायम की जाने वाली बस्तियों और वहाँ से अर्जित समृद्धि ने उनको भी स्वर्ग बना दिया और इनकी संख्या भी एक से अनेक—सात, नव या दस हो गयी।[46] ऐसा लगता है कि अन्य देशों में व्यापारिक केन्द्रों के कायम हो जाने के बाद यह शब्द मुख्यतः उन्हीं के लिए प्रयुक्त होने लगा। सम्भवतः भारतीय नगरों के अपने विदेशी केन्द्र भी बँटे हुए थे और ये बहुत दूर तक के क्षेत्रों में फैले थे। इन तक पहुँचने के दो तरह के मार्ग हैं : एक तो जल-मार्ग, जिससे एक स्वर्ग तक की दूरी सरस्वती के मार्ग से चौबीस दिनों की यात्रा बतायी गयी है।[47] एक अन्य प्लक्ष प्रास्रवण को विनशन से, घोड़े से चलने पर चौवालीस पड़ावों की दूरी बताया गया है।[48] प्लक्ष प्रास्रवण किस स्थल का नाम रहा हो सकता है, यह अनुमान का ही विषय हो सकता है। वैदिक इंडेक्स के लेखकों के अनुसार यह सरस्वती का उद्गम-स्थल भी हो सकता है।[49] पर इसकी दिशा में घोड़े से यात्रा की बात बेतुकी है और विनशन से इसकी 44 दिनों की यात्रा भी अपेक्षाकृत एक अधिक दूर बसी बस्ती की ओर संकेत करती है। यदि सरस्वती-सम्मित मार्ग या जल-मार्ग से गम्य स्वर्ग का सम्बन्ध खाड़ी क्षेत्र से माना जाये तो प्लक्ष प्रास्रवण को जिसे स्थल-मार्ग से उतनी ही दूरी पर बताया गया है, अफ़ग़ानिस्तान में तलाशना अधिक उचित होगा। इसी तरह जहाँ स्वर्ग की दूरी इक्कीस दिनों की बतायी गयी है[50] वहाँ हम इसको बलूचिस्तान से आगे नहीं ढूँढ़ सकते। इसके विपरीत घोड़े से हज़ार दिनों की यात्रा कुछ अतिरंजित हो सकती है, पर यह भारोपीय प्रसार-क्षेत्र के दूरतम स्थलों के लिए ही प्रयुक्त हो सकती है।[51]

इन स्वर्गों को व्यापारिक लाभ के लिए बसाया गया था, इस विषय में भी किसी तरह का सन्देह नहीं दिखायी देता। वाज जिसका अर्थ सामान्यतः अन्न लिया जाता रहा है, वस्तुतः समस्त धन का या पण्यवस्तुओं का सूचक है और फ़ारसी का बाज़ार शब्द इसी से निकला प्रतीत होता है। घोड़े के लिए वाजि का प्रयोग भी सम्भवतः मालवाहक—टट्टू—के रूप में इसके प्रयोग के कारण आरम्भ हुआ। जो भी हो, स्वर्ग स्वतः वाज है।[52] यह व्यापारिक केन्द्र या बाज़ार है।

इसी तरह इन स्वर्गों या उपकेन्द्रों की भौगोलिक स्थिति भी स्पष्ट है। इनके लिए जहाँ जल-मार्ग का संकेत मिलता है और जहाँ नौका से स्वर्ग पहुँचने की याद बनी रह गयी है[53], वहाँ भारतीय तटीय स्थलों और खाड़ी देशों को स्पष्ट पहचाना जा सकता है। खाड़ी क्षेत्र की भीषण गर्मी के अनुभव उन यादों में सुरक्षित हैं जिनमें स्वर्ग का अधिपति अग्नि को बताया जाता है।[54] आदित्यों को इसके अधि-

पतियों में गिनाया जाना[55] एकाधिक केंद्रों की ओर संकेत करता है। एक स्थल पर तो स्पष्ट कहा गया है कि यहाँ धूप प्रचण्ड होती है।[56] अब यदि हम इस बात की ओर ध्यान दें कि खाड़ी क्षेत्र में गर्मी का तापमान छाया में भी पचास डिग्री सेंटीग्रेड तक पहुँच जाता है और खुली धूप का तापमान 80 डिग्री[57] तक, तो हम इस क्षेत्र को पहचानने में भूल नहीं कर सकते। स्मरण रहे कि भारत में प्रचण्ड गर्मी में खुली धूप में भी कहीं तापमान उस ऊँचाई पर नहीं पहुँच पाता जो इस क्षेत्र में छाया में पहुँच जाता है।

इसी तरह स्थल-मार्ग से स्वर्ग की यात्रा में पर्वत की चढ़ाई करनी पड़ती है।[58] स्वर्ग-लोक की चढ़ाई बहुत कठिन है[59] और यह इस लोक से परे या दूसरी ओर है[60], यह प्रतिकूल या दूसरे छोर पर है[61]—जैसे विवरण समुद्रपार और पर्वत-पार दोनों प्रकार के स्थलों पर लागू होते हैं।

व्यापार और वाणिज्य के प्रसंग में हम देख आये हैं कि पश्चिमी एशिया के व्यापारियों के लिए, जो यहाँ व्यापार से मालामाल हो रहे थे और सम्भवतः भारतीय व्यापारिक केन्द्रों में अपनी बस्तियाँ बसाने के लिए भी प्रयत्नशील थे, भारत भी जन्नतनिशाँ या स्वर्गतुल्य ही था। जिन विदेशी केन्द्रों से भारतीय माल पश्चिमी केन्द्रों को पहुँचाया जाता था वे भी उनके लिए स्वर्गतुल्य थे, जैसा कि दिलमुन और पुन्त के हवालों में मिलता है। अब यदि उभयपक्षीय विवरणों पर ध्यान दें तो किसी भी क्षेत्र का स्वर्ग बन जाना उसके दुर्भाग्य की शुरुआत थी, चाहे इसे स्वर्ग के रूप में प्रकट किया जाये या 'सोने की चिड़िया' के रूप में और इसका अर्थ था उस क्षेत्र को स्वर्ग मानने वालों की गृद्ध-दृष्टि उस पर पड़ चुकी है, वे उसके व्यापार से मालामाल हो रहे हैं और जिस भी सूरत से हो इसे लूटने या हड़पने की चिन्ता में लगे हुए हैं। फिर भी, स्वर्ग की कीर्ति प्राप्त करने के लिए क्षेत्र विशेष या स्थान विशेष में कुछ विशेषताएँ इसके अतिरिक्त भी जरूरी थीं। इनमें से एक था इसका दूर या दुर्लंघ्य प्राकृतिक बाधाओं के पार बसा होना; जल-वायविक दृष्टि से इसका भिन्न होना और इसके उत्पादों का इस भिन्नता के कारण किसी क्षेत्र के लिए आश्चर्यजनक और आकर्षक होना और खनिज सम्पदा, संचित धन के मामले में असाधारण समृद्धि।

अब पुनः दोनों पार्श्वों के स्वर्गों की कल्पना का मिलान करें तो पायेंगे कि अपने स्वर्गों की तलाश वैदिक जनों ने वैदिक साहित्य की रचना से बहुत पहले आरम्भ कर दी थी और इस काल तक उनके स्थायी केन्द्र पश्चिमी क्षेत्रों में कायम हो गये थे। यहाँ की खानों से विविध धातुएँ और कीमती पत्थर तथा ऐसे चुस्त और फुर्तीले अश्व पा रहे थे जो दैवी शक्तियों से युक्त थे और अपने सवार को लिये-लिये छलाँग लगा सकता था। पश्चिमी एशिया के व्यापारियों के स्वर्गों का उल्लेख कुछ बाद में आरम्भ होता है और यह मिथक ईस्वी सन् की सातवीं-आठवीं

शताब्दी तक बना रहता है। इस बीच बहुत पहले से ही भारत के अपने स्वर्गों की एक बहुत धुंधली-सी याद इस रूप में बनी रहती है कि स्वर्ग उत्तरीय पर्वत-माला के पार कहीं है। ज़ाहिर है कि व्यापार का यह सिलसिला, जिन भी कारणों से हो, टूट चुका था और कम-से-कम पश्चिम एशिया के सन्दर्भ में पहल भारत के हाथ से निकल चुकी थी।

हमारे लिए यहाँ रोचक बात यह है कि मध्येशिया और पामीर का वही क्षेत्र जहाँ आर्यों का मूल या पूर्वतरीन आवास माना जाता रहा, ठीक वे ही क्षेत्र थे जिनमें वैदिक व्यापारियों के अपने अड्डे या स्वर्ग बने हुए थे। कुछ विद्वानों ने इन क्षेत्रों के स्थान, नामों और इनमें प्रचलित भाषा को ध्यान में रखते हुए यह सुझाया है कि आर्यावर्त या आर्यों का मूल आवास आमू दरिया से ले कर गंगा तक था और ये क्रमशः उधर से हट आये। इसके विपरीत कुछ दूसरे अध्येताओं का ख़याल है कि भारत में इनका आगमन कुछ बाद में हुआ है। मूलतः ये बलूचिस्तान से ले कर अफ़ग़ानिस्तान और सोवियत मध्येशिया के क्षेत्र में बसे रहे लगते हैं। हम इन प्रस्तावों को निम्न कारणों अग्राह्य पाते हैं :

1. जिन क्षेत्रों में स्वर्गों की कल्पना की गयी है उनमें किन्हीं जनों का मूल निवास नहीं हो सकता। स्वर्ग की मान्यता के साथ क्षेत्र विशेष की प्रत्येक दृष्टि से विचित्रता सबसे प्रधान कारण रही है और यह इस बात का द्योतक है कि इस क्षेत्र के साथ सम्पर्क होने के बाद भी यह उनके लिए विचित्रताओं से भरा हुआ क्षेत्र ही था। इससे पहले से परिचित होने का प्रश्न ही नहीं उठता। स्वर्ग-यात्रा के विवरण भी बहुत स्पष्ट हैं, देवता पहले यहीं धरती पर थे, वे यहाँ से स्वर्ग गये, न कि स्वर्ग से धरती पर आये। स्वर्ग के लिए चढ़ाई करनी पड़ती है।
2. इनके निवासियों को अपने से भिन्न किंचित असाधारण और अति-मानव या अपमानव—गन्धर्व, किरात, यक्ष, किन्नर—के रूप में कल्पित किया गया है जो इनको सामाजिक रीति-नीति व व्यवस्था आदि के मामले में भी अलग सिद्ध करता है। यदि यह क्षेत्र पहले इन जनों का निवास रह चुका होता तो इस भिन्नता और विचित्रा का प्रश्न नहीं उठता।
3. जैसा कि सुझाया गया है कि बख्त्री प्राचीन बह्लीक, पामीर बदख्शाँ पुराना कम्बोज, बदख्शाँ पुराना द्वयक्ष, दरवाज प्राचीन द्वारका है। परन्तु इनसे हर मामले में यही प्रकट होता है कि ये वैदिक जनों के लिए सुपरिचित होते हुए भी उनके अपने प्रदेश से दूर और बाहर पड़ने वाले क्षेत्र और स्थान थे। जिस अपनत्व और अभिन्नता से अन्य वैदिक गणों को याद किया गया है उसी से बाह्लीकों और कम्बोजों को नहीं। वे दूरस्थ और

भिन्न क्षेक्ष के लोग हैं।

4. अनार्य जनों में जिस तरह मध्यदेश के पूर्व और दक्षिण के निवासियों— अंग, बंग, कलिंग, आन्ध्र, आदि की गणना की गयी है उसी तरह दरदों की भी।

5. दरद भाषा की अशुद्धता की मात्रा और इसके साथ ही इसके लिए पैशाची का प्रयोग जो वैदिक कालीन आसुरी वाक् का द्योतक है, भी इसी की पुष्टि करता है। ऐसा लगता है कि भारत के साथ क्रमशः गहन सम्पर्क के कारण यहाँ की भाषा का पूरी तरह रूपान्तरण तो हो गया था, पर इसके बावजूद आरम्भ से ही इनको वैदिक भाषा का उच्चारण करने में असाधारण कठिनाई का सामना करना पड़ता था। भाषा को दूषित या म्लेक्षित न करने के विषय में वैदिक साहित्य में जो चेतावनी बार-बार दी गयी है उसका सम्बन्ध भी इस क्षेत्र के लोगों से ही है और आश्चर्य नहीं कि इनको अनास, मृध्रवाच आदि से भी सम्बोधित किया गया हो। म्लेक्ष का प्रयोग तो सम्भवतः इन लोगों के लिए आम हो चला था और इसलिए बाद में इस दिशा से आने वाले किसी भी दल या जत्थे का यह उसी तरह पर्याय बन गया जैसे आगे चलकर यवन शब्द।

6. मध्यदेश की भाषा और परिमण्डल की भाषाओं की छान-बीन करने पर उनसे प्रकट होता है कि इस भाषा का रूपाकार मध्यदेश में निर्धारित होता है और इसके बाद ही इसका अन्यत्र प्रसार होता है।

7. वैदिक साहित्य स्वयं भी इस बात की ही पुष्टि करता है कि इसके प्राचीनतर अंशों की रचना सारस्वत क्षेत्र में या मध्यदेश में हुई थी और इसका पश्चिम में विस्तार बाद में हुआ था।

अतः उक्त प्रस्तावों में हमें कोई सार नहीं दिखायी देता। हम इस पर कुछ भिन्न दृष्टि से अगले अध्याय में भी विचार करेंगे और देखने का प्रयत्न करेंगे कि यह मान्यता कहाँ तक खरी सिद्ध होती है।

सन्दर्भ व टिप्पणियाँ

1. तं यत्र देवाः समस्कुर्वन्...सा स्यात् समूला साग्रा कृत्स्नताय यथा स्वयं अतृण्णायां उपहिता भूमिं प्राप्नुयात्। शतब्रा. 7.3.2.12.

2. तिसृभिः कृष्टे च अकृष्टे च वपति।...यत् उ एव सर्वौषधं वपति। एतत् वै देवा संस्करिष्यन्तः पुरस्तात् सर्वेण भेषजेन अभिषज्यन्...।
शतब्रा. 7.2.4.17-19.

3. ततो देवाः अर्चन्तः श्राम्यन्तः चेरुः त एतान् प्रयाजान् ददृशुः तैः अजयन्त तैः ऋतून् संवत्सत्सरं प्राजयन् ऋतुभ्यः संवत्सरात् सपत्नान् अन्तरायन्...। शतब्रा. 1.5.3.3; ते अर्चन्तः श्राम्यन्तः चेरुः। श्रमेण ह स्म वै तत् देवा जयन्ति। शतब्रा. 1.6.2.3; तपसा वै लोकं जयन्ति... शतब्रा. 3.4.4.27; अन्नं वै कृषिः एतत् वा अस्मिन् देवा संस्करिष्ययन्तः पुरस्तात् अन्नं अदधुः... शतब्रा. 7.2.2.7.

4. यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म। यजु. 1.1; यज्ञो हि श्रेष्ठतमं कर्म। तैब्रा. 3.2.1.4.

5. मर्त्या ह वै अग्रे देवा आसुः। शतब्रा. 11.2.3.6; अर्थात् पहले देवता मर्त्य थे। बाद में वे अमर हो गये और 'अमृतत्वं सर्वं आयुः इति?' तांब्रा. 22. 12.2; 23.12.3; य एव शतं वर्षाणि यो वा भूयांसि जीवति स ह एतत् अमृतं आप्नोति। शतब्रा. 10.2.6.8; इस तरह अमरता शतायु होना ही नहीं है, इसके लिए लम्बी उम्र ही काफ़ी है। पूरी उम्र का भोग करने या बुढ़ापा आने से पहले अकाल मृत्यु से बचे रहना ही अमरत्व है, 'एतत् वै मनुष्यष्य अमृतत्वं यत् सर्वं आयुः इति।' शतब्रा. 9.5.1.10.

6. कर्म कस्मात्, क्रियते इति सतः। नि. 3.1; यज्ञो वै कर्म। शतब्रा. 1.1.2.1; वीर्यं वै कर्म। शतब्रा. 11.5.4.5.

7. धर्मेण सर्वं इदं परिगृहीतम्। तैआ. 10.62.1; वरुणो अस्य प्रजां धर्मेण दाधार। ऐआ. 2.1.7; श्रीः वै धर्मः राज्यं वै धर्मः। जैब्रा. 3.231.

8. नियमानुगतानि धर्म्याणि कर्माणि (व्रतम्)। दर्वैको : अन्नं व्रतम्। तांब्रा. 23.27.2; अन्नं हि व्रतम्। जैब्रा. 2.414.

9. भूमा वै स्वजाताः...भ्रातृव्यस्य वधाय इति। शतब्रा. 1.1.5.7.

10. असुरों के आतंक की कहानियाँ वेदों से लेकर महाकाव्यों तक इस तरह दुहरायी जाती हैं मानो यह आतंक और भय और इससे मुक्ति पाकर शान्ति और व्यवस्था कायम करना वैदिक समाज की सबसे प्रधान समस्या है। 'ते(देवाः) रक्षसेभ्यः आसंगात् बिभयान् चक्रुः।' शतब्रा. 1.1.2.3; 4.1.1.6, आदि।

11. आर्यों या भूस्वामित्व के इच्छुक इस अग्रधर्षी समाज के दबावों के बावजूद असुर बार-बार संगठित होकर प्रतिरोध करते हैं। उनके एक जत्थे के पराजित हो जाने के बाद दूसरा इन जंगलों से कहाँ से प्रकट हो जाता है? इस उग्र प्रतिकार में लगता है मारे गये असुरों के शरीर से निकली हुई रक्त की प्रत्येक बूंद एक मानव आकर ले लेती हो। जैसे वे रक्तबीज हों। 'यत् देवा असुरान् जयन्ति ततः ह स्म एव एतान् पुनः उपतिष्ठन्ति...'शतब्रा. 1.2.4.8

12. ततो असुराः सर्वं पराजयन्त, सर्वस्मात् देवा असुरात् अजयन् सर्वस्मात् सपत्नान् असुरान् निरभजन् । शतब्रा. 1.5.4.11; यह मात्र एक पुस्तकीय सचाई ही नहीं है । हम पाते हैं कि क्रमशः वन्य जनो को बेदख़ल करने के निरन्तर दबाव से इस वर्ग ने उत्तर भारत के समूचे मैदानी भाग को, जिसमें सराहनीय स्तर की खेती-बारी हो सकती है, अपने अधिकार में कर लिया और असुरो के पास अब पठारी और पहाड़ी क्षेत्रों का वही जंगली इलाका रह गया जिसमें उनकी गहरी दिलचस्पी नहीं थी ।

13. वायुपुराण, पूर्व., पृ. 32

14. पहले मनुष्य और देवता एक साथ रहते थे, "उभये ह वा इदं अग्रे सह-आसुः देवाः च मनुष्याः च ।" शतब्रा. 2.3.4.4; जो पहले पैदा हुए या कहें, जिन्होंने यज्ञ के अनुष्ठानों से भू-सम्पदा पर पहले अधिकार किया वे देवता हैं और जिनके ज़िम्मे यह काम बाद में आया, वे जो बाद में पैदा हुए, वे मनुष्य, "द्वौ वै योनी इति ब्रूयात् देवयोनिः अन्यः मनुष्य योनिः अन्यः प्राचीनजनना वै देवाः प्रतीचीनजनना मनुष्याः" । शतब्रा. 7.4.2.40.

15. यथा वै देवानां चरणं तत वा अनु मनुष्याणाम् । शतब्रा. 1.3.1.1.

16. विशः क्षत्रियाय वलिं हरन्ति । शतब्रा. 1.3.2.15; देखें, 4.3.3.6-12 भी ।

17. जब तक देवताओं को उनका हिस्सा न दे दिया जाये तब तक मनुष्य केवल वे ही चीजें खा सकता है जो कृषि से इतर या वन्य साधनों से प्राप्त होती हैं । यह इस पाबन्दी का ही सूचक लगता है कि यदि अपने खाने को कुछ भी बचा न रहे तो भी वे लोग जिन्हें उत्पादन का कार्यभारी बनाया गया है, देव-भाग या देवऋण चुकायेंगे ही । देवऋण यज्ञ द्वारा देव-भाग देकर चुकाया जाता है । देखें. शतब्रा. 1.1.1.7-9; 1.7.2.1.

18. प्रदानात् हि देवाः उपजीवन्ति । शतब्रा. 1.2.5.24.

19. परोक्षकामा हि देवाः त इत् हा सप्त नाना पुरुषान् असृजन्त । शतब्रा. 6.1.1.2; यत् वै मनुष्याणाम् प्रत्यक्षं देवानां परोक्षं यत् मनुष्याणां परोक्षं तत् देवानां प्रत्यक्षम् । तांब्रा. 22.10.3

20. सम्भवतः इस विभाजन का ही अवशेष हम वहाँ पाते हैं, जहाँ विविध देवों के विषय में यह बताया जाता है कि उनको कितने कपाल का पुरोडाश चढ़ाया जाये । देखें, शतब्रा. 1.6.12.8; 4.1.3.10-12; 5.5.2.6, आदि ।
देवों की श्रेष्ठता की इस प्रतिस्पर्धा के विवरण और विवाद अन्यत्र भी आये हैं, यद्यपि इन पर सर्वत्र भाववादी छाप लगी हुई है :
षड् वै देवताः स्वयंभुवः अग्निः वायुः असौ आदित्यः प्राणो अन्नं वाक् ।
ताः श्रेष्ठ्ये व्यवदन्त । अहं श्रेष्ठास्मि । मां श्रियं उपाध्वं इति ।
जै.उ.ब्रा. 8.1-4

21. आतिथ्येन वै देवा इष्ट्वा। तान् इत् समत् अविन्दत् ते चतुर्धा वि अद्रवन् अन्यः अन्यस्य श्रिया अतिष्ठमाना अग्निः वसुभिः सोमः रुद्रैः वरुणः आदित्यैः इन्द्रः मरुद्भिः बृहस्पतिः विश्वेः देवैः इति उ ह एक आहुः एते ह तु एव ते विश्वे देवा ये ते चतुर्धा वि-अद्रवन् तान् विद्रुतान् असुर रक्षसानि अनुव्यव ईयः। ते अविदुः। पापीयांसाः वै भवामः असुर रक्षसानि वै नः अनुव्यव आगुः द्विषद्भ्यः वै रध्यामः हन्त सजानामहा एकस्य श्रियै तिष्ठामहा इति ते इन्द्रस्य श्रिया अतिष्ठन्त तस्मात् आहुः इन्द्रः सर्वा देवता इन्द्र-श्रेष्ठा देवा इति।

शतब्रा. 3.4.2.1-2

22. देवानां उ ह स्म दीक्षितानाम्। यः समित् हारः वा स्वाध्यायं वा विसृजन्ते तं ह स्म इतरस्य एव इतरं रूपेण इतरस्य इतरं असुर रक्षसानि जिघांसन्ति ते ह पापं वदन्त उपसमेयुः इति वै मां जिघांसीः इति अग्निः ह एव तथा न अन्यं उत अग्नि तथा न अन्यः। ते ह ऊचुः। अपि इत्थं त्वां अग्ने अवादिषुः इति न एव अहं अन्यं न मां अन्यः इति। ते अविदुः। अयं वै नः विरक्षः तमो अस्यैव रूपं असाम तेन रक्षांसि अति मोक्ष्यामहे तेन स्वर्गं लोकं समश्नुविष्यामह इति ते अग्नेः एव रूपं अभवन् तेन रक्षांसि अति अमुच्यन्त तेन स्वर्गं लोकं समाश्नुवत। शतब्रा. 3.4.3.6-8.

23. मनो ह वै देवाः मनुष्यस्य जानन्ति। शतब्रा. 2.1.4.1; 3.4.2.6.

24. तिर इव वै देवा मनुष्येभ्यः। शतब्रा. 3.1.1.8; 3.4.6; परोक्षं वै देवाः, 3.1.3.5; 6.1.1.2; 7.4.1.10; परोक्षप्रिय इव हि देवाः भवन्ति प्रत्यक्षद्विषः। गो. पू. 2.21.

25. सर्वे वै देवाः तु इषिमन्तः हरस्विनः। तैब्रा. 3.8.7.3.

26. आनन्दात्मानो ह एव सर्वे देवाः। शतब्रा. 10.3.5.13.

27. छन्दोभिः हि देवाः स्वर्गं लोकं समाश्नुवत्। शतब्रा. 3.9.2.10 आदि।

28. सत्य एव देवा अनृतं मनुष्याः। शतब्रा. 1.1.1.4; 2.17; 3.3.2.2; 9.4.1, आदि।

29. साम्राज्यं वै स्वर्गो लोकः। तांब्रा. 4.6.26.

उत्पादन-कर्म और उत्पादन-स्थल से दूर रहकर अपने स्वामित्व के बल पर ही किसानों से दूर वसूली का ठीक-ठीक विधान क्या था, यह कह सकना कठिन है, परन्तु इसके उदाहरण मेसोपोटामिया और मिस्र आदि से मिलते हैं। अतः हम इसके अस्तित्व के प्रति तो आश्वस्त हो सकते हैं, पर स्वरूप के विषय में नहीं; कारण, यह ज़रूरी नहीं कि मिस्र के फराओ या मेसोपोटामिया के पुरोधा जिन रूपों में काम करते और वसूली कराते रहे हों वही भारत में भी ठीक उसी रूप में प्रचलित रहा हो।

30. ये देवा मनोजाता मनोयुजः दक्षक्रतवः ते नः अवन्तु ते नः पान्तु तेभ्य स्वाहा

इति । शतब्रा. 3.2.1.18.

31. देवा भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः । परस्परं भावयन्तं श्रेयः परं अवाप्स्यथ । गीता 3.11.

32. यज्ञो वै मधुरासघम् । शतब्रा. 3.4.3.14.

33. ते यज्ञस्य रसं धीत्वा यथा मधु मधुकृतः निधेयुः विदुह्य यज्ञं यूपेन योपयित्वा तिरो अभवन् । शतब्रा. 3.1.4.3; 3.2.2.2; 3.2.2.10, आदि ।

34. निघण्टु 4. 2 के अनुसार अर्कं अन्न का पर्याय है। निरुक्त 5.4 में अन्य व्याख्यायों के साथ ही इसकी एक व्याख्या 'अर्कं अन्नं भवति अर्चंति भूतानि' की गयी है। स्वर्ग मूलतः इस सु-अर्क या धन-धान्य से पूर्ण या समृद्ध के ही आशय में प्रयुक्त होता रहा लगता है और आगे चलकर इसने एक नया अर्थ ग्रहण कर लिया । इसे तांब्रा. 4.6.24 में साम्राज्य कहा गया है—साम्राज्यं वै स्वर्गो लोकः ।

35. स्वर्गो वै लोकः सधस्थः । शतब्रा. 9.5.1.46. सधस्थ का शाब्दिक अर्थ है—साथ या पास स्थित—सह-स्थ, मिल-जुलकर या समान आसन पर या बगल में बसना या स्थित रहना ।

36. वसोः धाराणां ऐन्द्र नगरम् । गोब्रा. 1.33

37. एकवृत् वै स्वर्गो लोकः । शतब्रा. 13.2.1.5

38. ता वा एताः पंच स्वर्गस्य लोकस्य द्वाराः । अपाद्मः अनुवित्तयो नाम । तपः प्रथमां रक्षति । श्रद्धा द्वितीयम् । सत्यं तृतीयाम् । मनः चतुर्थीम् । चरणं पंचमीम् । तैब्रा. 3.12.4.7; देखें, 3.12.2.9 भी जिसमें क्रमशः आशा, काम, ब्रह्म, यज्ञ, आप, अग्नि और अनुवित्ति को इसके सात द्वारों का रक्षक बताया गया है। इन स्थलों पर इष्टियों को ही स्वर्ग का द्वार माना गया है, अतः द्वारपालों का भी तदनुरूप आध्यात्मीकरण स्वाभाविक ही है ।

39. स्वर्गो वे लोको अभयम् । शतब्रा. 12.8.1.22

40. ऋतेन एव एनं स्वर्गं लोकं गमयन्ति । तांब्रा. 18.2.9 । यह नैतिक पात्रता नगर-द्वारों पर लगे पहरेदारों द्वारा प्रथम दृष्टि में सन्दिग्ध प्रतीत होने वाले व्यक्तियों चोरों, लुटेरों, आदि को रोकने का ही प्रक्षेपण है। अन्यत्र यह हवाला आता है कि स्वर्ग पहुँचने के बाद देवों को सबसे पहले यह चिन्ता हुई कि इसे मनुष्यों के लिए अगम्य या अनभ्यारोह्य कैसे बनाया जाये, ते ह ऊचुः कथं नु इदं मनुष्यैः अनभ्यारोह्यं स्यात् इति । शतब्रा. 3.1.4.3; 3.2.1.2, आदि ।

41. बृहद् वै स्वर्गो लोकः । तैब्रा. 1.2.2.4; अनन्तो असौ लोकः । तांब्रा. 17.12.3; अपरिमितो वै स्वर्गो लोकः । ऐब्रा. 6.23, आदि ।

42. स्वर्ग लोक में सभी लोग नहीं अँट सकते, "असमायी वै स्वर्गो लोकः कश्चित्

वै स्वर्गे लोके समेति इति ।" ऐब्रा. 6.26

43. इदं वा वामदेव्यं यजमानलोकः अमृत लोकः स्वर्गो लोकः । ऐब्रा. 3.46

44. इसके अन्य पहलुओं पर हम आगे विचार करेंगे, पर यहाँ इतना ही उल्लेख काफ़ी है कि इसे प्रायः पर्वतीय चढ़ाई का क्षेत्र बताया गया है और यह चढ़ाई कठिन बतायी गयी है, 'स्वर्गो वै लोको दुरोहणम्', ऐब्रा. 4.20; 'स्वर्गो वै लोको रोहः', शतब्रा. 7.5.2.36, आदि। इसके अतिरिक्त पैदल चलकर मनुष्य स्वर्ग नहीं पहुँच सकता। इसका सही-सही रास्ता घोड़े को मालूम है, या कहें घोड़े पर सवार होकर ही इसकी यात्रा आसानी से तय की जा सकती है, 'न वै मनुष्यः स्वर्गं लोकं अंजसा वेद अश्वो वै स्वर्गं लोकं अंजसा वेद'।

शतब्रा. 13.2.3.1.

45. स्वर्गं लोकः सरस्वान् । तांब्रा. 16.5.15

46. नव स्वर्गो लोकाः । ऐब्रा. 4.16; दश स्वर्गा लोकाः । गोउब्रा. 6.2

47. चतुः चत्वारिंशत अश्वीनानि सरस्वत्या विनशनात् प्लक्षः प्रास्रवणः तावत् इतः स्वर्गो लोकः सरस्वती-सम्मितेन अध्वना स्वर्गं लोकं यन्ति ।

तांब्रा. 25.10.16

48. वही ।

49. वैदिक इंडेक्स, 2, 60. 'प्लक्ष प्रासवण' ।

50. एकविंशो वा इतः स्वर्गो लोकः । तैब्रा. 3.12.5.7.

51. सहस्र अश्वीने वा इतः स्वर्गो लोकः । ऐब्रा. 2.17; सहस्र सम्मितो वै स्वर्गो लोकः । शतब्रा. 13.1.3.1.

52. वाजो वै स्वर्गो लोकः । तांब्रा. 18.7.12.

53. जैसा कि 'सरस्वती सम्मितेन अध्वना', तांब्रा. 25.10.16; 'ता वा एताः स्वर्गस्य लोकस्य नावः संपारिण्यः स्वर्गं एव एताभिः लोकं अभिसन्तरन्ति । ऐब्रा. 6.27. आदि से प्रकट होता है ।

54. अग्निः वै स्वर्गस्य लोकस्य अधिपतिः । तैब्रा. 3.8.18.2.

55. तस्य आदित्याः अधिपतयः । तैब्रा. 3.8.18.2.

56. शतब्रा. 12.9.2.8.

57. चार्ल्स रेडमैन, दि राइज़ ऑफ़ सिविलाइज़ेशन, 1978, 30.

58. शतब्रा. 7.5.2.36.

59. ऐब्रा. 4.20.

60. परो वा अस्मात् लोकात् स्वर्गो लोकः । ऐब्रा. 6.30.

61. प्रतिकूलं इव हि इतः स्वर्गो लोकः । तांब्रा. 6.7.10.

62. जयचंद्र नारंग वेदालंकार, 'रिजनल स्ट्रक्चर ऑफ़ इंडिया इन रिलेशन टु लैंग्वेज ऐंड हिस्ट्री', कहेइं, 1958, 33-52.

63. डॉ. वी. एस. पाठक, मौखिक चर्चा; डॉ. एस.पी. गुप्त, आर्कियॉलॉजी ऑफ़ सोवियत सेंट्रल एशिया ऐंड इंडियाज़ बार्डरलैंड्स, 1979, 2, 150; लैंबर्ग-कार्लोव्स्की, 'दि प्रोटो एलामाइट ऑन दि इरैनियन प्लेटो', ऐंटीक्विटी, 52, 1978, 114-20; शशि अस्थाना, प्री-हड़प्पन कल्चर्स ऑफ़ इंडिया ऐंड बार्डरलैंड्स, 185, 238-39, आदि।

अध्याय पाँच

प्रभाव, विस्तार और प्रव्रजन

भारत में कहीं अन्यत्र से आर्यों के आकर बसने की बात निराधार है, पर उस विशाल क्षेत्र में जो भारत से लेकर यूरोप के सीमान्त तक पहुँचता है, एक भाषा और संस्कृति का प्रसार एक अकाट्य तथ्य है। यह प्रसार कैसे सम्भव हुआ ? इसके वाहक कौन थे ? प्रसार का माध्यम क्या था ? इसका समय क्या था और प्रसार में कितना लम्बा समय लगा हो सकता है ? क्या यह सारा प्रसार किसी एक ही केन्द्र से हुआ या प्रसार के क्रम में इसके उपकेन्द्र बनते गये जो आगे के क्षेत्रों में इस प्रसार में सहायक हुए ? वे लोग, जो इस प्रभाव-विस्तार में प्रमुख रूप से सक्रिय थे, अपने लिए किस सम्बोधन का प्रयोग करते थे ? इन विभिन्न प्रश्नों का उत्तर देना इस तथ्य के बावजूद जरूरी है कि वैदिक सभ्यता का विकास हजारों वर्षों के दौरान भारत में ही हुआ था। हर मामले में इन प्रश्नों का बिलकुल सटीक उत्तर दे पाना कठिन हो सकता है, पर विभिन्न स्रोतों से मिलने वाली सूचनाओं के आधार पर हम इनका सन्तोषजनक हल ढूँढ़ने में सफल हो सकते हैं। इस अध्याय में हम इसी का प्रयत्न करेंगे, पर इन प्रश्नों को अलग-अलग उठाने के स्थान पर हम अपना ध्यान मुख्य रूप से प्रसार के क्रम पर रखेंगे और इस क्रम में ही अन्य विचारणीय पक्षों को यथाप्रसंग समेटने का प्रयत्न करेंगे।

2

आर्य और आर्य-बस्तियाँ

पीछे आर्य शब्द पर विचार करते समय हम देख आये हैं कि आर्य शब्द का नृजातीय या भाषाई अर्थ में प्रयोग नहीं होता रहा है, पर इस तथ्य की ओर ध्यान

देने वाले विद्वानों ने भी प्रमादवश इसको जाति और भाषा से जोड़ने की भूल की है। अर्/अल्—चीरना, फाड़ना, चुभना, आहत करना;अर/अल—उक्त क्रियाएँ करने वाला करण या उपकरण; फाल या तीक्ष्णाग्रदण्ड; अर्य —कृषि-सम्पदा के स्वामी, सम्माननीय, आदि से होते हुए विकास के एक अगले चरण पर पहुँच कर मात्र श्रेष्ठ, स्वामी, श्रीमान् के आशय से आर्य शब्द का प्रयोग होने लगा था। डॉ. सच्चिदानन्द मिश्र भाषावैज्ञानिक मीमांसा के बाद इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि "जिस प्रकार महात्मा बुद्ध के काल में द्वितीय नागर क्रान्ति एवं वाणिज्य-व्यापार की प्रगति के परिणामस्वरूप वैश्य वर्ग श्रेष्ठी कहलाया उसी प्रकार पूर्ववैदिक युग में कृषि-क्रान्ति के परिणामस्वरूप 'अर्य' तथा 'आर्य' सामाजिक श्रेष्ठता के अधिकारी बने।"[1] इसमें इतनी बात और जोड़ी जा सकती है कि वैदिक काल तक यह शब्द भूस्वामित्व से ऊपर उठकर श्रेष्ठ, स्वामी या व्यापारी के अर्थ में प्रयोग में आने लगा था, यद्यपि इसके समानान्तर ही अन्य अनेक शब्दों की भाँति यह अपने प्राचीन आशय, अर्थात् भूस्वामी के लिए भी प्रयोग में आता रहा लगता है। श्रेष्ठता और स्वामित्व का यह भाव शिष्टता और सभ्यता का भी द्योतक बन गया था और इसी दृष्टि से उसका प्रयोग आर्यजन, शिष्टजन तथा आर्य भाषा या श्रेष्ठ या सुसंस्कृतों की भाषा के लिए भी हुआ।

आर्य शब्द वैदिक काल में मुख्यतः वैदिक व्यापारियों के लिए प्रयोग में आ रहा था। अपने व्यापारिक प्रसार के क्रम में ही ये व्यापारी भारत से बाहर भी गये। यह शब्द, जैसा कि प्रायः दुहराया जाता है, केवल भारत और ईरान तक ही सीमित नहीं रहा। जहाँ भी इन व्यापारियों ने अपना वर्चस्व कायम किया और अपनी बस्तियाँ बसायीं, उन्होंने इनको अपने नाम से जोड़ा। मैक्समूलर के अनुसार इसकी छाया अर्मीनिया (पुराना नाम अर्मिया), मीदिया (जिसके निवासी अपने को 'आरी' कहते थे), काकेशश की एक जाति जो अपने को 'इरोन' कहती थी, थ्रेस के पुराने नाम 'अरिया', जर्मनी के एक कबीले 'आरी', कर्टियस के अनुसार यूनानी 'एरिओतस' और पिक्ते के अनुसार 'आयरिश' और आयर-लैण्ड में पायी जा सकती है।[2] अपने मूल क्षेत्र से यह प्रभाव जितना दूर होता गया, इस नाम का रंग और असर भी उतना ही फीका होता गया है।

यहाँ दो प्रश्न उठाये जा सकते हैं : पहला यह कि, भारत से बाहर अपने को आर्य या आरी कहने वाले जनों में से कुछ क़बीले बाद के कालों में भी पिछड़े स्तर पर क्यों पाये जाते रहे हैं? और दूसरा यह कि, क्या भारत से बाहर जाने वाले सभी लोग केवल वणिक ही थे और उन क्षेत्रों के स्थायी आवासी बन जाने के बाद भी उनकी गतिविधियाँ केवल व्यापार तक ही सीमित रहीं?

इन दोनों प्रश्नों के उत्तर सम्भावना-परक होने को बाध्य हैं, पर हमें यह याद रखना होगा कि एक बार स्वामी और वैश्य या व्यापारी वर्ग के लिए प्रयोग में

आने के बाद यह शब्द उन देशों और क्षत्रों के ऐसे व्यक्तियों के लिए भी उतने ही औचित्य से प्रयुक्त हो सकता था जो या तो व्यापार-तन्त्र से किसी-न-किसी रूप में जुड़े हुए थे या स्थानीय सम्पदा के स्वामी बने बैठे थे, जितने औचित्य से भारत से जाने वाले व्यापारियों के लिए। ट्रेडर, शापकीपर, बिजनेसमैन अंग्रेज़ी के शब्द है, पर इन शब्दों का जो लोग अपने लिए प्रयोग करते हैं उनका अंग्रेज़ होना ज़रूरी नहीं। अपने को आर्य या व्यापारी कहने वाले सभी लोगों की आर्थिक स्थिति और व्यापारिक भूमिका भी एक जैसी नहीं थी। इस बात को समझने के लिए भारतीय बनजारों पर नज़र डाली जा सकती है जो अपने गधों और खच्चरों पर पत्थर, सिल, चक्की, आदि लेकर बेचते-फिरते हैं और खानाबदोशों की जिन्दगी जीते हैं। इनका सम्बन्ध कभी एक बृहद व्यापारिक तन्त्र से रहा हो सकता है, पर एक निश्चित चरण पर इनका स्थिरीकरण हो गया। इसके बावजूद ये अपने को बनजारा या वाणिज्यकर्मी ही कहते हैं और दूसरों के द्वारा भी इसी रूप में पुकारे जाते हैं। यही स्थिति विदेशों में भी रही लगती है। वे लोग जो खानों की खुदाई करके, नदियों की धाराओं, अपने क्षेत्र के जंगलों और पहाड़ों से ऐसी वस्तुओं का संग्रह करके सुदूर व्यापार से जुड़े लोगों के हाथों बेचते या ऐसी वस्तुओं से बदलते थे जिनमें उनकी दिलचस्पी थी, या घोड़ों आदि की बिक्री में लगे थे और इस तरह लाभान्वित हो रहे थे, सम्भवतः अपने को आर्य ही कह रहे थे। चने-चबेने, तम्बाकू-बीड़ी से लेकर हीरे-जवाहरात तक बेचने वाले अपने को दूकानदार और व्यापारी ही कहते हैं। विभिन्न पृथकताओं के बावजूद इन सभी में जो समान तत्व पाया जाता था वह था इनका उस व्यापारिक तन्त्र से किसी-न-किसी रूप में जुड़ा होना और हमारे प्रयोजन से इनकी सबसे बड़ी भूमिका थी उन भाषागत और सांस्कृतिक प्रभावों का अपनी स्थानीय आबादी की जड़ों तक विस्तार, जिन्हें वे प्रधान तन्त्र से अर्जित कर रहे थे।

दूसरी ओर, भारत से बाहर जाने वाले सभी लोग केवल व्यापारी ही नहीं थे। उनके साथ उनकी रक्षा के लिए सैनिकों या रक्षकों का भी एक दल होता था। ऋषियों आदि के उनके साथ जाने की सूचना भी वैदिक साहित्य से मिलती है। इन व्यापारियों में से कुछ ने यदि विदेशों में अपने अड्डे कायम किये तो इनके साथ गये हुए सैनिकों ने भी सम्भवतः आस-पास के क्षेत्र पर अपना प्रभुत्व कायम किया। हित्तियों के नाम के साथ यह बात स्पष्ट रूप में देखी जा सकती है। इसके अतिरिक्त डॉ. सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने हारीत कृष्ण देव के इस प्रस्ताव का उल्लेख किया है कि बारहवीं शताब्दी ई. पू. में मिस्र के राजा रामसेस के साथ हुए युद्ध में उत्तर की ओर से आकर शामिल होने वाले गणों में कुछ आर्य गण भी रहे लगते हैं।[3] दूसरी ओर, ब्राह्मणों का प्रभाव उस सांस्कृतिक प्रसार के अनुरूप ही हो सकता था जिसके वे वाहक थे और स्थानीय आबादी में अपने मत का प्रसार करके

और उसे अपने विश्वासों और रीतियों में यथासम्भव दीक्षित करके ही वे उससे दान और सम्मान प्राप्त कर सकते थे। ऋग्वेद में समूची दुनिया को आर्य बनाने के जो दावे आते हैं उनका सम्बन्ध इन ब्राह्मणों से ही हो सकता है।[4]

यह इतिहास की एकमात्र घटना भी नहीं थी। दक्षिणपूर्व एशिया के साथ व्यापारिक सम्बन्ध कायम करने के बाद भारतीय भाषा और संस्कृति का प्रसार करने और व्यापार के समान्तर ही कुछ महत्वाकांक्षी नेताओं द्वारा स्थानीय प्रभुत्व कायम करने और वहाँ की नदियों, स्थानों, पर्वतों आदि को भारतीय नाम देने के जो प्रयत्न काफ़ी बाद में किये गये, या अरब व्यापारियों के प्रभाव से सिन्ध, गुजरात, केरल, श्रीलंका, मलेशिया आदि के कतिपय केन्द्रों से जैसे इस्लामी प्रभाव एक निश्चित सीमा में फैला और बिलकुल हाल में यूरोपीय व्यापारियों के कारण जैसे उपनिवेशों की स्थापना और उनमें अपनी भाषा और संस्कृति का प्रसार किया गया कुछ वैसी ही बात आर्य या भारतीय व्यापारियों की इस पहल के साथ देखी जा सकती है जो अब तक उपलब्ध उदाहरणों में सबसे पुराना है। यह प्रसार केवल उन्हीं क्षेत्रों में नहीं हुआ जिनमें आज भारोपीय परिवार की कोई भाषा अस्तित्व में हैं, अपितु इससे दूसरे ऐसे क्षेत्र भी प्रभावित हुए जिनसे वैदिक व्यापारियों के सम्पर्क थे। अनेक क्षेत्रों में यह प्रभाव केवल ऊपरी तबके तक ही सीमित रह गया और आगे चलकर इसका नाम-निशान मिट गया। इसका एक उदाहरण तुर्की है, जहाँ से यदि पुरातात्विक अभिलेखों का उद्धार नहीं हुआ होता तो आज हम इसकी कल्पना भी नहीं कर सकते थे कि वहाँ कभी आर्य-भाषा-भाषी अभिजात वर्ग का अस्तित्व था। कुछ अन्य क्षेत्रों में यह प्रभाव केवल व्यापारिक बस्तियों तक सीमित रहा और स्थानीय बोलियों में भाषा और संस्कृति के कतिपय तत्वों को छोड़कर यहाँ कुछ भी बचा नहीं रह गया।

यह मानना भी एक सरलीकरण ही होगा कि प्रव्रजित होने वाले सभी वैदिक संस्कृत का ही व्यवहार करते थे। भारत में भी यह भाषा अनेक स्थानीय बोलियों के मिश्रण, विलय और मार्जन से एक सार्वदेशिक सम्पर्क भाषा के रूप में ही विकसित और मान्य हुई थी। अपने सामान्य प्रयोग में संस्कृत का व्यवहार करने वाले भी स्थानीय बोलियों का ही व्यवहार करते थे। बाहर जाने वाले लोगों में अपने अंचल से प्रवसित और अपनी भाषा बोलने वालों के निकट पहुँचने की प्रवृत्ति होती है जिसके चलते वे परदेश में भी एक लघु स्वदेश कायम कर लेते हैं। अतः भारत से बाहर की बस्तियों में भी स्थानीय भाषा-द्वीपों के अनुरूप ही वैविध्य बना रहा लगता है, यद्यपि जैसा कि दक्षिणपूर्व एशिया के तथा अन्य उदाहरणों से प्रकट होता है, व्यापक सम्पर्क के लिए संस्कृत का ही प्रयोग होता था जो वैदिक के निकट थी और यही कारण है कि इस बात पर बार-बार बल देने के बाद भी कि भारतीय आर्य गण अलग-अलग बोलियाँ बोलते थे, जब भारत से बाहर की भारोपीय

परिवार की किसी बोली का प्रश्न आता है तो साम्य केवल संस्कृत और वैदिक संस्कृत के ही साथ ढूँढ़ा जाता है जो इस बात का प्रमाण है कि हड़प्पा काल में भी व्यापक सम्पर्क-भाषा के रूप में वैदिक का ही व्यवहार हो रहा था जबकि भारत के ही द्रविड़ और आस्त्रिक भाषा-द्वीपों से जाने वाले व्यापारियों का जिन क्षेत्रों में सघन जमाव हुआ वहाँ, जैसे यूराल-अल्टाई क्षेत्र में, इनका प्रभाव वैदिक से गहरा पड़ा।[5]

3

भारत से पश्चिम-उत्तर के पड़ोसी देशों के सामान्य लक्षण

आर्य भाषाएँ भारत से बाहर केवल पश्चिमोत्तर के देशों में ही बोली जाती हैं। हड़प्पा सभ्यता का सम्पर्क-क्षेत्र भारत से बाहर केवल पश्चिमोत्तर के देशों तक सीमित था। न तो वैदिक साहित्य से, न ही हड़प्पा सभ्यता के भौतिक अवशेषों से यह पता चलता है कि इसके निर्माता पूर्वी और दक्षिणी भारत से सुपरिचित थे। परंतु पश्चिमोत्तर के सीमावर्ती देशों से वैदिक जन अच्छी तरह परिचित थे और हड़प्पा सभ्यता के अवशेषों से प्रकट होता है कि परिपक्व चरण पर पहुँचने से पहले ही हड़प्पा सभ्यता के लोग इन देशों से न केवल सुपरिचित हो चुके थे, अपितु इन क्षेत्रों में उनके अड्डे या उपकेन्द्र भी कायम हो चुके थे।

परन्तु जब हम वैदिक या हड़प्पा काल के पश्चिमोत्तर पड़ोस की बात कर रहे हों तो हमें वर्तमान भारत और पाकिस्तान के मानचित्र को कुछ समय के लिए भुलाते हुए यह तय कर लेना होगा कि तत्कालीन भारत या वैदिक क्षेत्र की व्याप्ति क्या है, और फिर उसी सन्दर्भ में इन पड़ोसी क्षेत्रों का निश्चय करते हुए उनमें प्रसार और प्रभाव की बात की जानी चाहिए। यदि वर्तमान भारत-पाक को लें तो हमारे पश्चिमोत्तर के ये पड़ोसी देश होंगे अफ़ग़ानिस्तान और ईरान। पर वैदिक साहित्य तथा हड़प्पा के अवशेषों से यह बिलकुल स्पष्ट है कि यह सभ्यता मैदानी सभ्यता थी। अपने सटे पड़ोस के पहाड़ी अंचलों में इसके अड्डे तो थे, पर इसका प्रसार नहीं था। अतः प्राचीन परम्परा में जब भी किन्हीं पहाड़ी क्षेत्रों का विवरण आता है, उसमें ऋषियों के आश्रमों और देवताओं के निवास की तो चर्चा आती है, जो सीमित पैमाने पर बसी आर्य बस्तियों का प्रतीक है, पर वहाँ के निवासियों के रूप में नागों, किन्नरों, गन्धर्वों, यक्षों, विद्याधरों और यदाकदा दानवों आदि को ही गिनाया जाता है।[6] दूसरे शब्दों में कहें तो, वैदिक साहित्य और पौराणिक परम्परा दोनों इस बात का निषेध करते हैं कि वैदिक या आर्य-प्रसार पहाड़ी क्षेत्रों में भी था और इनके साथ ही इस तथ्य को रेखांकित करते हैं कि इन

क्षेत्रों में वैदिक उपकेन्द्र कायम थे जिनके वैदिक निवासी संख्या में बहुत कम होने के बावजूद, अपेक्षाकृत निर्विघ्न और शान्तिपूर्वक रह रहे थे और वैदिक रीति से अपना जीवन-निर्वाह कर रहे थे। ठीक इसी तरह के उपकेन्द्रों की पुष्टि हड़प्पा-कालीन वस्तुगत साक्ष्यों से भी होती है।

ऐसी स्थिति में हम यदि वैदिक भारत या हड़प्पाकालीन भारत की बात कर रहे हैं तो हमें वर्तमान काश्मीर घाटी और इसके पहाड़ी अंचलों, हिमांचल तथा पाकिस्तान के पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त व बलूचिस्तान को भी वैदिक या आर्य देश न मानकर पड़ोसी देश ही मानना होगा। भारत की एक देश के रूप में कल्पना और नामकरण दोनों बाद की चीजें हैं।

पौराणिक विवरणों में प्राचीन काल से चली आ रही भौगोलिक जानकारी का अपने समकालीन अनुभवों से अर्जित जानकारी के साथ तालमेल बैठाने की एक जी-तोड़ कोशिश देखने में आती है जिसके कारण अनेक हास्यास्पद भूलें भी हुई हैं। इसके अतिरिक्त वैदिक सभ्यता का केन्द्र चूंकि इस दौर में पूर्व की ओर खिसक आता है, अतः अब इससे पश्चिम की परम्परा-लब्ध, या यदि महाभारत की शब्दावली में कहें तो शास्त्र-चक्षु से देखी गयी[6क] घटनाओं, चरित्रों और स्थलों को नये केन्द्रों में खिसका दिया जाता है। भ्रान्ति का एक कारण यह भी था कि हिमालय को पौराणिक भूगोल में भारत के ठीक उत्तर में एक सीधी रेखा के रूप में फैला कल्पित किया गया था। अतः इसे पूर्व समुद्र से पश्चिम समुद्र तक फैला माना गया है।[6ख]

सबसे बड़ी बात यह है कि ऐसे मूल स्थलों और जनों की, जिनसे सम्पर्क कट चुका है, पहचान मिट जाती है और पुराने विवरणों को कल्पना के पुट से चमकाने और भरने के और इनको ठोस रूप, आकार, स्थान और काल में रखने के प्रयत्न में पौराणिक भूगोल प्रायः वायवीय और अविश्वसनीय हो जाता है।[7] शास्त्र-चक्षु से देखे या मात्र किताबी ज्ञान के आधार पर लिखे गये इसी पौराणिक भौगोलिक विवरण में किरातों को प्राग्ज्योतिष के पास, कहें, सुबर्नसिरी (स्वर्ण श्री) और लोहित घाटी के अंकस, डफला, मिरी और अबोर कबीलों के रूप में पहचाना जाता है।[8] पौराणिक विवरणों में एक भूल तो यह की गयी कि पश्चिमोत्तर के पर्वतीय क्षेत्रों के निवासियों के जो विवरण उन्हें वैदिक काल से चली आ रही कृतियों या परम्पराओं से प्राप्त थे उनका सार्वदेशीकरण करते हुए समस्त पर्वतीय निवासियों के लिए उसी किरात, गन्धर्व, यक्ष, किन्नर शब्दों का प्रयोग इस तरह किया जाने लगा[9] मानो जहाँ एक का निवास है वहीं दूसरे का भी निवास है और जहाँ इनका क्षेत्र या क्षेत्रीय क्रम निर्धारित करने का प्रयत्न किया गया वहाँ, लगता है, इसे पश्चिम से न शुरू करके पूर्व से शुरू किया जाने लगा जिससे जहाँ क्रम ठीक

था वहाँ भी स्थिति बिलकुल गड़बड़ हो गयी। इस तरह किरात देश जिसकी याद किरथार की पहाड़ियों और कलात प्रदेश के नाम में बनी रह गयी है, वस्तुतः वर्तमान बलूचिस्तान रहा लगता है। प्राग्ज्योतिष या कामरूप के पास कल्पित किरात देश के विषय में भी रोचक बात यह है कि इसके सागर के पड़ोस में स्थित होने की याद बनी रह गयी।[10] वास्तविकता यह है कि नेपाल और भूटान आदि का क्षेत्र और इससे परे का देश बुट/भुट, बोट/भोट के रूप में अभिहित था जो बुटवल, नेपाल के एक क्षेत्र के नाम, भूतान और तिब्बत के लिए प्रयुक्त प्राचीन नाम भोट देश में देखा जा सकता है। किरातों और गन्धर्वों का उल्लेख वैदिक साहित्य में उस काल से ही मिलने लगता है जब उनके पूर्वोत्तर भारत से परिचित होने की कोई सम्भावना नहीं दिखायी देती।[11] इसलिए भी पूर्वकाल से चले आ रहे पहाड़ी क्षेत्रों का अभिज्ञान पश्चिम से पूर्व की ओर को किया जाना चाहिए।

इस तरह किरात देश पूर्ववर्ती कलात रियासत या किरथार से आगे का प्रदेश (बलूचिस्तान का दक्षिणी भाग) हुआ। सिन्धु से उत्तर भूजी से लेकर बटेरा तक का क्षेत्र, स्वात, पंजकौरा, हुंजा, गिलगिट, चितराल, आदि नदियों की घाटियों और पहाड़ी क्षेत्रों, कोहिस्तान, पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त, उत्तरी बलूचिस्तान और हिन्दूकुश से दक्षिण का अफ़ग़ानिस्तान का पूर्वी भाग दरदों और गन्धर्वों या गन्धारियों के निवास के रूप में विख्यात रहा लगता है जिसकी याद कन्दहार में बनी रह गयी है। सांस्कृतिक विनिमय में भारत ने पश्चिमोत्तर के देशों से जो भी वस्तुएँ या विचार ग्रहण किये उनमें माध्यम के रूप में गन्धार[12] का बहुत अधिक महत्त्व है। भाषाई दृष्टि से मोटे तौर पर यह वह क्षेत्र है जिसमें दरद और पश्तो बोलियाँ बोली जाती हैं। लगता है, इससे सटे पूर्व के पहाड़ी क्षेत्र के निवासी किं-पुरुष या किन्नर नाम से जाने जाते थे जिनके नाम की छाया किन्नौर में आज तक बनी रह गयी है।[13] ऐसा लगता है कि गन्धार प्रदेश से उत्तर का क्षेत्र अनेक नामों से जाना जाता था। सम्भवतः इसी के लिए सुमेरु का प्रयोग होता था। हिन्दूकुश के लिए मन्दर या मन्दराचल शब्द का प्रयोग होता था, पर सम्भव है सुमेर, मेरु और मन्दर एक ही पर्वत के पर्याय रहे हों, या यदि दो पर्वतों के द्योतक रहे हों तो भी इनका प्रयोग अभेदक रूप में प्रायः एक-दूसरे के लिए होता रहा हो और इस दृष्टि से इसमें प्रायः हिन्दूकुश से लेकर पामीर बदख्शाँ तक का पहाड़ी क्षेत्र शामिल हो जाता रहा हो। अली हिन्दूकुश की उत्तरी शृंखला को पौराणिक गन्धमादन मानते हैं।[14]

पामीर से ही यक्षु नाम की एक नदी वंक्षु (ऑक्सस) या आमू दरिया में आ कर मिलती है। ऐसा लगता है कि यह पूरा क्षेत्र (वर्तमान ताजिकिस्तान) यक्षदेश या यक्षों के निवास के रूप में जाना जाता था। बदख्शाँ का प्राचीन नाम द्वयक्ष रहा लगता है।[15] कुछ अध्येताओं के अनुसार पामीर बदख्शाँ का ही एक अन्य नाम

कम्बोज रहा लगता है।[16] पश्चिमी उत्तरी अफ़ग़ानिस्तान कुछ अध्येताओं की दृष्टि में बाह्लीक है, जिसकी धुँधली छाया बल्ख में बची रह गयी है।[17] सम्भवतः मन्दर से उत्तर के दूर-पर्यन्त फैले क्षेत्र को अभेदक रूप में मद्र, उत्तर मद्र या मन्द देश भी कहा जाता था।

किरातों, यक्षों, गन्धर्वों और किन्नरों को उनके विशिष्ट भौगोलिक क्षेत्रों से न जोड़कर इन शब्दों का पौराणिक काल में सामान्य पहाड़ी जनों के लिए अस्पष्ट रूप में प्रयोग का एक प्रधान कारण यह भी था कि अपनी अनेक सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक भिन्नताओं के बावजूद पर्वतीय क्षेत्रों की जनजातियों में अनेक ऐसी समानताएँ भी थीं जिनके कारण इनसे सतही परिचय रखने वाले किसी व्यक्ति को इनकी निजी भिन्नताओं को पहचानने में कुछ उलझन पैदा हो सकती थी। उनकी इन समानताओं पर एक दृष्टि डालना इस तथ्य का सही मूल्यांकन करने के लिए भी ज़रूरी है कि वैदिक प्रभाव के कारण इनमें क्या परिवर्तन आया हो सकता है :

1. इन पर्वतीय अंचलों में बसने वाले क़बीलों में यायावर या अर्ध-यायावर क़बीलों का आज तक अस्तित्व बना रहा है। इसका यह अर्थ नहीं कि इनमें स्थायी आबादी और खेती-बारी का निरा अभाव रहा है, पर यायावर या अर्ध-यायावर क़बीलों की संख्या पहले आज की तुलना में अधिक रही लगती है। पौराणिक विवरणों में यद्यपि गन्धर्वों, यक्षों आदि के नगरों और बस्तियों के उल्लेख आते हैं, पर साथ ही यह भी कहा जाता है कि सम्बन्धित क्षेत्र में गन्धर्व, यक्ष, किन्नर व अप्सरा गण विचरण करते थे[18], जो वस्तुस्थिति के अधिक निकट प्रतीत होता है।

2. ये यायावर क़बीले जाड़े के मौसम में ठंड से बचने के लिए पहाड़ों से मैदानी क्षेत्र में उतर आते रहे हैं और अपने परिवार का पालन मेहनत-मज़दूरी से करते रहे हैं और गर्मी आने के साथ फिर वापस पहाड़ों पर चले जाते रहे हैं। इसने इन्हें क्रमशः द्विभाषी बना दिया होगा।

3. साहित्यिक विवरणों तथा अन्य तथ्यों से प्रकट होता है कि ये पहाड़ी क़बीले मूलतः मातृप्रधान थे।[19] रूप रंग की दृष्टि से तो ये अधिक गोरे और सुन्दर थे ही। मातृप्रधान होने के कारण इनका वर्जनामुक्त समाज, सामूहिक क़बीलाई नृत्यों में स्त्रियों-पुरुषों का मुक्त और निर्बन्ध रूप में भाग लेना, साथ-साथ गाना-बजाना, पितृप्रधान वैदिक जनों को निश्चय ही विचित्र लगता रहा होगा जो अपने समाज की स्त्रियों को अपनी सम्पत्ति बना चुके थे और सम्पत्ति की ही तरह दूसरों से छिपाकर परदे में रखने भी लगे थे। यक्षों, गन्धर्वों और किरातों आदि को इसी कारण कामी[20], विलासी[21], नृत्यगान और संगीत का प्रेमी[22], आदि माना जाता रहा है। मैदानी क्षेत्र में उतरे इन क़बीलों के कारण उभय पक्ष में रक्त का मिश्रण लम्बे समय तक जारी रहा है। वर्जनामुक्तता और अपने सौन्दर्य के कारण इनकी

युवतियाँ यदा-कदा तत्कालीन ऋषियों और राजाओं आदि को भी विचलित करने में समर्थ होती थीं और इन्द्र की प्रेरणा से इस विशेष प्रयोजन से ही स्वर्ग से उतरने वाली और अपना काम पूरा करके पुनः लौट जाने वाली अप्सराओं की कहानियों का जन्म इनके मौसमी संचलनों के कारण हुआ लगता है।

4. भौतिक परिस्थितियों की समानता के कारण बलूचिस्तान से लेकर अफ़ग़ानिस्तान तक के क्षेत्र में खेती-योग्य भूमि के एक-एक चप्पे का उपयोग और इस स्वल्प वर्षा वाले क्षेत्र में, जिसमें वर्षा भी गर्मी में न होकर जाड़े में होती है, जल का सर्वाधिक मितव्ययिता से उपयोग, जल के भण्डारों की हर दृष्टि से सुरक्षा आदि के कारण ही जलधाराओं और सरोवरों पर पहरा देने वाले और अपनी अनुमति के बिना जल का उपयोग करने वालों को दण्डित करने वाले यक्षों और किरातों की कहानियाँ प्रचलित हुई लगती हैं।[23]

5. अपने सीमित साधनों के कारण कृषि-उत्पाद या पशुधन की दृष्टि से ये क्षेत्र कभी बहुत धनी नहीं रहे हैं और आज भी इनके क्षेत्रफल और आबादी के अनुपात को देखते हुए यह सोचना कठिन है कि खेती और पशुधन के कारण ये बहुत अधिक समृद्ध रहे हो सकते हैं। इसके बावजूद गन्धर्वों, यक्षों और किरातों आदि की अकूत सम्पन्नता की कहानियाँ प्रचलित रही हैं। इसका रहस्य इन क्षेत्रों की खनिज सम्पदा रही है, जिसका हड़प्पा काल से बहुत पहले से भारत में आयात हो रहा था। चूँकि यह सारी सम्पदा उस क्षेत्र में थी जिसके ये निवासी थे, अतः इन्हें इसका स्वामी मान लेने में कोई कठिनाई नहीं थी, यद्यपि कहीं इस बात का क्षीण आभास भी नहीं मिलता कि खनन आदि में इनकी भी पहल थी। मुमकिन है, इस क्षेत्रों के कुछ सरदार इन खानों से निकलने वाले द्रव्यों के एवज़ में खनन-कर्मियों से कुछ वसूली करते रहे हों। इसी तरह इन दुर्गम और उपद्रवी क़बीलों से आबाद क्षेत्र में निश्चित दूरियों तक सुरक्षित रास्ता पार कराने के लिए भी वे वसूली करते रहे हो सकते हैं। इस विषय में किसी सन्देह की सम्भावना नहीं दिखायी देती कि इनकी सम्पन्नता के पीछे क्षेत्रीय खनिज सम्पदा का ही हाथ था। इसी सम्पन्नता ने ऋग्वेद के पणियों की निधियों का रूपक खड़ा किया और इसी ने खैबर का अर्धदैवीकरण धनद या कुबेर के रूप में किया। महाभारत के अनुसार मेरु की समस्त सम्पदा पर उशना का एकाधिकार है। वह यहाँ के रत्नों आदि का चौथा भाग कुबेर को देते हैं और कुबेर इसका सोलहवाँ हिस्सा मनुष्यों को देते हैं और शेष का स्वयं उपभोग करते हैं।[24] यद्यपि कोई बात किसी क्षेत्र की समूची आबादी पर लागू नहीं हो सकती, पर अकूत सम्पदा और इसके साथ जुड़ी विलासिता की कहानियों को सूत्रबद्ध करने पर लगता है कि उस दौर में इन क्षेत्रों के सरदारों आदि की स्थिति आज के तेल-उत्पादक देशों के शेखों जैसी ही थी।

इन स्थूल समानताओं को छोड़कर अन्य मामलों में इन सबकी अपनी आर्थिक और सामाजिक भिन्नताएँ तो थीं ही, इनमें से प्रत्येक क्षेत्र में स्थानीय स्तर पर भी अनेक भिन्नताएं मौजूद रही लगती हैं। किरात, गन्धर्व आदि अतिव्यापी सम्बोधनों के प्रयोग से यह भी नहीं सोचा जा सकता कि इनसे अभिहित क्षेत्रों के उपखण्डों और स्थानों के लिए पृथक् नाम नहीं दिये गये थे। इन नामों में भी उच्चारणगत शिथिलताओं या स्वयं वैदिक क्षेत्र के दो भिन्न अंचलों में प्रचलित उच्चारण के कारण कुछ भिन्नताएँ पायी जा सकती थीं, जैसे किरात और किलात।

4

बलूचिस्तान

बलूचिस्तान का नाम जिस बलूच या बलूची क़बीले के नाम पर पड़ा है उसका प्रवेश दक्षिणी ईरान से बलूचिस्तान के दक्षिणी भाग की ओर से ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी में हुआ है और इस दृष्टि से इसे इस क्षेत्र का सबसे नया क़बीला कहा जा सकता है। इन सात-आठ सौ वर्षों के दौरान इसकी भाषा से लेकर रक्त तक का संकरण हुआ है और इसका प्रभाव बलूचिस्तान तक ही सीमित नहीं रहा है अपितु सिन्धु के मैदानी भाग पर भी पड़ा है। बलूचिस्तान में बसे दो अन्य क़बीले कहीं अधिक पुराने हैं। इनमें एक हैं ब्राहुई पहाड़ियों को आबाद करने वाले जन, जिन्हें इसी नाम से पुकारा जाता है और जिनकी भाषा द्रविड़ परिवार की है। दूसरे हैं, पश्तो या पुश्तूभाषी पुश्तून या पख्तून जो अफ़ग़ानिस्तान से लेकर बलूचिस्तान तक फैले हुए हैं। ये ही सम्भवतः इस क्षेत्र के मूल निवासी हैं। इन तीन के अतिरिक्त जाट जो कच्छी के मैदान में पाये जाते हैं, प्रशासनिक दृष्टि से भले बलूचिस्तान में आते हों पर भौगोलिक दृष्टि से नहीं, क्योंकि कच्छी पाकिस्तान के मैदानी भाग में आता है। जैसा कि इन जाटों की भाषा आदि से प्रकट होता है, ये इससे भी पूर्व की ओर से यहाँ जा कर बसे हैं, यद्यपि इनका पंजाब के जाटों से सीधा सम्बन्ध नहीं है। पश्तो, बलूच, जट—ये तीनों भाषाएँ आर्य परिवार की हैं जिनमें विकृति की मात्रा खासी अधिक है।

बलूचिस्तान में उत्तर से दक्षिण तक दर्जनों हड़प्पाकालीन और पूर्वहड़प्पाकालीन स्थल हैं—गुमला, डाबरकोट, लोरा लाई, पेरियानो ग़ुंडाई, रानाग़ुंडाई, क़िले गुलमोहम्मद, मुग़ल ग़ुंडाई, पठानी दम्ब, दम्ब सादात, शाही तम्प, कुल्ली, नाल, सुत्कागेनदोर, आदि। ये हड़प्पा के परिपक्व चरण से पहले से, या सारस्वत चरण से, ही वैदिक व्यापारियों के अड्डे रहे प्रतीत होते हैं और परिपक्व या

हड़प्पा-पूर्व स्थल

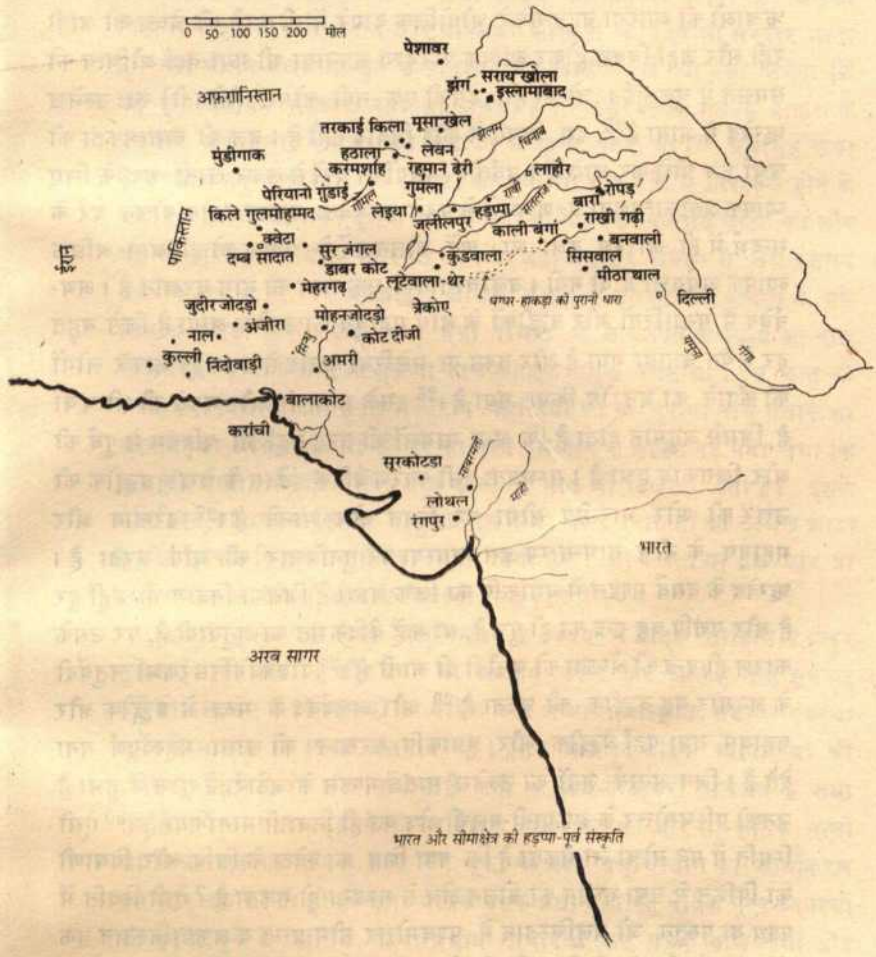

भारत और सौराष्ट्र की हड़प्पा-पूर्व संस्कृति

सैन्धव चरण में भी इनकी स्थिति में कोई विशेष अन्तर नहीं आया दिखायी देता।

वैदिक साहित्य में बलूचिस्तान के साथ गहरे सम्पर्क के अनेक संकेत मिलते हैं, जिनमें से कुछ की ओर तो इसलिए ध्यान नहीं दिया जा सका कि वैदिक ऋचाओं की व्याख्या बहुत संकरे भौगोलिक दायरे में ही करने की चेष्टा की जाती रही और जहाँ विवश होकर व्यापक परिदृश्य अपनाया भी गया वहाँ औचित्य को समझने में चूक हुई। जो भी हो, इसकी एक नदी गोमल (गोमती) का उल्लेख ऋग्वेद में आया है[25], इस विषय में कोई विवाद नहीं है। वल की रूपात्मकता की चर्चा हम पीछे कर आये हैं। पर्वतीय मार्गों या दर्रों से लेकर खानों तक के लिए व्यापक प्रतीकात्मकता ग्रहण करने से पहले सम्भवतः इसका प्रयोग बोलन दर्रे के सन्दर्भ में ही आरम्भ हुआ था। कहें, बोलन दर्रे के प्रतीक को ही आगे अधिक व्यापक अर्थवत्ता दे दी गयी। बलूचिस्तान के एक स्थल का नाम बरखान है। अथर्ववेद में गन्धारियों और बह्लीकों के साथ महावृष का उल्लेख आया है जिसे बहुत दूर स्थित बताया गया है और तक्म या मलेरिया बुखार से उधर ही जाकर लोगों को कँपाने का अनुरोध किया गया है।[26] इसके साथ अंग और मगध की भी चर्चा है, जिससे अनुमान होता है कि अन्य मामलों की तरह यहाँ भी पश्चिम से पूर्व की ओर खिसकाव हुआ है। सम्भवतः इसी कारण वैदिक इंडेक्स के लेखक बह्लीक को उत्तर की ओर भारतीय सीमा पर स्थित क्षेत्र मानते हैं।[27] बरखान और महावृष के बीच नाम-साम्य इस समस्या पर पुनर्विचार की माँग करता है। ऋग्वेद के दसवें मण्डल में वृषाकपि का जिक्र आया है जिसका निवास भी कहीं दूर है और यद्यपि वह इन्द्र का ही पुत्र है, या कहें वैदिक मत का अनुयायी है, पर उसके कारण ही इन्द्र की श्रेष्ठता को चुनौती दी जाती है।[28] पंडित गिरिधरशर्मा चतुर्वेदी के अनुसार यह बह्लीक की घटना है[29] और अथर्ववेद के मन्त्र में बह्लीक और महावृष तथा यहाँ बह्लीक और वृषाकपि बरखान को खासा महत्वपूर्ण बना देते हैं। जिन अनार्य जनों का उल्लेख सातवें मण्डल के अठारहवें सूक्त में हुआ है उनको पश्चिमोत्तर के अफ़ग़ानी-बलूची क्षेत्र का ही निवासी माना गया है।[30] ऐसी स्थिति में यह सोचा जा सकता है कि क्या शिव का क्वेटा के सिबि और विषाणी का पिशिन से तथा भलान का बोलन क्षेत्र से सम्बन्ध हो सकता है? ऐसी स्थिति में पक्थ या पख्तून जो बलूचिस्तान से पश्चमोत्तर सीमाप्रान्त व अफ़ग़ानिस्तान तक फैले हैं, इस क्षेत्र के ही निवासी रहे हो सकते हैं और अलि क़बीले को भी इन्हीं की पड़ोस में रखा जा सकता है। इन सभी को सिबि-बोलन-लोरा-पिशिन वाले एक ही यात्रा-पथ और इसके पड़ोस से जोड़ने पर दासराज्ञ युद्ध की प्रकृति किंचित् अधिक स्पष्ट हो जाती है। यहाँ यह याद दिलाना उचित होगा कि परुष्णी जिसकी धारा में सुदास और उनके बेड़े को विरोधियों का सामना करना पड़ा था, जैसा कि इसके नाम से प्रकट है, एक पहाड़ी नदी थी और इसकी पहचान विवादास्पद

है।[31] यदि यह कच्छी क्षेत्र की ही कोई नदी रही हो और यह घटना इसी क्षेत्र से गुजरते हुए हुई हो तो इसके विभिन्न सूत्र अधिक सुसंगत प्रतीत होंगे।

आठवें मण्डल में एक दानी राजा बल्बूथ का उल्लेख आया है, जिसको विद्वानों ने एक स्वर से अनार्य और पश्चिमी सीमान्त का निवासी सरदार माना है। वल-बोलन-भलान-बल्बूथ के सादृश्यों को ध्यान में रखें तो ऐसा लगेगा कि यह इस क्षेत्र का सरदार रहा हो सकता है।[32] इसी तरह शतपथ ब्राह्मण के अनुसार शकुन्तला ने भरत को नाड़पित में जन्म दिया था।[33] प्रचलित कथा के अनुसार शकुन्तला स्वयं एक अप्सरा की पुत्री थी और पति से तिरस्कृत होने के बाद इसे उसकी माँ अपने देश में उठा ले गयी थी जो एक पर्वतीय घाटी का और वह भी पश्चिम की दिशा में स्थित क्षेत्र था जहाँ देवासुर संग्राम से लौटते समय पर्वतीय क्षेत्र में ही, पर अपेक्षाकृत अधिक ऊँचाई से उतरने पर, दुष्यन्त ने उसे सिंह से क्रीड़ा करते देखा था। ऐसी स्थिति में नाड़-पित के पूर्वार्ध का नाल से अभेद दिखायी देता है जो हड़प्पा काल का एक प्रमुख स्थल था। इस बात की सम्भावना दिखायी देती है कि मकारान पहाड़ियों का ही पुराना नाम मैनाक था और मेनका और शकुन्तला की माँ का नाम इस क्षेत्र के कारण पड़ गया जैसा कि गन्धारी, माद्री, कैकयी आदि अन्य नामों के साथ भी दिखायी देता है। इसके अतिरिक्त, ब्राह्मणों में किरात-आकुली नाम के दो असुर पुरोहितों का उल्लेख आया है और इनको किरात जाति का माना गया है[34], जो कलात या किरथार या बलूचिस्तान के दक्षिणी क्षेत्र के निवासी सिद्ध होते हैं।[34क]

इस तरह हम पाते हैं कि बलूचिस्तान के विषय में वैदिक साहित्य में प्रचुर सूचनाएँ पायी जाती हैं और इनसे जो निष्कर्ष उभर कर आते हैं उन्हें सूत्रबद्ध करें तो इस क्षेत्र के निवासियों का वैदिक जनों से भाषा, संस्कृति, समाज-व्यवस्था आदि के मामले में स्पष्ट अलगाव था। इसके बावजूद वैदिक व्यापारियों की आर्थिक गतिविधियों और क़बीलाई जनों के अर्ध-यायावरी संचलन के तथा इस क्षेत्र में स्थापित अड्डों के कारण वैदिक काल तक रक्त और सांस्कृतिक तत्वों का मिश्रण एक सामाजिक तथ्य बन चुका था और बलूचिस्तान का आर्यीकरण इस स्तर तक का तो हो ही चला था कि इसके प्रधान व्यक्ति वैदिक मूल्य-व्यवस्था को अपना चुके थे। अधिक गहरा प्रभाव यात्रापथों कर पड़ने वाले क्षेत्रों और स्थलों पर पड़ा लगता है, पर लगता है यहाँ भी पूरा अभेद क़ायम नहीं हुआ था। यह रोचक बात है कि अस्थायी या अर्ध-स्थायी जीवन-पद्धति अपनाने वालों में अपनी भाषा और रीति-नीति को लेकर अधिक आग्रह पाया जाता है और उन पर वैदिक प्रभाव अपेक्षाकृत नगण्य रहा। इसकी एक मिसाल ब्राहुई जन हैं जो हज़ारों वर्षों से प्रति वर्ष जाड़े के दिनों में मैदानी क्षेत्र में उतरते चले आये हैं, पर इसके बावजूद उन की बोली आज तक अपनी अलग रंगत बनाये हुई है।

भाषा और संस्कृति के मामले में वैदिक प्रभाव न तो आमूल परिवर्तनकारी था, न ही इस क्षेत्र की बोलियों की सहायता से हम प्राचीन आर्य-भाषा को समझने में सहायता पा सकते हैं, यद्यपि अनेक वैदिक प्रयोग जो अन्यत्र लुप्त हो चुके हैं यहाँ की बोलियों में जीवित हो सकते हैं। संस्कृतीकरण का समूचा काम केवल वैदिक काल तक सीमित नहीं था। यह बाद में भी चलता रहा था।

यदि मेहरगढ़ को किसी बात का सूचक माना जा सकता है तो भारतीय मूलभूमि में छठी सहस्राब्दी में ही आर्थिक गतिविधियों ने एक विशिष्ट चरित्र ग्रहण कर लिया था और सुदूर व्यापार का आरम्भ हो चुका था। प्राग्वैदिक प्रभाव अपने निकटवर्ती क्षेत्रों में, क्षीण और अलक्ष्य रूप में ही सही, इसके आस-पास आरम्भ हो चुका रहा होगा। उर्वशी-पुरूरवा, वसिष्ठ और अगस्त्य आदि की कथाएँ वैदिक काल तक जैसी रंगत पा चुकी थीं उसे देखते हुए लगता है कि ये इस समाज में शताब्दियों, सम्भव है सहस्राब्दियों पहले से चली आ रही थीं।

आर्थिक दृष्टि से किरातों की स्थिति यक्षों और गन्धर्वों से हीन दिखायी देती है और अकसर इनकी तुलना शूद्रों से की गयी है, पर इसके बावजूद यात्रा-पथों पर एकाधिकार रखने वाले कतिपय सरदारों के पास अकूत धन संचित रहा हो सकता है और वे अपने समय के महाजनों से प्रतिस्पर्धा करते रहे हो सकते हैं। इनकी असाधारण सम्पन्नता का एक कारण यह रहा हो सकता है कि अपने क्षेत्रों से व्यापारिक सार्थों को निरापद पहुँचाने का भी ये ठेका लेते रहे होंगे और सुदास की परेशानी का एक प्रधान कारण यह रहा हो सकता है कि सम्भव है, अपनी सफलता के दौरान और विशाल सार्थों के भरोसे उसने इनकी सहायता लेने से और इनको इनका प्राप्य भाग देने से इन्कार किया हो।

5

अफ़ग़ानिस्तान

अपने वर्तमान रूप में अफ़ग़ानिस्तान आज से केवल दो सौ वर्ष पूर्व अहमद शाह के द्वारा एक अखण्ड राजनीतिक इकाई के रूप में गठित हुआ, यद्यपि इसकी भी पूर्वी पट्टी अंग्रेज़ों ने अफ़ग़ान युद्धों के दौरान हड़प कर अपने साम्राज्य में शामिल कर ली थी जो आज पाकिस्तान का पश्मोत्तर सीमाप्रान्त है। इससे पहले अफ़ग़ानिस्तान अनेक छोटे-छोटे राज्यों में बँटा था जिनमें से कुछ ने जब-तब शक्तिशाली रूप लेने के बाद इस देश की वर्तमान सीमाओं से भी बहुत आगे बढ़कर विशाल साम्राज्यों की स्थापना की थी। अतः इसकी वर्तमाम भौगोलिक सीमाओं के अनुसार न तो हम प्राचीन भौगोलिक क्षेत्रों का कोई संकेत पा सकते हैं, न ही इसकी वर्तमान नृजातीय और भाषाई संरचना ही, जो इस दौरान आये

अनेकानेक विजातीय तत्वों—मंगोल, तुर्क, ईरानी, अरबी, आदि—से प्रभावित हुई है, हमें इसके इतिहास को समझने में बहुत अधिक सहायता दे सकती है। इससे अधिक उपयुक्त होगा, हिन्दूकुश को एक विभाजन रेखा मानकर इसके उत्तरी और दक्षिणी भागों पर और इनके भी पूर्वी और पश्चिमी उपविभाग करते हुए चर्चा करना, पर यहाँ भी हमें अफ़ग़ानिस्तान की वर्तमान सीमाओं में कुछ फेर-बदल करना ज़रूरी हो सकता है और इसके बावजूद इसके भीतर भी अनेक उपविभाग करने या एक ही क्षेत्र की शिनाख्त एकाधिक रूपों में करने के लिए तैयार रहना होगा।

उदाहरण के लिए, इसके दक्षिणी-पूर्वी भाग में वर्तमान काफिरिस्तान से लेकर भारत पाक के चितराल, यासीन, पन्याल, गिलगिट घाटी, हुंजा, नागर, अस्तर घाटी, भूजी से लेकर बटेरा तक की सिन्धु घाटी, पंजकौरा नदी की ऊपरी घाटी, स्वात घाटी या कोहिस्तान को शामिल किया जा सकता है, जिसमें दर्द बोलियाँ बोली जाती हैं। इसी तरह उत्तरी अफ़ग़ानिस्तान का बदख्शाँ(प्राचीन द्वयक्ष) पर विचार करते समय इसे मध्येशिया के साथ रखना अधिक सुविधाजन का हो सकता है।

अफ़ग़ानिस्तान का एक पुराना नाम आर्याना रहा है।[35] वैदिक स्वर्गों की चर्चा करते हुए हम यह देख आये हैं कि ये ऐसे विदेशी केन्द्र थे जिनमें सम्भवतः भारतीय व्यापारियों का प्राधान्य था। इनके कारण वैदिक काल में भी यह देव-लोक बन गया था और इसकी यात्रा पर निकलने वाली समितियों या सार्थों के लिए देवयान का प्रयोग होता रहा लगता है।[35क] हिन्दूकुश क्षेत्र में आज भी इसकी याद बनी रह गयी है। देव-यक्ष-गन्धर्व-सेवित स्वर्ग की विलासिताओं में लिप्त इन्द्र और उनके कोशाध्यक्ष कुबेर (खैबर) को पहचानना कठिन नहीं है। अफ़ग़ानिस्तान के एक प्रदेश का नाम नूरिस्तान है। ऐसा लगता है यह वैदिकों का गन्धर्वलोक और सूर्यलोक है और इसी को पौराणिक विवरणों में उत्तरज्योतिष (महा. 2.29.10) कहा जाता था। नूरिस्तान इसी का अनुवाद प्रतीत होता है। इस उत्तरज्योतिष के सादृश्य पर दिये गये नाम प्राग्ज्योतिष ने किरातों आदि की स्थिति ही उलट दी।

सम्भव है, पश्चिमी परम्परा में भी स्वर्ग की रूपरेखा तैयार करने में अफ़ग़ानिस्तान का हाथ रहा हो और चार शाखाओं में बँटकर चारों दिशाओं में बहने वाली स्वर्ग की नदी का सम्बन्ध यहाँ की नदियों—कोकचा, काबुल, हेलमन्द ओर हारीरुद—से और स्वर्ग के उद्यान का इन्द्र कुन से हो। ईश्वर द्वारा स्वर्ग में प्रवेश करने से मनुष्यों को विरत करने के लिए स्वर्ग के उद्यान ईदन के पूर्व की ओर एक लहकती हुई तलवार खड़ी करने में अफ़ग़ानिस्तान के पूर्वी छोर पर उत्तर दक्षिण की पर्वतमाला—सुलेमान व किरथार—का हाथ हो सकता है।

वैदिक विवरणों की रूपात्मकता और अमूर्तता के कारण अफ़ग़ानिस्तान के स्थानों की एक क्षीण झलक ही इनमें पायी जा सकती है। दाशराज्ञ युद्ध पर विचार करने वाले अधिकारी विद्वान यह मानते रहे हैं कि इसके पाँच अनार्य जन अफ़ग़ानिस्तान के रहे हो सकते हैं। हम यह सुझाव रख आये हैं कि इनका सम्बन्ध सिबि-बोलन-पिशी मार्ग के निकटस्थ बलूची क़बीलों से हो सकता है। काबुल और कुर्रम ऋग्वैदिक कुभा और क्रुमु हैं[36], इस विषय में सभी विद्वान एकमत हैं। ऋग्वेद में भारत के बाहर के उपद्रवी क़बीलों को शम्बर, वृत्र आदि के रूपकों में पेश किया गया है, अतः उनकी विशिष्ट पहचान कठिन है; पर गन्धर्वों के उल्लेख बहुत स्पष्ट हैं और चूँकि ऋग्वेद में किरातों, किन्नरों, आदि के पृथक उल्लेख नहीं हैं इसलिए ऐसा लगता है कि गन्धर्व शब्द का प्रयोग सीमावर्ती पहाड़ी क्षेत्रों के निवासियों के लिए सामान्य रूप से किया गया है।[37]

शतपथ ब्राह्मण में गन्धर्वों को यवमत्, उद्दालवत् और अन्तर्वान्[38], अर्थात् कृषि, पशुधन और खनिज सम्पदा के मामले में सम्पन्न[39] कहा गया है। इससे प्रकट होता है कि नदियों और पहाड़ों की घाटियों में जहाँ भूमि खेती के उपयुक्त थी, वे अच्छी खेती भी कर लेते थे। इतना ही नहीं, चूँकि इन क्षेत्रों में भी खेती-बारी करना काफ़ी सावधानी और कौशल के बल पर ही सम्भव था, अतः इस मामले में उनके कुछ अनुभव दूसरों के लिए भी मूल्यवान थे। उक्त विशेषणों का जहाँ प्रयोग हुआ है वहीं यह उल्लेख आया है कि आरम्भ में यज्ञ-सम्पादन में देवों से जब कुछ भूलें हुईं तो इनकी ओर उनका ध्यान गन्धर्वों ने दिलाया। यह वस्तुतः कृषि-यज्ञ से ही सम्बन्धित लगता है।

इसी तरह पुराणों में मिलने वाला एक विवरण, जो भी अति प्राचीनकाल से ही सम्बन्ध रखता है, बहुत उपयोगी है। इसके अनुसार पृथु वैन्य ने मेरु को बछड़ा बनाकर धरती का उस समय दोहन किया जब सारी औषधियाँ नष्ट हो गयी थीं और इस तरह कृषि-धान्यों के बीज प्राप्त किये।[40] कुछ अध्येता यह मानते हैं कि कृषि का आविर्भाव अफ़ग़ानिस्तान में ही हुआ, जहाँ से इसका पूर्व और पश्चिम में प्रसार हुआ। ऐसी स्थिति में इस कथा का क्या अर्थ लेना ठीक होगा, यह तय करना मुश्किल है। इसे कृषि की आदिम प्रेरणा माना जा सकता है; अकाल की किसी लम्बी विभीषिका के बाद अफ़ग़ानिस्तान से कृषि-बीजों का संग्रह करने का प्रयत्न भी कहा जा सकता है और कृषि के आदिम चरण में अफ़ग़ानिस्तान में उपजने वाले वन्य धान्यों को पहली बार प्राप्त करके वैदिकों के पूर्वजों द्वारा कृषि की दिशा में नव-प्रवर्तन भी कहा जा सकता है। परन्तु दो बातें बिलकुल स्पष्ट हैं : इनमें से एक यह कि इस कथा का सम्बन्ध अफ़ग़ानिस्तान से ही है और दूसरे पृथु वैन्य उस क्षेत्र के निवासी नहीं थे, अन्यथा अपने निवास-क्षेत्र में ही उगने वाले बीजों के लिए न तो यह कहा जाता कि धरती ने सभी धान्यों को छिपा लिया था, न ही मेरु को बछड़ा

बनाकर इसे दूहने की चर्चा आती। धरती से प्रार्थना करके इसे प्राप्त करना ही पर्याप्त था, यद्यपि धान्यों के वहीं उपलब्ध होने की स्थिति में प्रार्थना की भी बात अर्थ नहीं रखती। एक तीसरी बात भी स्वत: स्पष्ट है और वह यह कि पृथु वैन्य की कथा हड़प्पा या वैदिक काल से हज़ारों वर्ष पहले की बात है; कारण, प्राचीनतम वैदिक साहित्य से और हड़प्पा-पूर्व के चरण से भारत में उन्नत कृषि के प्रमाण पाये जाते हैं।

दूसरे शब्दों में कहें तो उक्त विवरण को इस बात का प्रमाण माना जा सकता है कि अफ़ग़ानिस्तान और भारत के बीच कृषि के आरम्भिक चरण से ही सम्पर्क बना हुआ था, परन्तु यह सम्पर्क इससे भी काफ़ी पीछे जाता है और ऐसा प्रतीत होता है कि पशुचारण काल में भी ये दोनों क्षेत्र एक-दूसरे से सम्पर्क बनाये हुए थे। उदाहरण के लिए, जैसा कि हम पीछे देख आये हैं, वैदिक जनों को भेड़ सम्भवत: उत्तर से या गन्धार से ही प्राप्त हुई थी[41], यद्यपि यही बात बकरी के विषय में सच नहीं है।[42] ठीक इसी तरह घोड़े की उम्दा नस्ल का परिचय उन्होंने गन्धर्वों के माध्यम से ही पाया था, यद्यपि जैसा कि उपलब्ध विवरणों से ध्वनित होता है, सवारी के लिए घोड़े का प्रयोग सबसे पहले वैदिकों के पूर्वजों द्वारा किया गया था।[43]

परन्तु वैदिक काल से या कहें, परिपक्व हड़प्पा काल से पहले तक सम्बन्धों की प्रकृति कुछ ऐसी थी जिसमें पारस्परिक सम्पर्क के बावजूद इसमें गहनता नहीं आ पायी थी। यह माना जा सकता है कि अपनी सर्दियाँ बिताने के लिए मैदानी क्षेत्र में उतरने वाले अफ़ग़ानी विभिन्न रूपों में मैदानी जनों से प्रभावित होते रहे होंगे। वे कुछ दूर तक दुभाषी भी बन चुके रहे होंगे। पर ब्राहुई के उदाहरण से हम देख आये हैं कि अपने सामाजिक-आर्थिक ढाँचे को बनाये रखने की चिन्ता यायावर क़बीलों में कितनी प्रबल रही हैं। अत: हड़प्पा काल में खनिज धातुओं और पत्थरों तथा अन्य दुर्लभ वस्तुओं की खोज और इन पर एकाधिकार के क्रम में जो तीखी घुसपैठ भारत की ओर से हुई और इसके कारण जो अड्डे और बस्तियाँ बसनी शुरू हुई उन्हें ही यहाँ के भाषिक और सांस्कृतिक रूपान्तरण के लिए जिम्मेदार माना जा सकता है।[44]

सामाजिक रूपान्तरण में सबसे महत्वपूर्ण परिवर्तन, कम-से-कम स्थायी बस्तियाँ बसा कर रहने वालों के मामले में, समाज व्यवस्था का क्रमश: पितृप्रधान होते जाना है, पर यह प्रक्रिया न तो वैदिक काल में आरम्भ हुई, न ही पूरी हो गयी। देवशास्त्र के मामले में भी यहाँ के विभिन्न क़बीलों ने वैदिक मान्यताओं को अपने पूर्वप्रचलित विश्वासों में आत्मसात् किया; समग्रत: और समभाव से ग्रहण नहीं किया।

अफ़ग़ानिस्तान के हिन्दूकुश क्षेत्र में बसने वाले काफिरों में प्रचलित रीतियों और विश्वासों को यद्यपि वैदिक रीतियों और विश्वासों से अभिन्न नहीं माना जा

सकता, पर इसके बावजूद यह स्पष्ट है कि यहाँ के क़बीलाई जनों ने वैदिक प्रभाव काफ़ी दूर तक आत्मसात् किया है। वामा जन ईश्वर को इन्द्र कहते हैं और, "एक वामा गाँव ऐसा है जिसका नाम ही इन्द्र कुन है, जिसका शाब्दिक अर्थ है इन्द्र का उद्यान। इन्द्र को सोमरस से प्रेम था और उनके उद्यान में पत्थर का एक बड़ा पात्र बना है जिसमें अंगूर का रस निकाला जाता था।"[45]

इसके अतिरिक्त "काफिर अपने देवताओं के लिए सुरा तैयार करते हैं और उनकी प्रशंसा में स्तुति-गान करते हैं। गाने के साथ जो वाद्य बजाते हैं उसे वाज (वीणा), सारनी (सारंगी) और ओर्बा कहा जाता है। पशशी (पशुपति ?) देवता के साथ एक विशेष गायन का सम्बन्ध है जिसे पशशी नट कहा जाता है। यह सदा नाच के साथ गाया जाता है।"[45क] काफिर अपने देवताओं और पितरों की मूर्तियाँ बनाते हैं। वे इन मूर्तियों को मन्दिरों में स्थापित करते हैं, इनके पर्व मनाते हैं और इनके प्रति गहरा आदरभाव प्रकट करते हैं। इस तरह की बहुत-सी मूर्तियाँ प्रत्येक गाँव में पायी जाती हैं और प्रत्येक गाँव की मूर्तियाँ अपने खास ढंग की होती हैं। अनीसी अपने देवता को इम्र कहते हैं, जो इन्द्र का अपभ्रंश है, और इन्होंने इसकी एक प्रतिमा बना रखी है जो घड़े जैसी है। ये प्रति वर्ष उसे बलि चढ़ाते हैं। मूर्ति के चारों ओर 2000 गायें और बकरियाँ जुटायी जाती हैं और उनका वध करने से पहले उन पर पानी का छिड़काव किया जाता है।[45ख]

यह इन्द्र का मेघ-विदारक, जल-वर्षक या असुर-संहारक रूप नहीं है, अपितु यक्षों, किन्नरों, गन्धर्वों से घिरे, विलासिता में रत, स्वर्ग का सुख लूटने वाले इन्द्र का वह रूप है जो इन क्षेत्रों के व्यापारिक अड्डों पर एकाधिकार जमा कर बैठने वाले प्रधान श्रेष्ठियों की अनुकृति पर गढ़ा गया है और जिसका आभास ऋग्वेद के दसवें मण्डल के इन्द्राणी सूक्त में मिलने लगता है और जिसके कारण ही इन्द्र का इसके बाद अधःपतन होता है और यह सर्वोपरि देवता न रहकर एक सीमित लोक में, जो अपने चित्रित रूप में एक नगर से अधिक बड़े क्षेत्र का दावेदार नहीं सिद्ध होता, विलास करने वाले देवता बनकर रह जाते हैं। उपेन्द्र या इन्द्र से गौण स्तर का देवता विष्णु रक्षा, जन-कल्याण और असुरों या आततायियों के संहार का वह भार ग्रहण कर लेता है जिसके लिए वैदिक काल में इन्द्र को स्मरण किया जाता था।

अफ़ग़ानिस्तान का प्राचीन नाम आर्याना ही नहीं, इसके अनेक भौगोलिक नामों—अर्-ग़न्दाब, अर्-ग़-स्तान, अर्-कोशिया के साथ अर्-पूर्वपद भी इस क्षेत्र के आर्यीकरण की कहानी कहता है और इस बात का संकेत करता है कि इसका आर्याना नाम इस पूरे देश को आर्यों द्वारा आबाद किये जाने के कारण नहीं पड़ा था, अपितु आर्यों या व्यापारियों की बस्तियों का नाम ही अपने अतिव्यापी रूप में एक विशाल क्षेत्र के लिए प्रयोग में आने लगा, यद्यपि आज यह सुनिश्चित करना

कठिन है कि आर्याना क्षेत्र की व्यापकता या सीमा ठीक-ठीक क्या थी। इस क्षेत्र के सैकड़ों छोटे-बड़े स्थान-नामों के संस्कृत-पूर्व रूपों को भी याद किया जा सकता है, यथा, दरवाज (द्वारका), गोनरिद (गोमनुष्य), मुर्ग़ाब (कपोतक), कुनार (क्रौंच), काला खम्ब (कूट कम्ब), कबादियान(कृष्णपाद), मेद्य मिजकूट (मध्यमाचल कूट), सरेख्स (सुरेचक), सरवन (श्रवण), केतुमाल (बैक्ट्रिया), हरौती (हिरण्यवती), कुश्क (कुशद्वीप), कोक़का (कोकनद), रामगुल, मण्डल, तरनक, रंगी, हेरात (हरिवर्ष), आदि।[46] अफ़ग़ानिस्तान में आर्यीकरण का यह क्रम इतना सफल तो रहा ही कि ईस्वी सन् के पहले से ही हिन्दूकुश से इस ओर के भाग को लगभग भारत का ही हिस्सा माना जाने लगा था जिसकी छाया हिन्दकोह या हिन्दूकुश के नाम में भी बनी हुई है।[47] अधिकांश नामों का आज फ़ारसीकरण हो चुका है और इनके पूर्ववर्ती नामों को पहचानना कठिन है।

पुराणों और महाकाव्यों के अनुसार विश्वावसु गन्धर्वों के एक पड़ोसी हाहा हूहू कहे जाते थे। हा-हा हू-हू का अर्थ हुआ गूँ-गा अर्थात् अस्पष्ट भाषा बोलने वाले। ऋग्वेद में जिन लोगों को अनास—बिना मुँह के या मुखहीन, अवाच—बेज़बान, मृध्रवाच—भ्रष्ट या अस्पष्ट उच्चारण करने वाले, वध्रिवाच—तोड़-मरोड़कर उच्चारण करने वाले; ग्रथी—उलझी या अस्पष्ट ज़बान बोलने वाले, तथा बाद के कालों में जिन्हें म्लेक्ष या दूषित भाषा बोलने वाले लोगों के रूप में याद किया जाता रहा है उनका सम्बन्ध इसी दिशा के और मुख्यतः इसी क्षेत्र के लोगों से था। ब्राह्मणों में जिन लोगों को भाषा को दूषित करने या र का ल के रूप में और सम्भवतः इसी तरह अन्य वर्णों का कुछ भिन्न उच्चारण करने का दोषी और इसीलिए पराजित माना जाता रहा है वे इस क्षेत्र के ही लोग प्रतीत होते हैं, पर इस मामले में यह भी स्पष्ट है कि उक्त टिप्पणी आर्यीकरण की प्रक्रिया के बहुत आगे बढ़ जाने के बाद की और आर्य भाषा के उच्चारण में होने वाले दोषों को ले कर है, न कि उनकी अपनी भाषा के विषय में। परवर्ती काल में भी इस क्षेत्र की भाषा को कम-से-कम दरद और काफिर बोलियों को—पैशाची भाषा कहा जाता रहा है जो ब्राह्मणों की आसुरी भाषा का ही नया पर्याय है और असुर, पिशाच, भूत-प्रेत को बाद में एक-दूसरे का पर्याय मान लेने के कारण इसको भूत भाषा भी कहा जाता रहा।

पैशाची की सबसे अधिक निकटता शौरसेनी से है जो सारस्वत क्षेत्र की भाषा थी। इसी तरह अन्य प्राकृतों की तुलना में यह संस्कृत से अधिक निकटता रखती है और यहाँ भी निकटता वैदिक संस्कृत से मानी जाती है। अनेक वैदिक प्रयोग जो अन्य बोलियों से लुप्त हो गये हैं वे दरद बोलियों में पाये जाते हैं।[48] विष्णु आदि की तुलना में इन्द्र के ही महत्व, वैदिक मन्त्र-पाठ की तरह ही गायन के प्राधान्य आदि से भी यह प्रकट होता है कि इस क्षेत्र पर मुख्य प्रभाव वैदिक काल में ही पड़ा

सिन्धु क्षेत्र से आमू दरिया तक

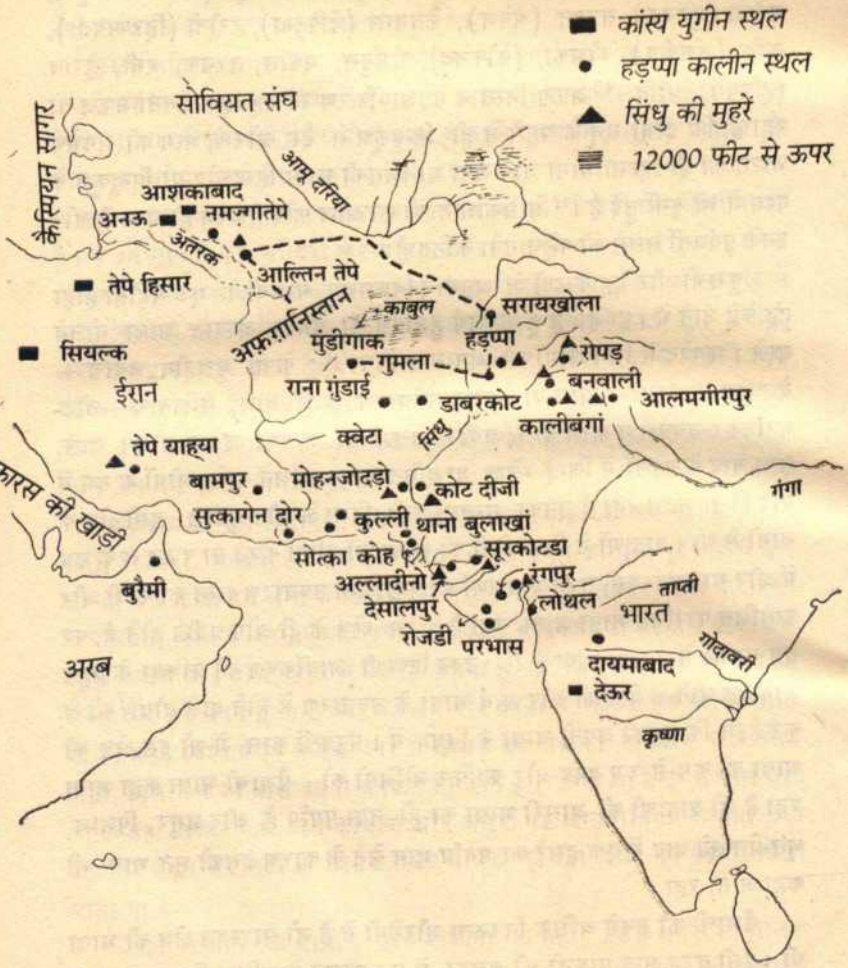

और इसका आरम्भ सारस्वत काल में हो गया था जो बाद में भी जारी रहा। पौराणिक कालों के सबसे महत्वपूर्ण और अपने अप-प्रचारों के लिए बदनाम ऋषि नारद जिनके साथ काफ़िरों की वीणा का अभिन्न सम्बन्ध है, वस्तुतः व्यक्ति न हो कर यायावर क़बीले —नारद अर्थात् डोलता रहने वाला—की संज्ञा प्रतीत होते हैं। और इन क़बीलों का सम्बन्ध भी इस क्षेत्र से लगता है। गन्धर्वों, यक्षों की तरह नारदों को क़बीलों के रूप में याद किया गया है और नारद की स्वर्ग से लेकर धरती तक की गति मैदानी क्षेत्र से अफ़ग़ानी व बलूची तथा इनसे भी परे के केन्द्रों तक इनके आते-जाते रहने का प्रतीक है और इनका पूर्णतः आर्यीकरण आर्य-प्रभाव के भारतेतर क्षेत्रों में ग्रहन प्रचार और प्रसार का द्योतक।

6
मध्येशिया

सोवियत संघ के ताजिकिस्तान, किर्गीज़िस्तान, उज़्बेकिस्तान, तुर्कमीनिस्तान के साथ ही यदि अफ़ग़ानिस्तान के बदख़शाँ और तुर्किस्तान को रखकर विचार करें तो पायेंगे कि इनके बीच परस्पर उससे अधिक निकटता बनी रही है जितनी उत्तरी और दक्षिणी अफ़ग़ानिस्तान के बीच। आर्य समस्या के अध्ययन में इस क्षेत्र का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है; कारण, भारतीय और ईरानी शाखा के अलगाव के बीज अधिकांशतः इसी क्षेत्र में पले थे। मैक्समूलर ने इसी क्षेत्र में मूल भारोपीयजनों को बसा माना था, जहाँ से अपने छोटे भाइयों को पश्चिम-उत्तर की ओर विदा करने के बाद बड़े भाई ने दक्षिण की राह पकड़ी थी और भारत में उतर आये थे।[94] इसी क्षेत्र में तुल्स, चू और इली तथा चार अन्य छोटी धाराओं का प्रवाह-क्षेत्र है, जिनके लिए तुर्की और मंगोल भाषाओं के अनुकरण पर रूसी में 'सेमी रेच्ये' नाम प्रचलित है, अतः यह प्रस्ताव भी रखा गया हैं कि सप्तनद या सप्तसिन्धु शब्द इन्हीं के लिए प्रयोग होता रहा होगा[50]; कारण, सेमी रेच्ये का शाब्दिक अर्थ यही है। इसी के खोकन्द बदख़शाँ में पहले-पहले आर्य बस्तियाँ बसी मानी गयी थीं पर फिर जिन्हें हित्ती अभिलेखों के साथ तालमेल बैठाने के लिए उजाड़ दिया गया था।[51] कुछ अध्येताओं को ऐसा भी लगता रहा है कि भारत की ओर बढ़ने वाले आर्यों की द्रविड़ों से इसी क्षेत्र में पहली टक्कर हुई थी, जिन्हें उन्होंने पराजित करके तितर-बितर कर दिया था[52] और इसके बाद वे भारत पहुँचकर उन्हें दुबारा परास्त करने में सफल हुए थे। नमज्गा, हिसार, आल्तिन देपे, तेजेन डेल्टा, काइ-जिल कुम, शोर्तुगाई आदि स्थलों का हड़प्पा सभ्यता से प्रकट सम्बन्ध दिखायी देता है, जो कतिपय मामलों में परिपक्व हड़प्पा काल से भी पहले आरम्भ हो जाता

है[53] और जिसको ध्यान में रखते हुए अध्येताओं को प्राय: यह मानने का प्रलोभन होता रहा है कि हड़प्पा सभ्यता को प्रेरित या निर्मित करने में इस क्षेत्र का हाथ रहा हो सकता है।[54] इसी क्षेत्र के पश्चिमी भाग के लिए मीदिया शब्द का प्रयोग होता रहा है, जहाँ ग्रियर्सन के अनुसार आर्यों ने 2,500 ई. पू. में ही प्रवेश कर लिया था और कुछ लोगों का विचार रहा है कि वे इस क्षेत्र में भारत से ही पहुँचे थे,[55] गो इसे लेकर मतभेद बना रहा है।

ग्रियर्सन के ही शब्दों में, "जो लोग अन्य बातों में मतभेद रखते हैं वे भी यह मानते हैं कि मन्द आर्य थे। अत: यहाँ हमें एक ठोस कालबद्ध तथ्य मिलता है कि फ़ारस के उत्तर और पश्चिमोत्तर में ई. पू. 2,500 में आर्य अपना दबदबा बनाये हुए थे। मूलत: वे जहाँ कहीं से भी आये रहे हों, हमें इस बात का संकेत नहीं मिलता कि वे दक्षिण या दक्षिण-पूर्व से, या जैसा कि कुछ लेखक सोचते हैं, भारत से आये थे। हम उन्हें पहली बार मीदिया में और इसके आस-पास पाते हैं और यहाँ इनकी धाक थी और जैसा कि हम देख आये हैं, इन्होंने सुबर्तु को पराजित किया था। हमारे लिए तात्कालिक दिलचस्पी की बात यह है कि उनके देवता वे थे जिनके नाम बाद में हम भारत में पाते हैं और यह कि वे सतेम भाषी थे, जो प्राचीन संस्कृत से अधिक निकटता रखती है।"[56] दूसरे शब्दों में कहें, तो इस बात की हर सम्भावना दिखायी देती है कि मीदिया के आर्य-भाषा-भाषी इस क्षेत्र में भारत से गये रहे हो सकते हैं या कम-से-कम भारतीय व्यपारियों के निकट सम्पर्क में थे।

मीद या मन्द कहे जाने वाले जनों के विषय में टिप्पणी करते हुए विल डुरांट लिखते हैं, "मीद कौन थे? निश्चय ही इनका मूल उद्भव हमारी पकड़ में नहीं आता; इतिहास एक ऐसी पोथी है जिसे बीच से ही आरम्भ करना होता है। इसका प्रथम उल्लेख हमें कुर्दिस्तान की पहाड़ियों में परशुआ नामक स्थान में शालमानेज़ार तृतीय के अभियान को दर्ज करने वाले एक फलक (837 ई. पू.) पर मिलता है। इससे पता चलता है कि अहमदई, मदई या मीदी कहे जाने वाले लोगों द्वारा विरल रूप में आबाद इस क्षेत्र के सत्ताइस छोटे-छोटे राज्यों पर सत्ताइस सरदार राज्य करते थे।"[57]

मन्द या मीदिया पौराणिक काल का उत्तर मद्र रहा लगता है और सम्भवत: इसके दायरे में मन्दर से उत्तर पश्चिम का क्षेत्र आता था और जैसा कि हम कह आये हैं, इसके लिए मन्द, मद्र-मन्द्र आदि शब्द प्रचलित थे। ऋग्वेद में एक ऋचा में मान्दार्य शब्द प्रयोग में आया है[58], जिसके अर्थ के विषय में विद्वानों में कुछ अनिश्चितता पायी जाती है।[59]

महाभारत में आये विवरणों की असंगतियों को दूर कर लें तो इसके अनुसार मन्द्र की रक्षा इन्द्र और वैश्रवण या कुबेर करते हैं (आरण्य पर्व 160) और महामेरु ही

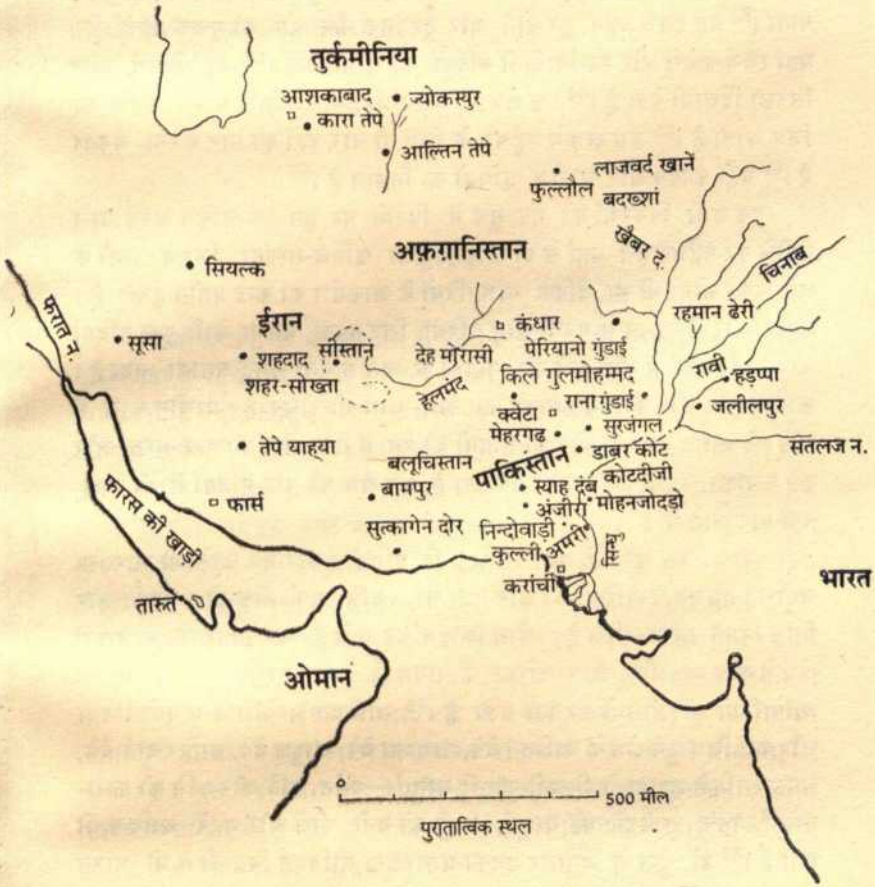
तुर्कमीनिया
आशकाबाद
ज्योकस्पुर
कारा तेपे
आल्तिन तेपे
लाजवर्द खानें
फुल्लौल
बदख्शां
खैबर द.
अफ़ग़ानिस्तान
सियल्क
चिनाब
फरात न.
ईरान
कंधार
रहमान ढेरी
सूसा
शहदाद
सीस्तान
देह मोरासी
पेरियानो गुंडाई
शहर-सोख्ता
हलमंद
किले गुलमोहम्मद
रावी
हड़प्पा
क्वेटा
राना गुंडाई
जलीलपुर
मेहरगढ़
सुरजंगल
तेपे याह्या
डाब्बर कोट
सतलज न.
बलूचिस्तान
पाकिस्तान
कोटदीजी
फारस की खाड़ी
फार्स
बामपुर
स्याह दंब
मोहनजोदड़ो
अंजीरा
सुत्कागेन दोर
निन्दोवाड़ी
कुल्ली
अमरी
सिन्धु
भारत
करांची
तास्त
ओमान
500 मील
पुरातात्विक स्थल

मन्दर क्षेत्र और मन्दराचल का उल्लेख एक ऐसे क्षेत्र के रूप में किया गया है जहाँ सूर्य की आभा क्षीण हो जाती है।[60] इसकी दिशा पश्चिम या पश्चिमोत्तर बतायी गयी है।[61] मन्दर को हिमवान का मूल बताया गया है और चूँकि इसका विवरण किसी प्राचीन श्रुत परम्परा के आधार पर दिया गया है न कि प्रत्यक्ष अनुभव पर, अतः इसकी दूरी और विस्तार के साथ कुछ अतिरंजना भी देखने में आती है, अर्थात् यदि हज़ारों वर्ष चलते रहें तो भी इसकी जड़ या शुरुआत का पता नहीं चल पाता।[62] यह इसके बहुत दूर होने और दूर तक फैले होने का सूचक तो है ही। यहाँ स्वर्ण-पर्वतों और स्वर्णवाहिनी नदियों का अस्तित्त्व है।[63] यहाँ से सूर्य बहुत तिरछा दिखायी देता है।[64] इस क्षेत्र में नित्य प्रवहमान नदियों से बने सागर का ज़िक्र आता है।[65] इस क्षेत्र में पहुँचने के लिए दो बार दर्रों को पार करना पड़ता है।[66] यही कश्यप और मारीच ऋषियों का निवास है।[67]

इन सभी विवरणों को एक सूत्र में पिरोने पर हम एक चकित करने वाले नतीजे पर पहुँचते हैं। यहाँ से प्राप्त होने वाली खनिज-सम्पदा, जिसमें रत्नों के अतिरिक्त सोना भी था, वैदिक व्यापारियों के आकर्षण का केन्द्र प्रतीत होती है। अराल और कैस्पियन सागर में आमू दरिया, सिर दरया, वोल्गा आदि कुछ नदियाँ आकर मिलती हैं और इन्हें इन नदियों के जल से बना समुद्र बताया गया है। कश्यप ऋषि और कैस्पियन सागर का नाम-साम्य भी रोचक है। प्राचीन काल में सोने की प्राप्ति का एक स्रोत था नदियों की रेत में से स्वर्णधूलि एकत्र करना और इसे गलाकर स्वर्णपिण्ड बनाना। लगता है, इस क्षेत्र की कुछ नदियों में भी स्वर्ण-कण पाये जाते थे।

पुरातात्विक खोजों से पता चलता है कि दसियों हज़ार वर्ष पहले भी भारतीय जनों का प्रव्रजन मध्येशिया की ओर हुआ था, यद्यपि इसकी ठीक-ठीक प्रकृति और तिथि नियत करना कठिन है। जैसा कि हम कह आये हैं, अफ़ग़ानिस्तान के उत्तरी क्षेत्र में कोकचा और आमू दरिया के संगम के पास शोर्तुगाई में हड़प्पा के व्यापारियों की बस्तियों का पता चला है।[68] सोवियत मध्येशिया में तुर्कमीनिया और काइज़िल कुम क्षेत्र के आल्तिन देपे, नामज्गा देपे, खाऽुज देपे, ताहिर बाई देपे, अनऊ आदि से हड़प्पा से मिलती-जुलती वस्तुएँ—बर्तन, ताँबे और काँसे की कला-वस्तुएँ, मनके हाथीदाँत की वस्तुएँ, मिट्टी की बनी चीजें और मुहरें आदि पायी गयी हैं।[69] डॉ. गुप्त के अनुसार इनका प्रसारकेन्द्र सोवियत विद्वानों ने भी भारत को माना है।[70]

सोवियत संघ के इस क्षेत्र से फ़ीरोज़े तथा अन्य वस्तुओं के आयात की और इसके लिए उक्त क्षेत्र में हड़प्पा के व्यापारियों की गतिविधियों की चर्चा हम पहले ही कर आये हैं। लगता है, हड़प्पा के ये व्यापारी अपने व्यापारिक रहस्य को बहुत छिपाकर रखते थे। ईरान के साथ उनके व्यापारिक सम्बन्ध थे और उन्हें वे अन्य

वस्तुओं के अलावा लाजवर्द(लापिस लाजुली) भी पहुँचाते थे पर ईरानियों को इस बात का पता नहीं चलने देते थे, कि इसका उद्गम क्या है और सम्भवत: इसकी उपलब्धि का स्रोत एज़रबैजान की माजंदरान, दिज़मार और किरमान की खानों को बताते थे[71], जब कि सम्भवत: इसे वे, या कहें एज़रबैजान में बसे उनके प्रतिनिधि, बदख़्शाँ से प्राप्त करते रहे होंगे।

इस क्षेत्र से सीधा सम्पर्क कायम करने के बाद निश्चय ही ये व्यापारी यहाँ से अच्छी नस्ल के घोड़े भी स्वयं लाते रहे होंगे।

7
ईरान

अग़फ़ानिस्तान के उत्तरी क्षेत्र से पहुँचने पर जितनी आसानी से सोवियत मध्येशिया से पहुँचा जा सकता है उतनी ही आसानी से उत्तरी ईरान में भी पहुँचा जा सकता है। ईरान पहुँचने का एक अन्य स्थल-मार्ग कन्धार से होकर या हेलमन्द को पकड़कर भी हो सकता है। पर इस क्षेत्र में पहली बार किस रास्ते पहुँचा गया हो सकता है, यह कहना कठिन है। सम्भव यह भी है कि सोवियत मध्येशिया के रास्ते मीदिया पहुँचने वाले जनों ने उस दिशा से ही ईरान में प्रवेश किया हो। कारण, सम्पर्क के मार्ग सम्पर्क-क्षेत्रों से होकर ही गुज़रते हैं और कभी-कभी भौगोलिक दृष्टि से छोटे रास्ते को छोड़कर एक लम्बा रास्ता अपना लिया जाता है।

ईरानी शाखा का भारतीय मूल भूमि से प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों रूपों में सम्पर्क रहा है, अर्थात् सीधे ईरान और भारत के बीच भी और अफ़ग़ानिस्तान व मध्येशिया में बसे व्यापारियों के माध्यम से भी। मीदिया से उनका सम्पर्क किंचित् तनावपूर्ण था और इसका कारण पारस्परिक प्रतिस्पर्धा से लेकर कुछ भी माना जा सकता है। अत: देवों और इन्द्र के प्रति ईरानी शाखा का रुख़, मुमकिन है, सीधे भारत के साथ इसके तनाव का परिणाम न होकर मीदिया के व्यापारियों के साथ तनाव के कारण पैदा हुआ हो।

मैक्समूलर का कहना है कि ईरानियों के पूर्वज ईरान पहुँचने से पहले भारत में बसे थे और यहाँ से ही वे ईरान ग थेये।[72] इसका एक कारण अवेस्ता में सप्त-सिन्धु शब्द का प्रयोग था जो मैक्समूलर की दृष्टि में सिन्धु और सरस्वती सहित पंजाब की पाँच नदियों—सतलज, झेलम, रावी, व्यास व चिनाब— का प्रदेश है।

पर इसका इससे भी अधिक सशक्त कारण एक और था और वह था अवेस्ता में कतिपय ऐसे शब्दों का पाया जाना जो संस्कृत में नहीं मिलते, पर ईरान से आगे की भारोपीय भाषाओं में पाये जाते हैं, जिनकी एक लघु सूची भी व्याख्या के साथ

मैक्समूलर ने दी थी।[73] ज़ाहिर है कि ये शब्द ईरानी क्षेत्र में बोली जाने वाली स्थानीय बोलियों से लिये गये हैं। यदि आर्यों का आगमन ईरान से भारत की ओर होता तो ये शब्द भी संस्कृत शब्द-सम्पदा में पाये जाते। इनका अन्य भारोपीय बोलियों में या, कहें, यूरोपीय भाषाओं में पाया जाना इस बात का सूचक है कि भारोपीय प्रभाव-विस्तार का केन्द्र भारत था और उपकेन्द्र ईरान या मीदिया।

मैक्समूलर आर्य भाषा और संस्कृति के प्रसार को बड़े पैमाने पर हुए जन-संचलन से जोड़ते रहे हैं और यही प्रवृत्ति आज तक देखने में आती है। पर, जैसा कि वस्तु-स्थिति का गहराई से अध्ययन करने पर पता चलता है, ईरानी जन भारत से जाकर ईरान में नहीं बसे थे, अपितु कुछ थोड़े-से लोग जो निश्चय ही व्यापारिक हितों के चलते वहाँ जा बसे थे, वैदिक प्रभाव के संवाहक बने।

अवेस्ता की भाषा पर विचार करते हुए जेम्स डारमेस्टेटर लिखते हैं, "न केवल यह भाषा फ़ारस की राष्ट्रीय भाषा नहीं थी, बल्कि पहले भी कभी नहीं रही थी। वास्तव में, जैसा कि हख़मनी राजाओं के कीलक लिपि में लिखे अभिलेखों से पता चलता है, यह प्राचीन फ़ारसी से निकट का सम्बन्ध रखती थी जिससे कि आधुनिक फ़ारसी निकली है; पर प्राचीन फ़ारसी और अवेस्ता की भाषा के सम्बन्ध कुछ ऐसे हैं कि इनमें से किसी को भी दूसरी से निकला हुआ नहीं सिद्ध किया जा सकता। ये दोनों विकास के दो चरणों पर पहुँची हुई एक ही भाषा नहीं हैं, बल्कि एक ही चरण की दो स्वतन्त्र भाषाएँ हैं जो इस बात का प्रमाण है कि ये दोनों एक ही देश की भाषाएँ नहीं थीं और, इसलिए, जेंद फ़ारस की भाषा नहीं थी।[74] वह आगे अपने मत को कुछ और स्पष्ट करते हुए लिखते हैं, "यद्यपि जेंद केवल मृत भाषा ही नहीं थी बल्कि विदेशी भाषा भी थी, फिर भी यह अज्ञात भाषा नहीं थी। पहलवी में इसके अनुवाद से ही यह प्रकट होता है कि यह सुशिक्षित वर्ग द्वारा, पुरोहितों द्वारा, जिन्होंने यह अनुवाद किया, अच्छी तरह समझी जाती थी।"[75]

अवेस्ता के अनुसार ईरान में प्रभुत्वशाली लोग, जिनके लिए आर्य शब्द का प्रयोग किया जा सकता है, सामान्य जनता से अलग थे और कुछ गिने-चुने परिवारों तक सीमित थे, जिनके लिए बान्धवा (बान्दवा) शब्द का प्रयोग हुआ है। इनके भीतर से ही आरम्भ में शासकों का चुनाव होता था। इनमें से अनेक परिवारों का और उनमें उत्पन्न प्रधान व्यक्तियों का नाम वंशावली में दिया गया है।[77]

जरदुस्त्र स्वयं ईरान में कहीं बाहर से पहुँचे थे, जो मीदिया प्रतीत होता है। उनके आने पर कवि विस्तास्प ने उन्हें शरण दी थी। फ़शोश्त्र और जामास्प उनके स्वजन हैं—फ़शोश्त्र उनके श्वसुर और उनकी पत्नी हंगवी के पिता। जामास्प और जामास्प अपरजात, वाश्र्न के पोते और हंहर्व के पुत्र हैं। फ़शोश्त्र के दो पुत्रों दुश्योघ्न और ह्वादेन का भी उल्लेख आता है।[78]

अपने जिन रिश्तेदारों के पास जरदुस्त्र भाग कर गये थे, वे व्यापार के सिलसिले

में यहाँ आकर बसे हुए थे। जरदुस्त्र का मीदिया से भागकर आना इस बात का सूचक है कि वैचारिक या धार्मिक मुद्दे को लेकर विवाद या मतभेद मीदिया में ही हुआ हो सकता है। हर्ज़फ़ील्ड लिखते हैं कि उन्होंने अवेस्ता में अनेक ऐसे शब्द ढूँढ़े हैं जिनका सादृश्य यूनानी और जर्मन कानूनों से दिखायी देता है। पुराने रोमन कानून में भी वह इसकी झलक पाते हैं। इसके अनुसार सभी प्रकार के विदेशियों की वैध स्थिति का निश्चय हॉस्पितिएम करता था। चाहे वे राजदूत हों या व्यापारी; निर्वासित हों या शरणार्थी, इन सभी को अतिथि माना जाता था और देश के भीतर उनका पर्यटन हॉस्पितिएम के माध्यम से होता था। उसके साथ एक स्थानीय व्यक्ति 'सिविल'—ई. ह्वजंतुश् या स्वजन—का होना जरूरी था जो उस क्षेत्र के भीतर उसके व्यापारिक और कानूनी हितों की देख-रेख करता था और साथ ही उसके दुभाषिए (ई. फ्राहेतवे भ्रूयात—हेतुवादी) का भी काम करता था, क्योंकि अतिथि स्थानीय भाषा की दृष्टि से बेज़बान (ई. वाचं न्रश असूर्ह्य) होता था।[78]

यदि इस संस्था की शुरुआत, जैसा कि जर्मन, यूनानी और ईरानी नियमों की समानता से पता चलता है, भारोपीय प्रभाव-विस्तार के आरम्भिक चरण में ही हो गयी थी तो यह एक बहुत रोचक तथ्य है। इसका सम्बन्ध निश्चय ही एक ऐसे व्यापारी वर्ग से है जो अपने व्यापारिक हितों के लिए देश-देशान्तर को जाया करता था और या तो उसी की बिरादरी के कुछ लोग उन क्षेत्रों में बस गये थे या उससे व्यापारिक सम्पर्क रखने वालों को उसकी भाषा का ज्ञान रखना होता था, जो स्थानीय स्तर पर उसके लिए मध्यस्थ का काम करते थे और साथ ही उसके जान-माल की हिफ़ाज़त भी करते थे और इसके अतिरिक्त इसके माध्यम से अपना माल बेचते और उसका माल ख़रीदते थे, जो क्लाएंट या ग्राहक शब्द से प्रकट होता है।

अब इसी के साथ यदि हम इस बात पर ध्यान दें कि अवेस्ता की भाषा ईरान की अपनी भाषा नहीं थी और निश्चय ही यह स्वयं जरदुस्त्र की और उनके रिश्ते में आने वाले परिवारों की भाषा थी और यह कि जरदुस्त्र ईरान में एक शरणार्थी की हैसियत में पहुँचे थे, तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि ईरान में बसे ये परिवार व्यापारियों के अपने परिवार थे जो वहाँ जाकर बस गये थे। वे वहाँ भारत से जाकर बसे थे या मीदिया से, इस बहस में जाने की यहाँ आवश्यकता नहीं है। हाँ, मीदिया ही वह क्षेत्र सिद्ध होता है जहाँ वैदिक ने अवेस्ता की मूल भाषा, या कहें, स्थानीय प्रभावों के कारण किंचिद् दूषित वैदिक भाषा, का रूप लिया था और इसमें आये वे तत्व जो आगे की यूरोपीय भाषाओं में बड़े पैमाने पर पहुँचे पर जो संस्कृत में ग़ायब हैं, मीदिया में ही ग्रहण किये गये लगते हैं। इस तरह की शब्दावली को ही एकाधिक यूरोपीय बोलियों में प्रयुक्त और भारतीय-ईरानी

शाखा में इसे लुप्त पाकर 'मूल भारोपीय जनों' के प्राकृतिक परिवेश का निर्धारण करते हुए भारत को सम्भावित क्षेत्र से बाहर रखा जाता रहा है।

पर ईरानी व्यापारियों का केवल मीदिया से और मीदिया के माध्यम से ही भारत से सम्पर्क रहा हो, ऐसी बात नहीं है। ईरानी व्यापारियों के सप्त-सिन्धु प्रदेश में आने और यहाँ की नदियों में समुद्र-पर्यन्त यात्रा करने के उल्लेख भी पाये जाते हैं जो इनके व्यापारिक गतिविधियों से जुड़े होने की पुष्टि तो करता ही है, साथ ही भारत से सीधे सम्पर्क को भी सूचित करता है।[79]

ईरान के साथ भारतीय सम्पर्क कितना पुराना हो सकता है और इन दोनों देशों ने एक-दूसरे को किन रूपों में और किन सीमाओं तक प्रभावित किया हो सकता है, यह ठीक-ठीक बता पाना कठिन है। पर इस बात की कुछ झलक मिलती है कि ईरान में एक साथ अनेक नये सांस्कृतिक तत्वों को लेकर एक छोटा-सा दल वहाँ कभी पहुँचा था और इसने वहाँ की जीवन-पद्धति को बहुत क्रान्तिकारी रूप में परिवर्तित किया था। ईरानी परम्परा के अनुसार आदि-पुरुष या अल-औवल यिम जमशीद दुनिया की सारी जानकारी लेकर वहाँ पहुँचता है। वही लोगों को हथियार बनाना, जीन बनाना, लगाम बनाना, औज़ार बनाना, सूती, ऊनी व रेशमी सूत कातना और वस्त्र बुनना, खान खोदकर पत्थर और खनिज पदार्थ निकालना, चाक और गारा बनाना, खेती करना, पानी निकालने के यन्त्र बनाना (हर्ज़फ़ील्ड ने इसके लिए वाटर व्हील अनुवाद किया है, पर रहट के लिए वह समय पर्याप्त विकसित नहीं माना जा सकता, अतः यह ऋग्वैदिक कूचक्र का अर्थ रखता प्रतीत होता है जिसे ढेकुल मानना अधिक उचित होगा), पुल बनाना, गन्ध-लेप बनाना, मछली पालना और मोती निकालना सिखाता है।[80] इस बात की कुछ सम्भावना है कि कुछ अन्य स्रोतों से उपलब्ध ज्ञान को भी यिम जमशीद के साथ जोड़ दिया गया हो, पर इस विषय में संदेह नहीं कि ईरान में एक विकसित संस्कृति का प्रवेश ठीक उसी तरह हुआ था जैसे दजला और फ़रात के क्षेत्र में और इसने स्थानीय समाज-व्यवस्था और अर्थव्यवस्था की काया पलट दी थी।

अब यदि हड़प्पा के पुरातात्विक अवशेषों पर दृष्टि डालें तो यह अधूरा चित्र कुछ भरा-पूरा नजर आयेगा। हड़प्पावासी चाँदी, टीन, सीसा, फ़िरोज़ा जैसे कुछ कीमती पत्थर आदि ईरान से प्राप्त करते थे।[81] चाँदी प्राप्त करने का तो एक मात्र स्रोत ईरान ही था। मैक्समूलर ने ठीक ही कहा है कि संस्कृत का रजत शब्द मूलतः ईरानी से संस्कृत में आया है।[82] यह ईरानी अर्जंतम् का संस्कृतीकरण है।[83]

ईराक के ठीक पड़ोस में बसे ईरान का वैदिक भाषा और संस्कृति से प्रभावित होना इस बात का सूचक है कि बेबीलोनिया, मेसोपोटामिया और सुमेरिया की सभ्यताओं से पहले ही वैदिक प्रभाव यहाँ जड़ें जमा चुका था। कारण, यह बात समझ में आने वाली नहीं है कि इन सभ्यताओं ने अपने विकास के दौर में अपनी

गतिविधियों को अपने क्षेत्र तक ही सीमित रखा और अपने पड़ोस के क्षेत्र में वे प्रभावहीन रही होंगी। ईरान के मामले में इनकी प्रभावहीनता से ऐसा लगता है कि यह क्षेत्र ईराकी प्रभाव में आने से पहले तक एक अन्य और अधिक सशक्त प्रभाव में आ चुका था। इसकी प्रतिस्पर्धा में वह यहाँ पर टिक नहीं पाया और यह प्रभाव, जैसा कि भाषा से प्रकट है, हड़प्पा-पूर्व का वैदिक प्रभाव ही था।

परन्तु यह प्रभाव परिपक्व हड़प्पा या ऋग्वेद के नये मण्डलों के काल में ही अधिक गहरा होता प्रतीत होता है। ऋग्वेद के नये मण्डलों में पहली बार युगों की धारणा अपने बीज रूप में दिखायी देती है[84], जिसका विकास आगे चलकर पुराणोंआदि में होता है।[85] ईरानी और यूनानी दोनों परम्पराओं में चार युगों की यह धारणा विद्यमान है। जहाँ पुराणों के समय तक आकर सौर वर्ष दिव्य वर्ष में बदल जाता है, हज़ारों को लाखों में बदल दिया जाता है और विभिन्न युगों का तुलनात्मक काल भी बदल जाता है, वहाँ मूल कल्पना अधिक सरल और समरूप विभाजित कालों की थी। रोचक बात यह है कि चारों कालों का, कहें चारों युगों का कुल योग 12000 वर्षों का ही है, भले ही भारत में इसे बाद में दिव्यवर्ष बना दिया गया और ईरान और यूनान में इनके लिए मात्र वर्ष का उल्लेख जारी रहा। भारत में यह क्रम 4800, 3600, 2400 और 1200 वर्ष का है और अवेस्ता में 3000 वर्षों के चार युगों का। प्रभाव की सघनता युग की अवधारणा के विकास के बाद की और परवर्ती कालों में इसके लिए नये युगमान नियत होने से पहले की है।

8

बाल्टिक क्षेत्र

काला सागर से ऊपर और बाल्टिक सागर से दक्षिण के यूरोपीय क्षेत्र को जिसमें उक्रेन, मोल्दाविया, लिथुआनिया और लाटविया आदि के क्षेत्र आते हैं, कुछ अध्येताओं द्वारा भारोपीय जनों का मूल निवास माना जाता रहा है और अन्य सम्भावित क्षेत्रों की तुलना में इस क्षेत्र को बीसवीं शताब्दी के दौरान अधिक वांछित क्षेत्र माना जाता रहा। लिथुआनियन का वैदिक संस्कृत से बहुत गहरा साम्य दिखायी देता है। इसके विपरीत पिछले दो-तीन दशकों में काला सागर में गिरने वाली नदियों, नीपर और नीस्टर, की उपत्यकाओं में एक अति प्राचीन संस्कृति की पुरातात्विक खोजों ने इस धारणा को बहुत बल दिया कि 'भारत की ओर आने वाले आर्य' मूलतः इसी क्षेत्र के निवासी थे। नीपर और नीस्टर की उपत्यकाओं में बसे सामान्य जन न तो आद्य, भारोपीय संस्कृति के सर्जक थे, न ही

इसके संवाहक, इस पर हम पीछे विचार कर आये हैं। परन्तु कुर्गन क्षेत्र की किलाबन्द बस्तियों के निवासियों का सम्बन्ध भारोपीय भाषा और संस्कृति से प्रभावित लोगों से हो सकता है।

कुर्गन जनों की संघर्षपूर्ण जीवन-स्थिति के विपरीत इन किलाबन्द आवासों में रहने वाले अविश्वसनीय रूप से मालामाल दिखायी देते हैं और इनकी कब्रों से मिली निधियाँ आँखों में चकाचौंध पैदा कर देती हैं। इनका प्रसार अपेक्षाकृत व्यापक क्षेत्र में था, "उत्तरी-पश्चिमी काकेशस के माजकॉप की समाधियाँ और उत्तरी मध्य-अनातोलिया (तुर्की) के अलावा हुयूक और होरोज़तेपे की समाधियाँ जो ठेठ कुर्गन समाधियों की तरह बनी हैं, कुर्गन शासकों की समाधियाँ रही हो सकती हैं। आम तौर पर इन्हें ट्राय द्वितीय और आरम्भिक मेसोपोटामियाई राजवंश तृतीय के समकक्ष रखा जाता है। इन अविश्वसनीय समाधि कोशों से शक्ति और सम्पदा के संग्रह की विलक्षण योग्यता का पता चलता है। इससे यह पता चलता है कि भारोपीय राजा ऐसे लोगों के बीच जो उनसे भिन्न ज़बान बोलते थे और भिन्न सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के थे (मध्य अनातोलिया में हित्ती लोगों की तरह), बहुत दक्ष शासक थे।"[86]

इन्हें हम स्थानीय जनों से बिलकुल भिन्न जीवन-पद्धति अपनाये हुए भी पाते हैं। स्थानीय जन भूमिगत मकानों में रहते थे, जबकि ये इसके ठीक विपरीत ऊँचे स्थानों पर खुले मकान बनाकर रहते थे। इनकी अकूत सम्पदा भी स्थानीय साधनों को देखते हुए सामान्य उगाही के स्थान पर वाणिज्यिक प्रचालनों से अर्जित प्रतीत होती है। घोड़ा इनके लिए मुख्यतः मांसाहार का साधन न होकर, यातायात का साधन था। यदि ये लोग ही भारोपीय संस्कृति के वाहक थे तो इनकी संख्या स्थानीय जनता को देखते हुए बहुत कम थी। अन्य क्षेत्रों की तरह यहाँ भी वे ग़ैर-भारोपीय भाषा-भाषियों के बीच अपने केन्द्र स्थापित किये हुए थे।

बाल्टिक क्षेत्र—लिथुआनिया और लाटविया—को मूल भारोपीय निवास मानते हुए डॉ. सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या लिखते हैं कि भारत और ईरान आने से पहले इनके पूर्वज आज से लगभग 5,000 वर्ष पहले इसी क्षेत्र में रहते थे, हालाँकि वह मानते हैं कि वे मूलतः किस क्षेत्र में फैले हुए थे, यह कुछ अटकलबाज़ी का विषय है।[87] डॉ. चाटुर्ज्या के अनुसार वैदिक भाषा से इस क्षेत्र की भाषा का गहरा साम्य दिखायी देता है और वैदिक ऋचाओं की तरह कुछ मन्त्र (दायना) यहाँ पढ़े जाते रहे हैं और कुछ धूप-अगियारी जैसी रीतियाँ भी यहाँ प्रचलित रही हैं।

डॉ. चाटुर्ज्या आगे लिखते हैं, "प्रसंगवश इस बात का उल्लेख किया जा सकता है कि उन्नीसवीं शताब्दी में जब बाल्टिक जनों—लाटवियनों और लिथुआनियनों—ने अपने राष्ट्रीय साहित्य—दायना—का अध्ययन आरम्भ किया और अपने भारतीय उत्तराधिकार के प्रति सचेत हुए तो...उनमें एक अविचारित और

भावुकतापूर्ण धारणा पैदा हुई कि बाल्टिक जन पूर्व से—एशिया से—और जैसा कि वे सोच रहे थे, भारत से, आये थे। लाटवियन लेखक फ्रे. माल्बर्गिस ने तो वास्तव में 1856 में लिखा था कि लाटवियन जन रूसियों और जर्मनों की ही तरह गंगा के तट से आये थे। लाटवियन परम्परा के अनुसार बर्तनायक्स ज्ञान और विज्ञान लेकर भारत से आये थे। इस गहन विद्या के शिक्षक विदेवुद्स थे। प्राचीन लिथुआनी पुजारिनें अपनी प्राचीन भारोपीय रीति का पालन करने के लिए पवित्र अग्नि जलाया करती थीं और जैसा कि एक आधुनिक लिथुआनी कवि ने सुझाया था, लिथुआनिया में यह रीति सिन्धु तट से आयी थी।"[88]

डॉ. चाटुर्ज्या मानते हैं कि बाल्टों को जर्मनों, पोलों और ज़ारकालीन रूसियों के हाथों जो अपमान झेलना पड़ा था, उससे मुक्त होने के लिए ही उनके द्वारा भारतीय मूल निवास के प्रति यह प्रेम व्यक्त किया जा रहा था। भारत उनके लिए संस्कृत का देश था, वेदों का देश था। अतः वह बाल्टों के इस रुख़ को अविचारित और भावुकतापूर्ण मानते थे। भारत संस्कृत का और वेदों का देश भले रहा हो, पर यूरोपीय विद्वानों ने यह तो कभी स्वीकार नहीं किया कि आर्य जनों का मूल निवास भी भारत था। ऐसी स्थिति में लाटवियनों और लिथुआनियनों में भारत से वहाँ पहुँचने की धारणा क्या अनायास पैदा हो गयी या इसका कोई अन्य ठोस कारण था? इसे भावुकता या हीनताग्रन्थि कहकर ख़ारिज करना उचित नहीं है।

किसी परम्परा को यथातथ्य स्वीकार कर लेना विवेकपूर्ण नहीं माना जा सकता, पर इसकी छान-बीन किये बिना हँसकर उड़ा देना ऐतिहासिक सूचना के एक महत्वपूर्ण स्रोत को नकारने जैसा है। बाल्ट कवियों के दावे को ख़ारिज करने से पहले कुछ सवालों पर विचार किया जाना चाहिए था: जो परम्पराएँ बाल्ट क्षेत्र में बहुत प्राचीन काल से चली आ रही थीं और जिनके अनुसार बर्तनायक्स नाम का कोई व्यक्ति विदेवुद्स या अपने सुशिक्षित शिष्यों सहित इस क्षेत्र में बहुत पहले कभी पहुँचा था, क्या उनको भी अठारहवीं शताब्दी के इन कवियों ने गढ़ लिया था? विदेवुद्स और बर्तनायक्स शब्द क्या इन कवियों के गढ़े हुए थे? यदि भारत से अपने सम्बन्ध को जोड़ना ही था तो इन कवियों ने यह दावा क्यों नहीं किया कि उनका पूरा समाज, पूरी जाति भारत से, गंगा या सिन्धु के तट से वहाँ आकर बसी थी? किसी एक व्यक्ति के उनके अपने समाज में पहुँचने से एक नये विश्वास या धर्म के प्रति आस्था तो व्यक्त की जा सकती है, पर यह जातीय श्रेष्ठता का रूप तो नहीं ले सकती। इन विभिन्न तथ्यों को सामने रखते हुए और इनके मर्म को समझते हुए ही उस धार्मिक रीति का और वहाँ प्रचलित दायना का समाधान पाया जा सकता था।[89]

यह बाल्ट परम्परा, श्रुत परम्परा की अतिजीविता का एक सुन्दर उदाहरण

है। यह याद रहे कि संगठित रूप में अपने धार्मिक विश्वासों का देश-देशान्तर में प्रचार करने का, इसके निमित्त सूदूर देशों, अपरिचित जनों और अज्ञात भाषाओं के क्षेत्र में अपने केन्द्र स्थापित करने, इन केन्द्रों को धार्मिक केन्द्रों के साथ-साथ शैक्षिक केन्द्रों का भी रूप देने और इनके माध्यम से जनता को शिक्षित और दीक्षित करने और इनके बीच अपनी भाषा का भी प्रचार-प्रसार करने का सबसे प्राचीन उदाहरण भारत में ही पाया जाता है। इस दृष्टि से बौद्ध प्रचारकों का प्रयास और उनको मिली सफलता के विषय में किसी विवाद का प्रश्न ही नहीं उठता और वैदिक-कालीन ऋषि बौद्धों से भी हज़ार-दो हज़ार वर्ष पहले से यहीं काम करते आ रहे थे और सम्भवतः बौद्ध काल में भी उनके प्रयत्न जारी थे। एक जर्जर और विगलित रूप में इसकी छाया आज तक साधुओं के संगठनों में बनी देखी जा सकती है। ईसाइयत जिन अनेक मामलों में बुद्ध धर्म से प्रभावित हुई उनमें से एक और सबसे प्रमुख है धार्मिक प्रचार का ढाँचा। ठीक इसी तरह बौद्ध मत ने संगठित प्रचार-अभियान वैदिक काल से चली आ रही लम्बी परम्परा से उत्तराधिकार के रूप में पाया था।

प्रकारान्तर से कहें तो बाल्टिक क्षेत्र की छान-बीन करने पर हम पाते हैं कि कुर्गन संस्कृति के प्रसार-क्षेत्र में बनी किलाबन्द कोठियों का सम्बन्ध घोड़े और स्थानीय खनिज भण्डारों में रुचि रखने वाले व्यापारियों से हो सकता है और इनको स्थानीय आबादी का अभिन्न अंग मानना ठीक नहीं। इस क्षेत्र में और इससे आगे भारोपीय भाषा का प्रचार-प्रसार करने में भी इनकी प्रमुख भूमिका रही हो सकती है। ये केन्द्र ज़रूरी नहीं कि भारतीय मूल के व्यापारियों के ही रहे हों। संस्कृत या इसकी जननी वैदिक भाषा इस उत्कर्ष-काल में व्यापारियों के बीच सम्पर्क-भाषा बन चुकी थी। यदि हमारा यह प्रस्ताव ठीक है तो बाल्टिक क्षेत्र में आर्य-भाषा के प्रसार की भूमिका चौथी सहस्राब्दी ई. पू. तक तैयार हो चुकी थी।

बाल्टिक परम्परा इस बात की पुष्टि तो करती है कि प्रसार का केन्द्र वैदिक मूल भूमि थी, साथ ही यह भी कि प्रसार के वाहकों का बहुत बड़े पैमाने पर स्थानान्तरण नहीं हुआ था और जिन समाजों में इन तत्वों का प्रसार हुआ था उनकी अपनी सामाजिक और आर्थिक रचना भी भिन्न-भिन्न थी। उदाहरण के लिए, लिथुआनिया में पुजारिनों के हाथ में वैदिक पूजा और रीति-विधान का सौंपा जाना इस बात का आभास देता है कि इसको ग्रहण करने वाला क़बीला उस काल तक मातृसत्ताक था। इससे इस बात का भी पता चलता है कि प्रभाव-विस्तार का समय ठीक वह है जब वैदिक साहित्य की रचना जारी थी और नये क्षेत्रों में पहुँचने वाले वहाँ स्वयं इस तरह की रचनाओं को जन्म दे सकते और अन्य सुधी-व्यक्तियों को ऐसी रचनाओं के लिए प्रेरित कर सकते थे। कहें, प्रसार वेदों का नहीं, इनकी भावना और विचारों का, इनसे जुड़े आचारों और रीतिविधानों का और, निश्चय

ही, इनकी भाषा का हुआ था। विदेवुद्स का अपना गहन ज्ञान लेकर वहाँ पहुँचना और इसके बाद उनकी ही भाषा और संस्कृति की छाप उस पूरे क्षेत्र में क़ायम हो जाना इस बात का कुछ आभास दे सकता है कि स्थानीय ज्ञान-विज्ञान और संस्कृति की तुलना में इस नयी जमात द्वारा लाया गया ज्ञान-विज्ञान और संस्कृति का स्तर क्या रहा हो सकता है। इसी की पुष्टि ईरानी परम्परा में भी होती है, इसे हम पहले देख आये हैं। एक रोचक बात यह है कि ईरान और लिथुआनिया दोनों में नयी सभ्यता और विश्वास के वाहक के रूप में व्यापारियों को नहीं, अपितु इक्के-दुक्के धार्मिक नेताओं को प्रस्तुत किया जा रहा है। लगता है, सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियों के दौरान यूरोप में विभिन्न व्यापारिक कम्पनियों के गठन से और इनके द्वारा देश-देशान्तर की यात्राओं के कारण जिस तरह ईसाई धर्म-प्रचारकों में भी अपना धर्म-साम्राज्य स्थापित करने का या 'पिछड़े और असभ्य समाजों में धर्म की ज्योति जगाने का' जोश पैदा हुआ और अनेक क्षेत्रों में तो वे इन व्यापारियों के पहुँचने से भी पहले पहुँच गये और अपना काम करते रहे, कुछ उसी तरह का वातावरण वैदिक व्यापारिक गतिविधियों के कारण पैदा हुआ था और अनेक क्षेत्रों में मिशनरियों की ही तरह भाषा और संस्कृति का प्रसार वैदिक ऋषियों द्वारा अपने बल पर किया गया था। इन प्रचारकों द्वारा तैयार किये गये वातावरण का लाभ व्यापारियों को और व्यापारियों द्वारा क़ायम किये गये केन्द्रों का लाभ प्रचारकों को तो मिलता ही रहा है, व्यापारी और उनके उदार दान ही इन प्रचारकों के सम्बल भी रहे होंगे।

9

यूनान

यूनान या ग्रीस पूर्वी भूमध्य सागर का एक प्रायद्वीप है। पूर्वी भूमध्य सागर में छोटे-बड़े पचासों द्वीप हैं जो इस प्रायद्वीप सहित बहुत प्राचीन काल से अन्त-क्रिया के एक ही क्षेत्र में आते रहे हैं। तुर्की के किसी स्थल से यूनान में समुद्र-मार्ग से इन द्वीपों को पकड़ कर पहुँचा जा सकता है। उत्तर की ओर यूरोप से जुड़ा होने के कारण यहाँ मध्य यूरोप की ओर से भी पहुँचा जा सकता है। अपने उत्कर्ष-काल में यूनान जितनी निकटता से पूर्वी भूमध्य सागर के तटीय और द्वीपीय क्षेत्रों से जुड़ा रहा है उतनी निकटता से अपने सटे यूरोपीय भू-भाग से नहीं।

यूनान का धरातल ऊबड़-खाबड़ पहाड़ियों से बना है, जिनको पार करके एक सिरे से दूसरे सिरे तक पहुँच पाना अपेक्षाकृत अधिक कठिन रहा है और इसलिए पूरे प्रायद्वीपीय क्षेत्र में यातायात का प्रमुख मार्ग समुद्री ही रहा है। इसका पाँचवाँ

हिस्सा ही ऐसा है जिसमें खेती की जा सकती है और इस क्षेत्र के भी ऊँचा-नीचा होने के कारण अधिकांश खेती सीढ़ीनुमा बने पहाड़ी ढाल के खेतों में ही होती रही है। दूसरे शब्दों में कहें तो, यह क्षेत्र खेती की दृष्टि से बहुत उत्साहवर्धक नहीं दिखायी देता। यही स्थिति चरागाहों की भी रही है। अतः यहाँ यद्यपि बहुत पहले से पशुपालन भी होता रहा है, पर किसी अच्छे पैमाने पर नहीं। इनके पालतू पशुओं में गाय, भेड़, बकरी, आदि आते हैं, पर घोड़ों की संख्या बहुत अधिक नहीं थी और प्राचीन काल में भी घोड़ा रखना केवल रईसों के ही वश की बात थी।[90]

यदि उर्वरता ही नगर-सभ्यता का मेरुदण्ड मानी जाये तो यह एक असाध्य पहेली बनी रहेगी कि इस मामले में खासा निराशाजनक यह क्षेत्र विश्व की ऐसी गौरवशाली सभ्यता का निर्माता रह चुका है जिससे प्रेरणा लेकर आधुनिक यूरोप का जन्म हुआ है और जो चिन्तन और दर्शन के क्षेत्र में आज तक एक महत्व-पूर्ण सन्दर्भ-विन्दु बना हुआ है।

जिन लोगों को इस सभ्यता के निर्माण का श्रेय दिया जाता है वे भारोपीय भाषा-भाषी थे। ये यूनान में कब और कैसे पहुँचे और किस तरह उन्होंने अपने को उस शिखर विन्दु पर पहुँचाया, इस विषय में काफ़ी उलझन बनी रही है। जो भी हो, यूनान की भाषा अपने ठीक पड़ोस की यूरोपीय भाषाओं से उतना गहरा साम्य नहीं रखती जितना गहरा साम्य यह संस्कृत के साथ प्रकट करती है। बरो लिखते हैं, "ग्रीक में केन्तुम वर्ग की किसी भी अन्य भाषा से निकट सम्पर्क के लक्षण नहीं दिखायी देते। इसके विपरीत इसका निकटतम सम्बन्ध सतेम वर्ग की भाषाओं से, ख़ासतौर से भारतीय-ईरानी और अर्मीनियाई से प्रकट होता है। संस्कृत के तुलनात्मक व्याकरण पर एक नज़र डालने से ही यह पता चल जायेगा कि संस्कृत और ग्रीक में पायी जाने वाली समानताएँ भारतीय-ईरानी शाखा के बाहर इस परिवार की किसी भी अन्य भाषा की तुलना में अधिक हैं। क्रियाओं की रूपावली में तो यह बात ख़ासतौर से पायी जाती है।"[91]

यूनान में आर्य-भाषा या इस वाणिज्यिक सम्पर्क-भाषा का प्रवेश कब हुआ? किधर से हुआ? टी. बरो के अनुसार इस क्षेत्र में भारोपीय भाषा-भाषियों का प्रवेश आठवीं शताब्दी ई. पू. से पहले और उत्तर की ओर से हुआ।[92] पर आठवीं शताब्दी के आस-पास का समय और प्रवेश की यह दिशा दोनों और इनके साथ ही यूनान के उपनिवेशीकरण की मान्यता सतही अटकलों पर आधारित है, जिसका अब लगभग खण्डन हो चुका है।

होमर द्वारा उनके महाकाव्यों में वर्णित परम्परा के आधार पर और ऐसे पुरातात्विक साक्ष्यों को सामने रखते हुए जिनका इस विवरण के अनुसार एक कामचलाऊ अर्थ कर लिया गया था, सातवीं-आठवीं शताब्दी या मोटे तौर पर ट्राय युद्ध के बाद कभी हुए इस आक्रमण की मान्यता इतनी जड़ जमा चुकी है कि

अनेक विद्वान आज भी इसका उल्लेख एक सम्भावना के रूप में कर बैठते हैं। पर इसको सबसे पहली चुनौती मिनोआ (क्रीट), पाइलॉस (दक्षिणी पश्चिमी पेलोपोनेसस), माइसीन(यूनानी मुख्य भूमि)से प्राप्त रैखिक (लिनियर)'बी' के अभिलेखों से मिली, जिसकी व्याख्या करने पर यह पाया गया कि इसकी भाषा न केवल भारोपीय है अपितु यह ग्रीक ही है। पुरानी मान्यता का दबाव कुछ ऐसा रहा कि कुछ समय तक अनेक विद्वान इसे एक भ्रम मात्र मानते रहे. पर अब यह सन्देह से परे माना जाता है। 'बी' से पहले प्रचलित रैखिक 'ए' को भी कुछ विद्वान भारोपीय ही मानते हैं। रैखिक 'बी' का काल 1400-1200 शताब्दी ई. पू. है और इसकी भाषा बाद की क्लासिकी ग्रीक से अधिक पुरानी और अधिक विकारग्रस्त है। लिपि मोटे तौर पर आक्षरिक है।[93]

टी. बरो ने अपना विवरण, जिसके अनुसार यूनान का उपनिवेशीकरण आठवीं शताब्दी ई. पू. के आस-पास उत्तर की ओर से, मध्य यूरोप से हुआ, वेन्त्रिस और चाडविक द्वारा किये गये रैखिक 'बी' के पाठ से पहले तैयार कर लिया था। रैखिक 'बी' से नीचे ही रैखिक 'ए' का पाया जाना और इन दोनों के पुराने प्रमाणों का क्रीट में पाया जाना यह प्रकट करता है कि इस लिपि का प्रसार दक्षिण के द्वीपीय क्षेत्र से उत्तर को यूनानी मूल भूमि की ओर हुआ, न कि इसके विपरीत। इस द्वीप में मूलतः ये आर्य-भाषा-भाषी पूर्व की ओर से ही पहुँच सकते थे।

यूनान पहुँचने वाले जनों की पोशाक से भी यह प्रकट नहीं होता कि मूल जन इस क्षेत्र में पहुँचने से पहले किसी ऐसे क्षेत्र में निवास करते थे जहाँ अधिक ठण्ड पड़ती रही हो। उनकी पोशाक पर टिप्पणी करते हुए डॉ. चाटुर्ज्या लिखते हैं, "ईरानी आर्यों के वस्त्रों का बहुत विश्वसनीय प्रस्तुतीकरण छठी शताब्दी ई. पू. की हख्मनी मूर्तियों और टेपेस्ट्री के अवशेषों में पाया जाता है। पारसी आर्यों ने भारतीय आर्यों की तरह खुले वस्त्र पहनने की आदत डाल ली थी, यह प्राचीन मूर्तियों में देखा जा सकता है।...यूनानियों ने (जिनके प्रमाण स्पार्टा के डोरियनों और एथेंस के ऐटिकों में पाये जाते हैं) सादे अनसिले कपड़ों का चुनाव किया जो भारतीय आर्यों के दो वस्त्र-खंडों—धौत्र और उत्तरीय—में भी पाया जाता है।"[94]

ठीक यही बात यूनान और कतिपय अन्य यूरोपीय स्थलों के विषय में काफ़ी पहले श्रेडर ने कुछ विस्तार में जाते हुए कही थी।[95] सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या पूरी स्थिति को उलटकर पेश करते हुए यह मानते हैं कि मूल जनों की पोशाक मीदियनों और सीथियनों में बनी रह गयी थी जो पहाड़ी क्षेत्रों में रहने के कारण ब्रीचेज़ व ऊँचे बूट पहनते थे। श्रेडर भी मानते हैं कि मूल जन ऊनी व कौशेय (लिनन) वस्त्र बुनना जानते थे। वह यूनानी स्त्रियों में भी इस तरह के वस्त्रों के प्रचलन की बात करते हैं और इनको पहनने की जिस शैली का हवाला देते हैं वह

भारतीय स्त्रियों के पहनावे की याद दिलाती है । श्रेडर इस सम्बन्ध में एक अधिक उपयोगी सूचना देते हैं कि टैसिटस के अनुसार ट्यूटन पुरुषों में से बहुत-से एक अधोवस्त्र से ही सन्तुष्ट रहते थे और ऊपर बिलकुल नंगे रहते थे ।

तीन बिलकुल भिन्न जलवायविक स्थितियों में, और दो के मामले में किंचित् असुविधाजनक स्थितियों में, चुस्त पोशाक को छोड़कर खुले और अनसिले वस्त्रों का चलन कैसे हो गया ? साथ ही हड़प्पा की वेश-भूषा ठीक वही थी जो सुनीति कुमार चाटुर्ज्या के अनुसार ईरानियों और यूनानियों की और श्रेडर के अनुसार यूनानी स्त्री-पुरुषों और ट्यूटनों की थी ।

पोशाक की यह समानता मूल निवास और प्रसार-केन्द्र को समझने की दृष्टि से किसी भी अन्य साक्ष्य से अधिक महत्वपूर्ण है । परन्तु इसे इस बात का निर्णायक प्रमाण नहीं माना जा सकता कि यूनानी क्षेत्र में अपना प्रभाव कायम करने वाले वहाँ सीधे भारत से ही पहुँचे थे, न ही यह कि इनकी संख्या बहुत बड़ी थी । सांस्कृतिक दृष्टि से अपनी श्रेष्ठता का सिक्का जमाने और आर्थिक समृद्धि प्राप्त करने वाले लोग शेष जनों के लिए अनुकरणीय बन जाते हैं और उनकी पोशाक, भाषा, रीति-नीति का अनुकरण स्थानीय जनता द्वारा घोर असुविधाओं के बावजूद किया जाता है । कारण, उनकी ये विशेषताएँ व्यक्ति की सामाजिक हैसियत का मानदण्ड बन जाती हैं । अंग्रेजी भाषा, और यूरोपीय वेश-भूषा का प्रसार इसका आधुनिक उदाहरण माना जा सकता है ।

इसके विपरीत रैखिक 'बी' की भाषा का क्लासिकी ग्रीक से, जो ही संस्कृत से अधिक लगाव रखती दिखायी देती है, भिन्नता इस बात का प्रमाण है कि इस क्षेत्र में प्रवेश करने वाले और आरम्भ में इस लिपि का प्रयोग करने वाले संख्या में बहुत अधिक नहीं रहे हो सकते हैं और इनकी बोली स्थानीय बोलियों से बहुत अधिक प्रभावित थी । पर साथ ही इस लिपि की सीमाओं के कारण भी इस भाषा को अटपटे ढंग से ही प्रस्तुत किया गया है जो अभी तक वर्णिक रूप नहीं ले पायी थी । आरम्भिक प्रसार के बाद इन केन्द्रों के महत्वपूर्ण होने के साथ यहाँ क्रमशः भारोपीय भाषियों का जमाव अधिक होता चला गया और भाषा में अधिक निखार आता गया । यह सम्भवतः कुछ वैसा ही मामला है जैसे पिडगिन का स्थान सम्पर्क की घनिष्ठता के साथ अंग्रेजी लेती चली जाये ।

नयी प्रेरणा का आरम्भ इस क्षेत्र में आकर बसने वाले व्यापारियों के माध्यम से हुआ लगता है जिन्होंने इस प्रायद्वीप और इसके निकटस्थ द्वीपों का चुनाव इनके व्यापारिक महत्व के कारण किया था । कारण, उर्वरता और स्थानीय सम्पदा की दृष्टि से यूनान आकर्षक क्षेत्र नहीं प्रतीत होता । ग्रीक प्रभाव के प्रसार से पहले से भी यह क्षेत्र व्यापारिक गतिविधियों का केन्द्र बन चुका था और यहाँ अपना प्रभाव जमाए हुए लोग नौचालन से परिचित थे जिसके पुरातात्विक साक्ष्य प्रचुरता से पाये जाते हैं । श्रेडर विभिन्न भारोपीय भाषाओं में डाँड़, संस्कृत—अरित्र, ग्रीक—

एरेत्रस, लिथु—हर्-ति/ इर्-क्लस्, ला.—रेम्स, त्रिरेमिस, प्राउज.—रुओदर का जिसके साथ हम अंग्रेज़ी के रडर को भी जोड़ सकते हैं और नाव, सं.—नौ, प्रा फ.—नावि, ज़ेंद—आपो नावयाओ (नौगम्य नदियाँ), ला.—नाविस, अर्मी.—नाव्, प्रा.—उज.—नाउए, प्रा. नार्स—नाउस्त (नौघाट), आदि के सादृश्यों के आधार पर यह मानते हैं कि मूल जन नौचालन से परिचित थे।[96] सं. पोत, अं. बोट और फ़्लोट को देखते हुए हम यह भी कह सकते हैं कि नाव के लिए मूल भाषा में एकाधिक पर्याय थे। और हम यूनानियों के मामले में उनके विषय में मिलने वाली प्राचीनतम सूचना के समय भी उन्हें नौचालन में ही नहीं, अपितु युद्ध आदि के लिए भी नावों के प्रयोग में और वह भी समुद्रगम्य नावों के प्रयोग में निष्णात पाते हैं। ट्राय का युद्ध जितना युद्ध का वर्णन है (ईलियड) उतना ही नौ-यात्रा और इसकी यातनाओं (ओडेसी) का।

यदि इसके साथ ही हम यूनानियों के सम्पर्क-क्षेत्र पर नज़र डालें और सम्पर्क के देशों और जनों के प्रति उनके रुख़ को समझने का प्रयत्न करें तो भी यही प्रकट होगा कि वे दक्षिण और पूर्व की सभ्यताओं से अधिक जुड़े थे और उनकी संस्कृति इनसे अधिक प्रभावित थी। अपने से उत्तर के यूरोपीय देशों के लोगों को वे बहुत भर्त्सना की दृष्टि से देखते थे। लैटिमोर लिखते हैं, "हेलेनी शब्द डोरियन शब्द से निकटता रखता है। यह पेलास्जियन, कैरियन, बार्बेरियन (बर्बर) का विलोम है।" प्रकारान्तर से कहें तो, यूनान में अपना प्रभुत्व कायम करने वाला वर्ग या आर्य-भाषा-भाषी होने का दम भरने वाला वर्ग, अपनी श्रेष्ठता पर उसी तरह गर्व करता था जैसे अन्य क्षेत्रों में पहुँचे आर्य या उनसे प्रभावित वर्ग। यूनानियों, जर्मनों और ईरानियों में प्रचलित होस्पितिएम की जिस संस्था का हम उल्लेख कर आये हैं वह भी इस बात की सूचक है कि व्यापारी वर्ग चाहे अन्यत्र से आया रहा हो या स्थानीय व्यापारियों ने अपने को नयी सभ्यता से जोड़ा हो, पर उन्होंने मूलतः जिस ढाँचे का विकास किया था वह आर्य तन्त्र की देन था।

अब यदि हम होमर की रचनाओं के आधार पर गढ़े गये उस आक्रमण पर विचार करें जो आठवीं शताब्दी ई. पू. के आसपास कभी उत्तर की ओर से हुआ था तो भी हम इससे उक्त मान्यता का विरोध होते नहीं पाते। रिकमांड लैटिमोर के अनुसार, "ट्राय युद्ध के बाद भारी उथल-पुथल और बड़े पैमाने पर प्रव्रजन शुरू हुआ। इससे यूनान में बसे हुए पुराने क़बीलों को धकेलते हुए नये क़बीले घुस आये। आक्रामकों की एक जाति जिसे थिसेलियन कहा जाता है, थिसली पर कब्ज़ा कर बैठी और इसने बायोटिया के निवासियों को उखाड़ फेंका और इन्होंने फिर कैडमियनों के क्षेत्र पर अधिकार जमाया जो उसके बाद बायोटिया कहा जाने लगा। डोरियनों ने हेराक्लीज़ के वंशधरों के साथ मिलकर उत्तर दिशा से पेलोपोनीज के स्पार्टा, माइसीनिया, एर्कोस तथा अन्य स्थानों को जीतने के लिए चढ़ाई

की। ये संचलन आकस्मिक थे या क्रमिक, इसका हर मामले में हमें पता नहीं। इस बात के प्रमाण हैं कि कभी तो इन्होंने अपनी सत्ता शान्तिपूर्ण समझौतों से जमायें और कभी सीधी विजय से।"[97]

पर यह घटना, जैसा कि ऊपर के विवरण से स्पष्ट है, ट्राय युद्ध के बाद की है जिसका समय लगभग 1200 ई. पू. माना जाता है। इस पूरे पट-परिवर्तन का काल 1200-800 ई. पू. के बीच कहीं आता है, या चार सौ वर्षों में फैला हुआ है। स्पष्टतः उत्तर की ओर से जिस क्षेत्र पर अधिकार जमाने की बात की गयी है वह पेलीपोनीज के सन्दर्भ में है जो यूनान के दक्षिणी छोर का एक छोटा-सा उप-प्रायद्वीप है। अतः यह यूनान से बाहर से नहीं, अपितु यूनान के ही मुख्य भाग से दक्षिण की ओर हुई किसी उथल-पुथल का सूचक है, न कि मध्य यूरोप से यूनान पर आक्रमण का प्रमाण। इसका समय भी, जैसा कि हम देख आये हैं, कुछ अनिश्चित है।

टिल अलेक्जेंडर लिखते हैं, "ईसा की सातवीं शताब्दी में यूनान में स्लावों के आव्रजन से पहले यहाँ की आबादी में सबसे बड़ा अन्तिम उलट-फेर कांस्य युग के अन्त में यूनान पर डोरियनों तथा अन्य पिछड़े यूनानियों के आक्रमण के समय हुआ था। इस डोरियन आक्रमण की पुष्टि बाद की परम्परा से और सातवीं-छठी ई. पू. की शताब्दियों में ग्रीक बोलियों के प्रसार से होती है। विचित्र बात यह है कि इसका कोई वस्तुगत पुरातात्विक प्रमाण नहीं मिलता। ऐसा लगता है कि यह माइसीनिया के भवनों और इस सभ्यता के ध्वंस से सम्बन्धित है, यद्यपि इस ध्वंस की (जिसकी चर्चा बाद की परम्परा में नहीं मिलती) आंशिक या पूर्ण व्याख्या यह हो सकती है कि यह एक आन्तरिक क्रान्ति थी।"[98]

यह अपनी अन्तिम व्याख्या में यूनान के बाहर से यूनान पर आक्रमण न होकर एक आन्तरिक क्रान्ति ही सिद्ध होता है। कारण, परम्परा के अनुसार भी इसका एक प्रमुख घटक या, संभव है, इसका नेतृत्व करने वाला वर्ग हेराक्लीज के वंशधरों का था और ट्राय युद्ध के प्रधान सेनानियों में हेराक्लीज स्वयं था। वह और उसके वंशधर बाहरी तत्व न होकर स्वयं भी यूनानी थे और यही स्थिति डोरियनों की भी रही लगती है। इसके संवाहक पशुचारी यायावर क़बीले नहीं थे, अपितु नौलाचन आदि के मामले में शताब्दियों पहले से आगे बढ़े हुए सुसंगठित लोग थे। जिन्हें क़बीलों के रूप में कल्पित कर लिया गया है वे इस क्षेत्र में स्थापित प्रमुख व्यापारिक घरानों के लोग रहे लगते हैं। हेराक्लीटस के असाधारण शौर्य के बावजूद ईलियड में उसके प्रति आगमैनन का जो उपेक्षापूर्ण रुख़ है उससे ऐसा लगता है कि उसके साथ कुलीनता का वह आभामण्डल नहीं जुड़ा था जो आगमैनन के साथ। उसके दैवी जन्म की कहानी के बावजूद ऐसा लगता है कि वह किसी साधारण स्थिति का ही एक असाधारण योद्धा था। माइसीनिया ही नहीं, अपितु पूरी माइ-

सीनियन सभ्यता के भवनों और प्रासादों को ध्वस्त करने के साक्ष्य को ध्यान में रखते हुए इसे अपने ही प्रभुवर्ग से खिन्न और उत्पीड़ित जनता का सुसंगठित और व्यापक विद्रोह माना जा सकता है । इनके इस विद्रोह ने मासीनियन सभ्यता को, इसकी उपलब्धियों के साथ ही उजाड़ और मिटाकर रख दिया और कुछ समय के लिए अव्यवस्था का दौर इतना तीखा रहा कि शताब्दियों पहले से चली आ रही लिपि और लेखन की परम्परा नष्ट हो गयी और आगे चलकर पुन: जब यूनान का एक नये ओजस्वी राष्ट्र के रूप में उदय हुआ तो इसे अपनी लिपि फ़ीनीशियनों से लेनी पड़ी । इन विद्रोहियों का क्रोध सम्पन्न वर्ग के विरुद्ध था । सिर्फ़ पेलोपोनीज के अर्कादिया के निवासियों को उन्होंने हाथ नहीं लगाया, जो कि साधारण चरवाहे आदि थे । "कुछ स्थानों पर वे शासक बन गये और शेष में अपने पूर्ववर्तियों में घुलमिल गये ।...हम डोरियन राज्यों को दक्षिणी और पूर्वी पेलोपोनीज में पाते हैं। इनमें से एक मेसीनिया में था, एक लाइकोनिया में, कई एर्गोलिद में थे और कुछ दूसरे कोरिन्थ और सिक्योन में । क्रीठ, मेगरा और एजिना में भी डोरियन जम गये थे । उत्तरी पेलोपोनेसिया के तट के अखइयन ही...माइसीनियाई आबादी के अवशेष रह गये थे ।"[99] ज़ाहिर कि यह उपद्रव भी उत्तर की ओर से ही आरम्भ हुआ हो, यह ज़रूरी नहीं । अखइयन स्वयं भी ग्रीक भाषा-भाषी ही थे ।

उत्तर से हुए डोरियन आक्रमण की आधारहीनता पर टिप्पणी करते हुए एंटनी ऐंड्रयूज़ लिखते हैं, "यूनानी गल्पों को याद करके इतिहासकार स्वभावत: यह सोचते रहे कि इतने अधिक माइसीनी केन्द्रों का ध्वंस डोरियनों तथा अन्य नवागन्तुकों के साथ जोड़ा जाना चाहिए । माइसीनियन स्थलों पर पुन: कब्ज़ा या इनका लगातार आबाद रहना इस सुझाव के घोर विरोध में जाता है । वास्तव में एर्गोलिद के साक्ष्यों से स्पष्ट प्रकट होता है कि इसके 150 वर्ष बाद तक भी ऐसा कुछ नहीं हुआ जो किन्हीं नये बाशिन्दों को प्रकट कर सके ।"[100]

इस तरह चाहे हम कुछ धैर्य के साथ उस परम्परा का विवेचन करें जिसके आधार पर यह मान लिया गया था कि डोरियनों का आगमन यूनान में उत्तर की ओर से हुआ और इसी के साथ ग्रीक भाषा का यूनान में प्रवेश हुआ, या पुरातात्विक साक्ष्यों पर ध्यान दें, हम इस डोरियन आक्रमण को भी आर्य आक्रमण की ही तरह एक मिथक ही पाते हैं । अधिक-से-अधिक यह एक जनक्रान्ति थी और थी भी उसी जाति और भाषा के लोगों द्वारा अपने प्रभुवर्ग के विरुद्ध और सम्भवत: यह विश्व की सबसे पहली सफल जनक्रान्ति थी ।

यूनान में हम माइसीनियन सभ्यता को 1600-1200 ई. पू. के मध्य रखते हैं । क्रीट और एजियन में इसे इससे कुछ पहले माना जा सकता है । इस सभ्यता का यह प्रथम चरण लगभग 19वीं शताब्दी ई. पू. में आरम्भ हुआ लगता है ।[101] यही इस क्षेत्र में आर्य-प्रभाव के प्रवेश का समय माना जा सकता है । इससे

पहले भी यह क्षेत्र, जैसा कि हम कह आये हैं, एक अन्तःसम्पर्क से जुड़ा हुआ था। इसमें परस्पर मिलती-जुलती अनेक भाषाओं का प्रयोग हो रहा था, स्थानीय बोलियों का प्रयोग हो रहा था। इस भाषा की कतिपय विशेषताओं में शब्दों के अन्त में 'न्थ' का जुड़ जाना अथवा 'स्स'/'त्त' का जुड़ जाना माना जाता है जो कोरिंथ/कोरिन्थस, पार्नेस्सस् आदि नामों में तथा अन्य शब्दों में बचा रहा गया है।[102]

इस तरह विभिन्न पहलुओं से विचार करने पर ऐसा लगता है कि यूनानी क्षेत्र में भी आर्य-भाषा का प्रसार व्यापारिक गतिविधियों के कारण हुआ था और इसकी दिशा तुर्की की ओर से भूमध्य सागरीय द्वीपों को और फिर दक्षिणी यूनान को पकड़ते हुए उत्तरी यूनान की ओर थी और यूनानी क्षेत्र में अपनी सत्ता जिन व्यापारिक लाभों को ध्यान में रख कर जमायी गयी थी उसी की अनिवार्य परिणति मध्य यूरोप के कुछ क्षेत्रों का भाषिक और सांस्कृतिक दृष्टि से आर्यीकरण रहा हो सकता है। इन क्षेत्रों की अपनी बोलियों में विद्यमान विशेषताएँ उन क्षेत्रों की स्थानीय बोलियों के प्रभाव से पैदा हुई हो सकती हैं, जो निश्चय ही यूनान से लेकर पश्चिमी एशिया के तटीय क्षेत्र तक की पूर्ववर्ती बोलियों से भिन्न रही लगती हैं और परस्पर उतनी गहनता से एक ही सूत्र से न जुड़ी होने के कारण जिस तरह यूनान से लेकर क्रीट और तुर्की तक की बोलियाँ जुड़ी थी,[103] इनमें स्थानीय विविधताएँ ग्रीक की तुलना में अधिक रही होंगी, जिन्हें बाद में ग्रीक के बढ़ते हुए प्रभाव ने कुछ कम किया होगा।

इस क्षेत्र में प्रसार का काल भी उसके आसपास ही पड़ता है जो एशिया-माइनर में।

10

एशिया माइनर

एशिया माइनर में बोग़ज़कुई से प्राप्त हित्ती अभिलेखों की चर्चा हम पीछे कर आये हैं, जिनमें एक वैवाहिक सन्धि, पत्र पर वैदिक देवताओं के नाम युग्मों (द्वन्द्व-समास) में प्रयुक्त हुए हैं और ये नाम तथा द्वन्द्व में इनका प्रस्तुतीकरण समूचे भारोपीय क्षेत्र में केवल भारत से ही साम्य रखता है। इसी प्रकार अश्व-पालन की एक पुस्तक में जिन संख्यावाचियों का प्रयोग हुआ है उनका भी सम्बन्ध केवल भारत से ही जुड़ता है, जिनमें सबसे रोचक है एक का रूप 'ऐक'।

इन अभिलेखों की भाषा में भाषाविदों के अनुसार कुछ ऐसे लक्षण पाये जाते हैं जो अन्य भाषाओं की तुलना में अधिक प्राचीन हैं और साथ ही हित्ती वैदिक संस्कृत से सबसे अधिक साम्य रखती है और इसलिए यह कल्पित किया गया कि मूल

भारोपीय भाषा जिन दो शाखाओं में पहले विभाजित हुई उनमें से एक भारतीय-हित्ती शाखा है और दूसरी शेष भारोपीय भाषाओं की शाखा।[104]

उत्तरी मेसोपोटामिया के सिरे पर मितन्नी, क्षेत्र के ब्राक से हड़प्पा के ककुद्मान वृषम के आशय की एक मुहर भी मिली है। मितन्नी जिनकी भाषा आर्य-भाषा थी, इस मुहर को देखते हुए हड़प्पा व्यापारी प्रतीत होते हैं।

इस मुहर के साक्ष्य को देखकर कोसम्बी यह सुझाते हैं कि एशिया माइनर में पहुँचे हुए आर्य उस शाखा के हैं जिसने भारत पर आक्रमण किया था और जो या तो यहाँ से पराजित होने के कारण अथवा यहाँ की जलवायु आदि रास न आने के कारण एशिया माइनर की ओर लौट गये।[105] पर यह बात कुछ अटपटी लगती है कि भारत पर आक्रमण करने वालों में से वे जिन्हें मुँह की खानी पड़ी या वे जिन्हें यह क्षेत्र पसन्द नहीं आया, यहाँ से भागते-भागते भी हड़प्पा की मुहरें बनाना सीख गये, पर जिन्हें यह रास आ गया और जो यहीं बस गये उन्होंने न तो मुहरें बनाना सीखा, न ही मुहरों की लिपि से परिचित हुए।

परन्तु,जैसा कि हम देख आये हैं, कुछ विद्वान इन लोगों को भारत का ही निवासी मानते रहे हैं जो सप्तसिन्धु क्षेत्र से एशिया माइनर में पहुँचे थे और कुछ दूसरे इस विषय में निर्द्वन्द्व थे कि भारत पर आर्य आक्रमण एशिया माइनर की तरफ़ से होकर आने वाले आर्यों ने ही किया था और वे भारत की ओर बढ़ते हुए पश्चिमी एशिया की सभ्यताओं का भी जायज़ा लेते हुए आये थे। इसके विपरीत कुछ इन दोनों में से किसी भी सम्भावना को सममूल्य पर रखते रहे हैं।

वास्तविकता यह है कि कम-से-कम हित्ती प्रभाव-क्षेत्र के विषय में सभी अध्येता इस विषय में एकमत हैं कि वहाँ आर्य-भाषा-भाषी जनों की संख्या थोड़ी थी और आम जनता की भाषा से उनकी भाषा बिलकुल भिन्न थी। इस थोड़ी संख्या का ही परिणाम था कि इस क्षेत्र की भाषा पर आर्य-भाषा का इतना नगण्य प्रभाव पड़ा कि यदि इन कीलाक्षरी अभिलेखों का उद्धार नहीं हो गया होता तो कोई इस बात का अनुमान भी नहीं कर सकता था कि कभी यहाँ ऐसी कोई भाषा किसी भी वर्ग के द्वारा प्रयोग में लायी जाती थी।

इतने स्वल्प लोगों द्वारा प्रयोग में लायी जाने वाली भाषा स्थानीय बोलियों या जन-सामान्य की भाषा के प्रभावों से कैसे बच सकती थी? उसमें विकृतियों का आना स्वाभाविक ही था। जिन विशेषताओं की ओर यह कहकर इशारा किया जाता रहा है कि ये हित्ती को कुछ मामलों में संस्कृत से भी प्राचीन सिद्ध करती हैं, वे इस प्रकार के प्रभावों से आने वाली विकृतियाँ हैं। इनमें से कुछ तो स्वयं भारत में ही वैदिक की बोलियों की विशेषताएँ हैं जिनको एक कृत्रिम और मानकीकृत रूप देते हुए संस्कृत की सर्जना की गयी थी, पर जो इसके बावजूद बोलियों में बहुत बाद तक प्रचलित रही थीं। यह पहलू हित्ती-खत्ती में तो प्रकट

होता है ही, संख्यावाचियों में और भी मुखर है। इसे हित्ती के पंज, सत्त आदि की तुलना पालि आदि में पाये जाने वाले प्रयोगों से करते हुए समझा जा सकता है। इसी हित्ती में कंठ्य वर्णों ह,क आदि के एकाधिक प्रभेदों को सामी भाषाओं में इनके प्रभेदों को सामने रखने पर समझा जा सकता है जिनकी भारत में प्रयुक्त वर्णमाला में भी अ (अलीफ़ और ऐन), ह (हे और दोचश्मी हे), क (काफ, क़ाफ), ग (गाफ, ग़ैन) के एकाधिक रूपों में लक्ष्य किया जा सकता है।

एशिया माइनर में पहुँचने वाले आर्य-भाषा-भाषी क्या आक्रमणकारी थे? बट कृष्ण घोष लिखते हैं, "यद्यपि कप्पादोसिया पर इतने पहले ही हित्तियों का अधिकार हो गया था, फिर भी इसे उनका मूल निवास नहीं माना जा सकता। कारण, वही क्षेत्र जहाँ हित्ती साम्राज्य का उदय हुआ इससे पहले कई शताब्दियों से असीरियनों के हाथ में था और पूरे देश में असीरियाई व्यापारिक बस्तियाँ बसी हुई थीं। परन्तु ये व्यापरिक बस्तियाँ 1950 ई. पू. के आस-पास एकाएक ख़त्म हो गयीं। जाहिर है कि यह हित्ती आक्रमण के कारण हुआ जिनके उपरिलिखित अभिलेखों को लगभग 1400 ई. पू. के आस-पास रखा जा सकता है।"[106]

आक्रमण राज्य-सत्ता पर होते हैं और आम तौर पर इनका व्यापार पर सीधा असर नहीं पड़ता। असीरियाई व्यापारियों की बस्तियों का बीसवीं शताब्दी में उजड़ जाना इनके प्रतिस्पर्धी व्यापारियों के हावी होने के कारण भी सम्भव है। इससे हम यह नतीजा भी निकाल सकते हैं कि आर्य-भाषा-भाषी व्यापारियों ने इससे पहले इस क्षेत्र पर छाये हुए असीरियाई व्यापारियों के हाथ से व्यापार छीन लिया और क्रमशः अपनी स्थिति इतनी सुदृढ़ कर ली कि आगे चलकर ये स्थानीय प्रशासन को भी अपने हाथ में लेने में सफल हो गये।

उनकी संख्या भी इस विषय में हमें निराश करती है। अपनी अल्पसंख्यकता के बावजूद उनका इस क्षेत्र के प्रशासन पर हावी हो जाना इस क्षेत्र पर इनके व्यापारिक प्रभाव और एकाधिकार का ही सूचक है। इनके द्वारा मुहरों के प्रयोग का भी व्यापार से ही सम्बन्ध हो सकता है। पर इन सबसे अधिक महत्वपूर्ण है इन अभिलेखों में मिला एक त्रिभाषिक शब्दकोश। इसमें सुमेरी और बेबीलोनी और हित्ती के प्रतिशब्द दिये गये हैं जिससे प्रकट है कि इनका सुमेर और बेबीलोन से नियमित और घनिष्ठ व्यावहारिक सम्बन्ध बना हुआ था।

एशिया माइनर के इस क्षेत्र में पहुँचने के दो सम्भावित मार्ग दिखायी देते हैं: एक काला सागर तक फैले व्यापारिक केन्द्रों की ओर से और दूसरा फ़ारस की खाड़ी की ओर से फ़रात नदी को पकड़कर। सुमेर और बेबीलोन से इनके व्यापारिक सम्पर्क को इस बात का निर्णायक प्रमाण नहीं माना जा सकता कि इस क्षेत्र में प्रवेश भी इस दिशा से ही हुआ। पर अश्व-पालन में इनकी रुचि और दक्षता को ध्यान में रखते हुए यह सोचना अधिक संगत होगा कि इस क्षेत्र में अपना व्यापारिक प्रभुत्व

कायम करने वाले मीदिया की ओर से आये होंगे और इनका सम्पर्क उन किला-बन्द अड्डों से रहा सकता है जो तीसरी सहस्राब्दी में आस्ट्रिया, पोलैंड, मीदिया आदि में फैल चुके थे। अत: यदि इन व्यापारियों की आरम्भिक अवस्था में अश्व-पालन और विपणन में दिलचस्पी थी तो ये तीसरी शताब्दी तक इस क्षेत्र में पहुँच चुके रहे होंगे और अपनी समृद्धि के बल पर प्रशासनिक मामलों में भी दिलचस्पी कायम करने और इसमें सफल होने में इन्हें शताब्दियों का समय लगा होगा। चौदहवीं शताब्दी ई. पू. के इन अभिलेखों के आधार पर यह सोचना कि इनके पहुँचने और सत्ता में आने का भी यही समय रहा होगा, न, तो उचित है, न ही किसी ने इस तरह का प्रस्ताव ही रखा है। जिन अभिलेखों से उनकी भाषा, देव-नामों आदि के विषय में हमें जानकारी मिलती है वह अपने ढंग की एक विशेष घटना और विशेष स्थिति की देन है, जिसका इनके प्रवेश-काल से सीधा सम्बन्ध नहीं है। वास्तव में स्थानीय भाषा का जिस हद तक दूषण हो चुका है और हित्ती भाषा में आर्य-भाषा के तत्त्वों का जो अनुपात है वह इनको कई शताब्दी पहले से बसा सिद्ध करता है। स्थिति यह है कि हाल ही में एक अध्येता ने हित्ती अभिलेखों आदि में दर्ज व्यक्तिनामों, देवनामों और संख्यावाचियों के आधार पर इस मान्यता पर ही सन्देह प्रकट किया है कि इसे एशिया माइनर में भारोपीय भाषा के विद्य-मान होने का निर्णायक प्रमाण माना जा सकता है।[107] जहाँ तक उक्त लेखक द्वारा मात्र व्यक्तिनामों के आधार पर भारत और पश्चिमी एशिया के वंशों या स्थान-नामों का आभास देने वाले शब्दों को पश्चिम के सादृश्य रखने वाले स्थानों से पूर्ण सादृश्य कायम करने का प्रयत्न करने वाले कुछ लेखकों के मत की आलोचना का प्रश्न है, उक्त लेखक की राय से सहमत हुआ जा सकता है। पर दोनों क्षेत्रों में प्रचलित व्यक्तिनामों, देवनामों और संख्यावाची शब्दों के सादृश्य को नकारने के लिए जो तर्क दिये गये हैं उनसे सहमत होना कठिन है।

11

दजला और फ़रात का क्षेत्र

हड़प्पा सभ्यता का पता चलने से पहले पश्चिमी एशिया की उन सभ्यताओं का पता चल चुका था जिनका उदय दजला और फ़रात की खाड़ी में हुआ, अत: हड़प्पा सभ्यता पर विचार करते समय बार-बार लेखकों का ध्यान इन सभ्यताओं की ओर जाता रहा जिनके उदय का काल भी परिपक्व हड़प्पा से काफ़ी पीछे जाता था। लेखकों के पास इस बात का प्रमाण है कि नगर-सभ्यता का उदय इस क्षेत्र में नहीं हुआ और इसके बावजूद अब तक उनको जिन नगर-सभ्यताओं का

परिचय प्राप्त है उनमें सबसे प्राचीन सुमेरिया और बेबीलोनिया की नगर-सभ्यताएँ ही सिद्ध होती हैं। यह विरोधाभास अध्येताओं के लिए एक चुनौती-सा बना रहा है और इसको लेकर तरह-तरह के अनुमान लगाये जाते रहे हैं और आज भी इनका सिलसिला जारी है।

वास्तविकता यह है कि जिस तरह ईरानी और बाल्टिक परम्पराएँ यह स्वीकार करती हैं कि यहाँ उन्नत तकनीक और सभ्यता के विभिन्न घटकों का एक ख़ास चरण पर बाहर से आने वाले लोगों द्वारा, और बाल्ट परम्परा में तो स्पष्टतः भारत से आने वाले ऐसे लोगों द्वारा जो वैदिक परम्परा के प्रचारक थे, प्रसार किया गया, उसी तरह सुमेरी परम्परा भी सभ्यता के बीजारोपण का श्रेय पूर्व की ओर से आने वाले लोगों को देती रही है। बेबीलोन की प्राचीन परम्पराओं के आधार पर इसका इतिहास लिखते हुए बेरोसस (तीसरी शताब्दी ई. पू.) ने लिखा है कि दैत्यों का एक दल पूर्व की ओर से समुद्र-मार्ग से फ़ारस की खाड़ी में पहुँचा। इसका नेता ओएनेस (उषनस् ?) था। अपने साथ उन्नत तकनीक लेकर आने वाले इन लोगों के प्रति सुमेरियनों की कृतज्ञता इस स्वीकारोक्ति में देखी जा सकती है कि इन आने वाले विलक्षण लोगों ने ही धातु-विद्या, कृषि और लेखन आदि का प्रसार किया और "उन सभी चीज़ों का आरम्भ किया जो उन्नत जीवन के लिए आवश्यक हैं, और उस समय से लेकर आज तक कोई नया आविष्कार नहीं हुआ।"[108]

रे. हेरास ने बेरोसस के विवरण में आये इन हवालों को लेकर कि आगन्तुक जन आधे मनुष्य और आधे मत्स्य थे, वे अपनी बस्ती बसाने तक रात के समय किनारे पर न आकर अपनी नौकाओं में ही सोते थे, और बाइबिल की सृष्टि-कथा में भी इस बात की पुष्टि देखते हुए कि सभ्यता का प्रसार करने वाले इस क्षेत्र में पूर्व की ओर से आये थे, साथ ही सुमेरिया और हड़प्पा की सभ्यताओं में पाये जाने वाले साम्यों को ध्यान में रखते हुए यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि सुमेर में सभ्यता का प्रसार हड़प्पा सभ्यता के निर्माताओं ने किया था। वह अपनी इस मान्यता पर अन्त तक कायम रहे।[109] कुछ अन्य लोगों को इस प्रेरणा के पीछे बलूची संस्कृतियों का, विशेषतः कुल्ली के लोगों का हाथ दिखायी देता रहा जिनके बनाये हुए घीया पत्थर के डिब्बे सुमेरिया और मेसोपोटामिया में आरम्भ से ही मिलने लगते हैं। ऐसा समझा जाता है कि कुल्ली के व्यापारी इनमें सौख्य प्रसाधन या गन्धद्रव्य आदि भरकर मेसोपोटामिया को निर्यात करते थे।[110]

सुमेरी सभ्यता का उदय एक जटिल पहेली है। इसकी उत्पत्ति के विषय में सैग्स लिखते हैं, "सुमेरियनों की उत्पत्ति के विषय में कोई चर्चा आज भी यह मानकर ही शुरू की जा सकती है कि वे जहाँ कहीं से भी क्यों न आये रहे हों, यह सुमेर नहीं था। इसे चुनौती तो दी गयी है, पर इस चुनौती के समर्थन में कोई संगत तर्क

नहीं दिया गया है। वास्तव में सुमेर में स्थानीय आबादी थी ही नहीं। यह पुराना ख़याल कि पाँचवीं सहस्राब्दी तक सुमेर फ़ारस की खाड़ी से निकला ही नहीं था, अब ग़लत माना जाता है। इस बात के अकाट्य पुरातात्विक साक्ष्य हैं कि एरिदू काल, जिसे 4500 ई. पू. या इससे कुछ बाद में रखा गया है, से पहले बेबीलोनिया में मानव संस्कृति का कोई अवशेष नहीं मिलता।"[111]

कुछ दशक पहले तक यह आशा बनी हुई थी कि सम्भव है बहरीन की खुदाई से इस समस्या का हल निकल आये,[112] पर अब यह आशा भी झूठी पड़ गयी है। एक बात साफ़ रही है कि नगर-सभ्यता की उत्पत्ति को पश्चिमी एशिया के दायरे से बाहर जाकर समझने के लिए अध्येता तैयार नहीं रहे हैं। अतः इसके बाहर के किसी प्रस्ताव को कटाक्षपूर्वक नकारना स्वाभाविक ही था। सैग्स लिखते हैं "कुछ दूसरे लोग हैं जो सुमेरियनों के उद्भव को सिन्धुघाटी की या दक्षिणी बलूचिस्तान की प्राथमिक संस्कृति से या इन दोनों से जोड़ने का प्रयत्न करते रहे हैं। सिन्धुघाटी (हड़प्पा) संस्कृति के लोग जिनकी लिपि अभी तक पढ़ी नहीं जा सकी है, आर्यों से पहले के द्रविड़ रहे हो सकते हैं जो अब दक्षिण भारत में पाये जाते हैं और सुमेरियनों और हड़प्पावासियों के बीच रक्त-सम्बन्ध की बात उन्हीं को आकर्षक लग सकती है जो सुमेरियनों और द्रविड़ों के बीच भाषागत साम्य देखने के लिए आस्थावान हों।"[113]

इस बात को तो लगभग सभी विद्वान मानते हैं कि पश्चिमी एशिया की सभ्यताओं पर भारतीय व्यापारी छाये रहे थे और विभिन्न नगरों में इनके अपने अड्डे थे,[114] पर "तीसरी सहस्राब्दी के इस साक्ष्य के आधार पर सुमेरियनों और द्रविड़ों के बीच उरुक काल से ही वाणिज्यिक और सांस्कृतिक सम्बन्धों से भी आगे बढ़कर एक नृतात्विक और भाषाई सम्बन्ध तक गढ़ डालने का सिद्धान्त एक आकर्षक नज़रिया है जिसके विषय में यदि किसी चीज़ की कमी है तो वह है प्रमाण की।" अतः "निरापद रूप में अधिक-से-अधिक इतना ही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सुमेरियन बेबीलोन में पूर्व की ओर से कहीं से आये थे।"[115]

इस कठिन समस्या को, जो नगर-सभ्यता के उदय से जुड़ी हुई है, सुलझाने से अधिक उत्साह सभ्यता का जनक होने का श्रेय हथियाने के लिए रहा है और इसलिए इस छीन-झपट को रोकने के प्रयत्न भी उतने ही ज़ोरदार रहे हैं। इन दोनों ने समस्या को सुलझाने के स्थान पर उलझाया ही अधिक है।

यदि हम इस समस्या को सुलझाना चाहते हैं तो पहले इसके उन मुद्दों को स्पष्ट कर लेना होगा जो इसे असाध्य बनाती हैं। इन्हें पहले हम कुछ प्रश्नों के रूप में रखकर इनका उत्तर ढूँढ़ने का प्रयत्न कर सकते हैं :

1. सुमेरी परम्परा से जिन लोगों के आगमन की सूचना मिलती है, क्या यह किसी बड़े पैमाने पर आव्रजन को प्रकट करता है? कारण, भाषा और रक्त-

सम्बन्ध ढूँढ़ने का औचित्य इसी के सन्दर्भ में हो सकता है।

2. क्या यह आक्रमण का मामला था ? ऐसी स्थिति में इस क्षेत्र का जनशून्य होना ग़लत है। आक्रमण पहले से बसे हुए किन्हीं लोगों के ऊपर ही हो सकता है।[116]

3. क्या यह पहले से बसे लोगों के बीच उन्नत सभ्यता के घटकों के साथ कुछ थोड़े-से लोगों के प्रवेश का और उनकी प्रेरणा से सभ्यता के उदय की कहानी है ? ऐसी स्थिति में भी इस क्षेत्र को जनशून्य नहीं होना चाहिए।

4. ऊपर के क्रमांक दो और तीन में से किसी भी स्थिति में स्थानीय आबादी की पुष्टि होती है। ऐसी स्थिति में क्या यह कथन सही है कि हमारे पास इस बात के अकाट्य पुरातात्विक साक्ष्य हैं कि एरिदू काल से पहले फ़ारस की खाड़ी का यह क्षेत्र जनशून्य था ?

5. वे लोग जो सभ्यता के समस्त तत्त्वों के साथ सुमेर में पहुँचे थे, कहाँ के निवासी रहे हो सकते हैं ? उनका इस क्षेत्र में आगमन किन प्रयोजनों से हुआ हो सकता है ?

पहले प्रश्न का उत्तर नहीं में दिया जा सकता है। इसका पहला कारण तो यह है कि कुछ थोड़ी-सी या, सम्भव है, किसी एक ही नौका में बैठकर आये हुए लोगों की संख्या इतनी अधिक नहीं हो सकती कि वे सुमेर के विभिन्न नगरों को अल्प समय में ही उस तरह आबाद कर सकें जिस तरह आबाद हम इन्हें पाते है। दूसरे,यदि यह पूरा क्षेत्र उन्हीं के द्वारा पहली बार बसाया जा रहा था तो ये अपनी ही नज़र में अर्धमानव और अर्धदैत्य नहीं हो सकते थे। तीसरे, यदि तट पर किसी तरह की आबादी ही नहीं थी तो अपनी रातें गुज़ारने के लिए उन्हें नौकाओं में ही नहीं रहना पड़ता। चौथे, यदि वे सभ्यता के एक उन्नत स्तर पर पहुँचे हुए थे और उसके साथ इस क्षेत्र में आये तो इस विषय में सचेत भी नहीं हो सकते थे कि वे पहली बार सभ्यता के नये तत्त्वों का बीजारोपण कर रहे थे। अधिक-से-अधिक वे इसके लिए अपने मूल देश को याद कर सकते थे।

दूसरे प्रश्न का उत्तर भी नकारात्मक ही हो सकता है। कारण, न तो इसका कोई संकेत सुमेरी परम्परा से मिलता है, न ही बाइबिल से। ऐसी स्थिति में सुमेर की भाषा और नृतात्विक रचना के लिए वहाँ पहले से आबाद लोग उत्तरदायी हो सकते थे, और थे। अतः भाषागत औन रक्त-सम्बन्धी सादृश्य ढूँढ़ने का और इसके न मिलने पर उलझन में पड़ने या किसी अन्यथा संगत सम्भावना को नकारने का कोई औचित्य नहीं।

तीसरे प्रश्न का उत्तर ही हाँ में दिया जा सकता है, और ज़ाहिर है कि यह क्षेत्र पहले से आबाद ही नहीं था, अपितु इसकी ग्राम संस्कृतियाँ अपने पड़ोस की अन्य ग्राम संस्कृतियों के सम्पर्क में काफ़ी पहले से थीं।

चौथे प्रश्न के उत्तर में कहा जा सकता है कि विद्वानों का यह मत कि उनके पास इस बात के अकाट्य पुरातात्विक प्रमाण हैं कि यह क्षेत्र पहले आबाद नहीं था, पुरातात्विक साक्ष्यों की सीमाओं के विषय में सचेत न रहने और उपलब्ध प्रमाणों की इकहरी व्याख्या का परिणाम है। विल डुरांट सुमेरी सभ्यता का मूल्यांकन निम्न वाक्य से आरम्भ करते हैं, "सुमेरी सभ्यता का सार दो विरोधाभासों के रूप में पेश किया जा सकता है : अनगढ़ भाण्ड और निपुण हाथों से बने आभूषण। यह अपरिष्कृत समारंभों और यत्र-तत्र विलक्षण सिद्धहस्तता का सम्मिश्रण है।"[117] इन अनगढ़ और सधे हुए हाथों की कृतियों में ही स्थानीय आबादी और विलक्षण सिद्धहस्तता लेकर इनके बीच आने वाले नये जनों के पुरातात्विक प्रमाण पाये जा सकते हैं।

बेरोसस द्वारा वर्णित सुमेरी परम्परा पर आधारित इतिहास जहाँ स्थानीय आबादी और आगन्तुक जनों के विषय में व्यंग्य रूप में संकेत देता है वहाँ बाइबिल का विवरण इसे कुछ अधिक मुखर रूप में पेश करता है। इसके अनुसार :

"और ऐसा हुआ कि जब वे पूर्व से आये तो उन्हें सिनार में एक समतल मैदान मिला और वे उसमें बस गये। और उन्होंने आपस में तय किया कि आओ हम ईंट तैयार करें और इसे अच्छी तरह पकायें। और उन्होंने पत्थर के स्थान पर ईंट तैयार किया और मसाले के स्थान पर कच्चा गारा (प्रयोग में लाना आरम्भ किया)। और उन्होंने कहा, चलो हम एक शहर बनायें, और एक मीनार बनायें। आओ हम अपनी कीर्ति का विस्तार करें कि कहीं हम पूरी धरती पर बिखर न जायें।"[118]

इसके पहले वाक्य से लगेगा यह एक जनशून्य प्रदेश में आकर बसने वाले नये जनों का माममला है। यह भ्रम आगे बढ़ते ही टूट जाता है जहाँ यह स्पष्ट होता है कि इससे पहले और बाद की स्थिति में अन्तर केवल इस बात में आया कि पहले पत्थर आदि की चिनाई से दीवारें खड़ी करके मकान बनाये जाते थे और इन आगन्तुकों के साथ पहली बार ईंटें बनाने और इन्हें पकाकर मकान बनाने का आरम्भ हुआ और पहले नगर नहीं थे जबकि इसके साथ नगरों का आरम्भ हुआ।

पाँचवें प्रश्न का उत्तर कुछ अस्पष्ट है। इसमें इतना ही बताया गया है कि ये लोग पूर्व की ओर से आये थे। यह पूर्व का स्थान कहाँ और कितनी दूर था, इस विषय में कोई संकेत नहीं मिलता। इसका उत्तर देने से पहले कुछ और प्रश्न उठाये जा सकते हैं। क्या पूर्व का यह स्थल पश्चिमी एशिया का ही सुमेर से पूर्व का कोई स्थल, जैसे सूसा, तेपे याह्या, हिसार, नमज्गा, आल्तिन देपे आदि में से कोई एक नहीं हो सकता? क्या इसकी खोज सुमेर के आरम्भिक चरण में पाये जाने वाले मृद्भाण्डों के साम्य के आधार पर नहीं की जा सकती? या क्या यह स्थल उन संस्कृतियों में से कोई नहीं है जो आद्य नगरीय चरण तक विकास कर

चुकी थीं ? यदि नहीं, तो क्या कोई ऐसा क्षेत्र हो सकता है जहाँ नगर-सभ्यता का जन्म हो चुका रहा हो और जिसे खाड़ी क्षेत्र में नगर-सभ्यता का प्रेरक माना जा सके ? यह एक टेढ़ी समस्या है और इस पर हम अगले अध्याय में विचार करेंगे।

भारत और मेसोपोटामिया के सम्पर्क के विषय में काफ़ी कुछ लिखा गया है जिसके विस्तार में जाने की यहाँ छूट नहीं है। यहाँ जिन दो मूल मुद्दों को उठाया जा सकता है वे निम्न प्रकार हैं :

1. पश्चिमी एशिया में विभिन्न स्थलों से प्राप्त हड़प्पा सभ्यता से सम्पर्क के भौतिक प्रमाण 2300-2000 ई. पू. की कालावधि से ही क्यों सम्बन्ध रखते हैं ? यदि सम्पर्क पुराना था, और जैसा कि ऊपर की व्याख्या से लगता है, यदि यह नगर-सभ्यता के खाड़ी क्षेत्र में उदय के समय से ही था, तो उस प्राचीन दौर के प्रमाण क्यों नहीं मिलते ?

2. भारतीय व्यापारिक प्रसार के परिणामस्वरूप जिन देशों या क्षेत्रों से इसका गहन सम्पर्क कायम हुआ वहाँ की भाषा और संस्कृति पर इसकी गहरी छाप देखने में आती है। ऐसा पश्चिम एशिया की नगर-सभ्यताओं और पूरे क्षेत्र के मामले में क्यों नहीं हुआ ?

इन प्रश्नों का उत्तर देने से पहले यह कहना जरूरी है कि मानव-सम्पर्क के सभी घटकों के भौतिक प्रमाण नहीं ढूंढ़े जाने चाहिए। इनकी पहचान के दूसरे भी उपाय हैं। दूसरे, जहाँ प्रमाण उपलब्ध भी हैं वहाँ इनकी प्रासंगिकता का पहलू इनकी प्राप्ति से अधिक महत्व रखता है।

ऊर से वूली को उनके अनुसार महाप्लावन के स्तर से नीचे आमेजनाइट के मनके मिले थे। इनका निकटतम स्रोत उनके अनुसार नीलगिरि का भारतीय क्षेत्र प्रतीत हुआ था।[119] आमेजनाइट के मनके हड़प्पा काल में भी लोकप्रिय थे। ह्वीलर ने यह सुझाया था कि इसकी प्राप्ति का स्थल अहमदाबाद से उत्तर की ओर हीरापुर था जो सिन्धु से 400 मील से भी कम की दूरी पर पड़ता है।[120] इसके अतिरिक्त कुल्ली के कारीगरों के हाथों बने घीया पत्थर के डिब्बे सुमेरियाई नगरों के अनेक स्थलों से पाये गये हैं और ये प्राचीन काल से ही मिलने लगते हैं जिनमें सौख्य प्रसाधन व गन्धद्रव्य आदि भर कर निर्यात किये जाने का सुझाव रखा गया है।[121] इसके आधार पर यह कल्पना भी की गयी है कि कुल्ली के लोग समुद्र-मार्ग से पश्चिमी एशिया के नगरों से व्यापार करते थे।

परन्तु इस सम्पर्क की गहनता का सही मूल्यांकन उन सांस्कृतिक तत्वों को सामने रखकर ही किया जा सकता है जिनका सुमेरी मानसिकता और विश्वासों के निर्माण में हाथ रहा लगता है। सुमेरी देवताओं के नाम यद्यपि सुमेरी भाषा में मिलते हैं, पर ये प्रधान वैदिक देवताओं के प्रतिरूप हैं, यथा, सूर्य—शम्स, इन्द्र-मर्दुक, वरुण—रम्मान, सोम या चन्द्रमा—सिन, वृत्र—तैमात सुमेरी तन्त्र-मन्त्र का

कुछ असर अथर्ववेद के एक सूक्त में देखा जा सकता है जिसमें आलिगी, विलिगी, उरुगूला, तैमात, अप्सू, ताबुवं, आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है और जिन्हें सुमेरी माना गया है।[122]

सुमेरी जनों की, विशेषतः महिलाओं की वेश-भूषा और केशविन्यास की शैली पर भारतीय प्रभाव देखा गया है[123], जो आँखों में काजल, होठों पर लाली, बालों में तेल और शरीर पर उबटन लगाती थीं। पर इसके बावजूद आरम्भिक साम्य या प्रभाव उतने मुखर नहीं हैं जितने बाद के। परिपक्व हड़प्पा काल की तरह इन्हें इतना निर्णायक नहीं पाया जाता कि इनको स्थान और काल के सुनिश्चित दायरे में बाँधा जा सके। पर इसके बावजूद स्थिति इतनी निराशाजनक नहीं है जितनी अनेक दूसरे क्षेत्रों के विषय में पायी जाती है जिनसे भारत के सम्पर्क का पता उनके भाषागत साक्ष्यों के अभाव में नहीं चल सकता था, और जहाँ पता है भी वहाँ इस सम्पर्क के काल और दिशा के विषय में इतना भ्रम बना रहा है कि लगभग दो शताब्दियों का लम्बा समय पहेलियाँ बुझाते और 'आक्रमण' के समय और 'अभियान' की दिशा तय करने में ही लग गया और अब जाकर विद्वानों को यह बोध हुआ है कि यह कहीं भी आक्रमण या अभियान से जुड़ा हुआ नहीं था।[124]

पर सुमेरी क्षेत्र में आर्य-भाषा और संस्कृति का उस तरह का गहरा असर नहीं पड़ा जितना अन्य क्षेत्रों पर। इसका कारण स्पष्टतः यह है कि परिपक्व हड़प्पा काल से पहले जब तक भारतीय व्यापारियों ने विदेशों में अपनी बस्तियाँ और अड्डे नहीं कायम किये थे, उनका प्रभाव अन्यत्र भी क्षीण ही रहा। पर इस चरण तक खाड़ी क्षेत्र के विभिन्न नगरों ने अपनी सभ्यता का स्तर इतना ऊँचा कर लिया था कि वे कुछ मामलों में अपने समकालीन हड़प्पावासियों से भी आगे बढ़ चुके थे। अपनी निजी भाषा, संस्कृति और विश्वासों को भी तदनुरूप विकसित कर लेने के कारण भारतीय व्यापारी उनके प्रतिस्पर्धी तो थे, पर उनसे आतंकित होने का और श्रेष्ठता-बोध के लिए उनकी भाषा और संस्कृति को समग्रतः अपनाने का प्रश्न नहीं उठता था। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि सुमेर, मेसोपोटामिया, बेबीलोन, अक्काद और एलाम पर भारतीय प्रभाव पड़ा ही नहीं। वस्तुतः इसका सही मूल्यांकन करने के लिए एक स्वतन्त्र अध्ययन की आवश्यकता होगी। हम इतना ही कह सकते हैं कि इस विषय में जो सूचनाएँ अब तक प्राप्त हैं वे कम-से-कम इतनी प्रभावशाली तो हैं ही कि इनके आधार पर यह सुझाव बार-बार दिया जाता रहा है कि भारतीय आर्य भारत में सुमेरी, मेसोपोटामियाई, बेबीलोनी, अक्कादी, एलामी, असीरियाई सभी तरह के प्रभाव लेकर भारत पहुँचे थे और कुछ के अनुसार तो ऋग्वेद के कुछ अंशों की रचना मेसोपोटामिया में ही हुई हो सकती है।[125]

पश्चिमी एशिया के नगर-केन्द्रों में हड़प्पा के जिन व्यापारियों की बस्तियाँ बसी थीं वे वैदिक व्यापारी थे और जिन आपदाओं के कारण हड़प्पा के नगरों का ह्रास और पतन हुआ उनका ही एक भिन्न प्रभाव इन बस्तियों के व्यापारियों पर पड़ा। वे भारतीय सूत्र से कट जाने के कारण अपने क्षेत्र में ही सक्रिय हो गये और कुछ क्षेत्रों में उन्होंने अपनी शक्ति इस सीमा तक बढ़ायी कि वे वहाँ की सत्ता की बागडोर भी अपने हाथों में लेने में सफल हुए, यद्यपि इस दौर में भी वे स्थानीय भाषा को प्रभावित नहीं कर सके। सम्भवतः वे स्वयं भी व्यापारिक कारणों से अपने क्षेत्र की भाषा ही अपना चुके थे। इसके बावजूद उनके नाम अपनी पुरानी रीति पर ही रखे जा रहे थे और इनके नाम और यत्रतत्र इनके देवनाम जिनकी पूजा भी इनमें बहुत बाद तक प्रचलित रही लगती है असीरियाई, मितन्नी और कस्सी अभिलेखों में मिले हैं, जिसकी चर्चा हम पीछे कर आये हैं। राजा मतिवाज तथा बेबीलोनी देवताओं में शूरिअस और मरुत्तस—सूर्य और मरुत,[126] नाम तथा बेबीलोन में अश्वमेध का प्रचलन[127] इस बात का प्रमाण है कि मिस्र से लेकर एलाम तक के क्षेत्र में ये आर्य व्यापारी कितने प्रभावशाली बने हुए थे और उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा क्या थी।

हम हड़प्पा सभ्यता को एक अनार्य सभ्यता मान कर चलते रहे हैं और वैदिक साहित्य से इसका कोई सम्बन्ध न मानकर हड़प्पा सभ्यता के भारत से बाहर पड़ने वाले प्रभाव और व्यापारिक सम्पर्क को केवल पुरातात्विक साक्ष्यों के आधार पर समझने की चेष्टा करते रहे हैं और इसलिए हम उस व्याप्ति की कल्पना भी नहीं कर सकते जो इस बात के स्पष्ट होने पर दिखाई देती है कि हड़प्पा के जिस लुप्त साहित्य की कल्पना की जाती रही है[128], उसी का एक अवशिष्ट अंश ऋग्वेद है और इस सभ्यता का प्रसार और एकाधिकार उसी अनुपात में देखा जा सकता है जिस अनुपात में आर्य भाषा का प्रसार दिखायी देता है। अनेक क्षेत्रों में इनकी उपस्थिति इतनी प्रभावशाली दिखायी देती है कि लगता है, भारतीय मूल के लोगों ने ही इस क्षेत्र को आबाद कर दिया था। परन्तु इतने विशाल क्षेत्र को देखते हुए यह सोचना ग़लत होगा कि यह भारत से बड़े पैमाने पर प्रव्रजन का मामला है। इसका कुछ साम्य सत्रहवीं-उन्नीसवीं शताब्दी के दौर में विश्व के दूरस्थ क्षेत्रों तक फैलने वाले अंग्रेज व्यापारियों और प्रशासकों में देखा जा सकता है, परन्तु यह स्मरण रखना होगा कि इतिहास जहाँ अपने को दुहराता भी है वहाँ ठीक पहले जैसे ढंग से नहीं दुहराता, अतः दो भिन्न क्षेत्रों या कालों में दृष्टिगोचर होने वाली प्रत्यक्ष समानताओं के बावजूद इनको सर्वसदृश मानने से यान्त्रिकता और सतही-पन आने का ख़तरा रहता है। अतः जहाँ समानताएँ प्रकट भी होती हैं वहाँ भी अधिक ध्यान इनमें से प्रत्येक की विशिष्टता पर दिया जाना चाहिए। यदि हमारी दृष्टि इस विषय में स्पष्ट रहेगी तो समानताएँ तो स्वतः उजागर हो जायेंगी। अब

तक प्रसारवादी मान्यता के तकाज़े से विशिष्टताओं की खोज की तुलना में समानताओं के आरोपण का प्रयत्न अधिक मुखर रहा है।

सन्दर्भ व टिप्पणियाँ

1. सच्चिदानन्द मिश्र, प्राचीन भारत में ग्राम और ग्राम्य जीवन, 1984, 22.
2. मैक्समूलर, सिलेक्टेड एसेज़ ऑन लैंग्वेज माइथॉलॉजी ऐंड रिलिजन, 1, 1881, 214.
3. सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी, 1954, 55-56.
4. कृण्वन्तः विश्वं आर्यं। ऋ. 9.63.5; आर्याव्रताः विसृजन्तः अधिक्षमि। ऋ. 10.65.11.
5. देखें, काल्डवेल, ए कंपैरेटिव ग्रामर ऑफ़ दि द्रविडियन ऑर साउथ इंडियन फ़ैमिली ऑफ़ लैंग्वेजेज़, 1913, 53 और आगे; ए. एस. आइलर, 'द्रविडियन ऐंड यूरालियन : दि लेक्सिकल इविडेंस', लैंग्वेज, 1968, 44, 798-812; डी. डब्ल्यू. मैक एल्पिन, 'एलामाइट ऐंड द्रविडियन : फ़र्दर इविडेंस ऑफ़ रिलेशनशिप', करेंट ऐंथ्रोपॉलॉजी, मार्च 1975, 16.1.105 और आगे; टी. बरो, पेपर्स ऑन द्रविडियन लिंग्विस्टिक्स, 1968; राहुल सांकृत्यायन, हिस्ट्री ऑफ़ सेंट्रल एशिया, 1964, 2, आदि।
6. देखें, वायुपुराण, अध्याय 41; महाभारत, 3, अध्याय 151-54, आदि।
   क. इत्येतत्ते महाराज पृच्छतः शास्त्र चक्षुषा।
   ···यथादृष्टं मया प्रोक्तं सनिर्याणमिदं जगत्॥ महाभारत 6.13.46-47
   ख. एस. ए. अली, दि ज्यॉग्राफ़ी ऑफ़ दि पुराणाज़, 1973, 56.
7. जहाँ पुराणकार अधिक तथ्यपरक होने की चेष्टा करता है वहाँ उसकी सीमाएँ अधिक उभरकर आती हैं। उदाहरण है मत्स्य पुराण का यह प्रकृति-चित्रण जिसका सम्बन्ध हिमालय के उस क्षेत्र से है जहाँ पुरूरवा पहुँचे थे और जिसका अनुवाद रामप्रताप त्रिपाठी ने निम्न प्रकार किया है, "दैव योग से (महाराज पुरूरवा) उसी पर्वतराज हिमालय के सुरम्य प्रदेश में—जहाँ पर कोई अन्य मनुष्य नहीं जा सकता था—पहुँच गये, जिससे श्रेष्ठ नदी ऐरावती निकली हुई है और जो मेघ के समान काले रंग का है। वह अनेक प्रकार के शाल (साखू), ताल (ताड़), तमाल, शाल्मलि (सेमर), बरगद, पीपल,

सिरसा, तथा शीशम के वृक्ष के समूह...सतौन, छतवन, नीम, चन्दन, बेल, खजूर, नारियल,...आदि से सुशोभित था।" 272-73. पर्वतों, नदियों, नगरों, देशों, वृक्षों के इसी प्रकार के विवरण सभी पुराणों में देखने को प्रायः मिलते हैं।

8. देखें, जयचन्द्र नारंग वेदालंकार, 'रिजनल स्ट्रक्चर ऑफ़ इंडिया इन रिलेशन टु लैंग्वेज एंड हिस्ट्री', कहेइं., 1958, 42 पर देखें।

9. यथा, 'गान्धर्वैरप्सरोभिश्च देवैश्च परमार्चिताम्।
सेवितामृषिभिर्दिव्यां यक्षैः किंपुरुषैस्तथा।
राक्षसैः किन्नरैश्चैव गुप्तां वैश्रवणेन च।" महा. 3.151.7-8

10. स किरातैश्च चीनैश्च वृतः प्राग्ज्योतिषोऽभवत्।
अन्यैश्च बहुभिर्योधैः सागरानूपवासिभिः॥ महा. 2.23.19.

वायु पुराण पृ. 143 के अनुसार किरातों का आवास भारत के पूर्व में और यवनों का पश्चिम में तथा म्लेक्षों का दक्षिण में है। यह पुनः प्राचीन सूचना को आत्मसात् करने में हुई चूक का परिणाम है। दक्षिणवासियों को कभी म्लेक्ष नहीं कहा जाता रहा है। किरात, यवन, म्लेक्ष तीनों एक ही पश्चिम दिशा से सम्बद्ध हैं।

11. यजु. 30.16; तैब्रा. 3.4.12.1; अथर्व. 10.4.14; शतब्रा. 1.1.4.14; पंचविंशब्रा. 13.12.5, आदि। देखें, वैदिक इंडेक्स, 1, 'किरात'।

12. पौराणिक विवरणों में यदा-कदा दरद, गन्धार, काश्मीर का उल्लेख इस तरह हुआ है मानो इनमें परस्पर भेद किया जाता था और ऐसी स्थिति में पौराणिक कालों में कुछ भेद आया भी हो सकता है।

13. वायुपुराण के अनुसार किंपुरुष देश में वर्षा बिलकुल नहीं होती और यहाँ के लोग सोतों के जल (उद्भिद् जल) से अपना काम चलाते हैं। सम्भवतः यह लद्दाख के अधिक अनुरूप पड़े।

यदा-कदा किन्नर और किंपुरुष दोनों का उल्लेख एक साथ आया है, यथा महा. 3.151.8 में, और इससे लगता है कि दोनों में कुछ फ़र्क किया जाता था। जयचन्द्र नारंग वेदालंकार ने किन्नर को किन्नौर से सम्बद्ध माना है।

14. डॉ. अली ने पामीर क्षेत्र को सुमेरु माना है। डॉ. पाठक के मत से हिन्दूकुश का ही पुराना नाम मेरु था। पौराणिक विवरणों में जो शिथिलता पायी जाती है उसमें कोई बात सुनिश्चित रूप में नहीं की जा सकती, पर ऐसा लगता है कि गन्धमादन जिस पर कुबेर का निवास है, सुलेमान पर्वत-श्रृंखला का, मेरु पामीर के पठार का और मन्दर हिन्दूकुश का द्योतक रहा हो सकता है, जब कि शिथिल प्रयोगों में इनको पामीर से लेकर हिन्दूकुश से आगे के ईरानी पठारों का द्योतक माना जाता रहा होगा। वायु पुराण (पृ. 162) वरुण की

सुखा नगरी मेरु से पश्चिम स्थित मानी गयी है जो ईरानी सूसा का द्योतक हो सकता है।

15. वेदालंकार, पूर्व., 45.

16. वही। अली कम्बोज को काबुल की घाटी और कुनार की घाटी मानते हैं, पर साथ ही स्वीकार करते हैं कि इसके प्रसंग में केवल कम्बोज में आर्यों के उपनिवेश बसे होने का उल्लेख आया है जो इसकी स्थिति के निर्धारण में बहुत अधिक सहायक नहीं है। उपनिवेश की बात को देखते हुए बदख्शाँ या इससे उत्तर-पूर्व का क्षेत्र अधिक उपयुक्त हो सकता है।

17. वेदालंकार, वही। कुछ अन्य विद्वान इसे इतने दूर ले जाने के पक्ष में नहीं हैं। देखें, वैदिक इंडेक्स, 'बह्लीक'।

18. उदाहरण के लिए पुराणों के ऐसे विवरणों को लिया जा सकता है, जिनमें इनकी यायावरी के संकेत भी पाए जाते हैं, "इस शैल देश में गिरि-गुहा-वासिनी, मनोहारिणी, प्रसन्नवदना, सुनयना, कृशोदरी, सुन्दरी किन्नरियाँ सदा रमण किया करती हैं। यहाँ विशालाक्ष यक्ष, सुन्दर गन्धर्व और अन्यान्य अप्सराएँ सदा आनन्द मनाती रहती हैं ..।" वायुपुराण, 131.

19. कुल्ली, झोव, आदि से प्राप्त मातृ देवी की प्रतिमाएँ, इनके अनेक क़बीलों की यायावरी वृत्ति, कुछ क़बीलों के लिए किं-पुरुष, किन्नर जैसे नाम इस दृष्टि से ध्यान देने योग्य हैं।

20. योषित् कामा वै गन्धर्वाः। शतब्रा. 3.2.4.3; स्त्रीकामाः वै गन्धर्वाः। ऐब्रा. 1.27; त ऊ ह स्त्रीकामाः। कौब्रा. 12.3.

21. गन्धः मे मोदो मे प्रमोदो मे। तन्मे युष्मासु (गन्धर्वेषु)। जैउब्रा. 3.25.4; रूपमिति गन्धर्वाः (उपासते)। शतब्रा. 10.5.2.20, आदि। देखें, ऊपर पा. टि. 18 भी।

22. नृत्य और संगीत की शाखा को गन्धर्व-विद्या के रूप में ही याद किया जाता रहा है।

23. देखें, महाभारत, 3.151-55, आदि।

24. तस्यैव मूर्धन्युशनाः काव्यो दैत्यैर्महीपते।
तस्य हीमानि रत्नानि तस्येमे रत्न पर्वताः॥
तस्मात्कुबेरो भगवांश्चतुर्थं भागमश्नुते।
ततः कलांशं वित्तस्य मनुष्योभ्यः प्रयच्छति॥ महा. 6.7.20-21.

25. ऋ. 10.75.6.

26. अथ. 5.22.4-5 व 8.

27. वैदिक इंडेक्स, 'बह्लीक'।

28. ऋ. 10.86

29. गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, पूर्व. ।
30. ऋ. 7.18.7.
31. देखें, वैदिक इंडेक्स, 1, 568-69.
32. ऋ. 8.46.32; देखें, वैदिक इंडेक्स, 2, 69 भी ।
33. शतब्रा. 13.5.4.13.
34. शतब्रा. 1.1.4.15; पंचविंश ब्रा. 13.12.5; वैदिक इंडेक्स, 1, 175.

34क. दक्षिण की ओर निरन्तर नीची होती मकरान की पहाड़ियाँ क्रमशः समुद्र में विलीन हो जाती हैं। पर्वतों के पक्षवान होने, इन्द्र द्वारा इनका पक्ष काटे जाने, इन्द्र के भय से मैनाक के समुद्र में जाकर छिपने की कथा इसी वास्तविकता का रूपकीय और किंचित् विरूपित विवरण प्रतीत होता है, यद्यपि मैनाक (जिसका ही बेबीलोनी अपभ्रंश 'माकन' या 'मक्कन' बना लगता है), की स्थिति के विषय में पौराणिक विवरणों में बहुत अधिक अन्तर्विरोध हैं जो किरातों के विषय में पायी जाने वाली भ्रान्ति की याद दिलाते हैं।

35. मोहम्मद अली, 'आर्याना ऑर दि ऐंशेंट अफ़ग़ानिस्तान', अफ़ग़ानिस्तान, 12.1, 1957, 29-57.

35क. देवयानों के विषय में देखें, ऋ. 1.183.6; 184.6; 3.58.5, आदि। बाद में भी इसकी याद बनी रह गयी थी, जिसको "मरुतां च गणास्तत्र देवयानैरुपागमन्...।" महा. 3.164.11-12 में देखा जा सकता है।

36. ऋ.5.53.9; 10.75.6.

37. गन्धर्व शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में 21 बार हुआ है। इसमें भी 20 बार नये मण्डलों में और केवल एक बार मण्डल तीन में, जिसे पुराना माना जाता है। इसी तरह गन्धारी मेषी का जिक्र भी पहले मण्डल में ही आया है। यह इस बात का द्योतक है कि गन्धार के साथ वैदिक जनों का परिचय नये मण्डलों के दौरान ही सघन हुआ था और यह भी सरस्वती और सिन्धु नदियों के तुलनात्मक महत्व के आधार पर हमारे द्वारा निकाले गये निष्कर्ष के साथ पूरी तरह मेल खाता है।

38. शतब्रा. 11.2.3.7-9.

39. एगलिंग ने यवमत का अर्थ 'रिच इन बार्ली', उद्दालवत का 'रिच इन हस्बैंड्री' और अन्तर्वान का अर्थ 'रिच इन ग्रेन' किया है, पर रिच इन बार्ली और रिच इन ग्रेन में कोई अन्तर नहीं है। वस्तुतः अन्तर्वान का अर्थ खनिज सम्पदा की दृष्टि से समृद्ध किया जाना चाहिए। बाद के विवरणों में गन्धर्वों के प्रसंग में मणियों, रत्नों, स्वर्ण-भण्डारों, आदि का बार-बार उल्लेख आता है और वैदिक साहित्य में भी इन्हें विश्वावसु या समस्त प्रकार के धनों से युक्त कहा जाता है।

40. वायुपुराण, अध्याय 62; मत्स्यपुराण, अध्याय 10; श्रीमद्भागवतपुराण, स्कन्ध 4, अध्याय 16.
41. अश्वं च अविं च उत्तरतः। एतस्यां तत् दिशि एतौ पशू दधाति तस्मात् एतस्यां दिशि एतौ भूयिष्ठौ। शतब्रा. 7.5.2.15.
42. गां च अजं च दक्षिणतः। एतस्यां तत् दिशि एतौ पशू दधाति...। शतब्रा. 7.5.2.15.
43. देखें, पा. टि. 41. अश्व के विषय में जहाँ गन्धर्वों को इस बात का श्रेय दिया गया है कि इन्होंने अश्वोन में जव या वेग भर दिया या कहें, अधिक वेगवान घोड़ों से परिचय कराया, (शतब्रा. 5.1.4.8)। अश्वों इनके बीच वाजि या वेगवान होकर विचरता था जिसका भी आशय वही है और यह कि सबसे पहले अश्व की रस्सी गन्धर्वों ने पकड़ी या इन्हें पकड़कर लाने वाले वे पहले ऐसे जन थे जिनसे वैदिक जन परिचित थे, वहीं इन्द्र को इस बात का श्रेय दिया गया है कि अश्व पर सवारी करने वाले वे प्रथम व्यक्ति हैं (ऋ. 1.163.2)। इस विषय में किसी विवाद की गुंजायश ही नहीं है कि स्तेपी में बहुत पहले से घोड़ों का शिकार और पालन होता आया था और बहुत हाल तक भी यह वहाँ के लिए मांस और दूध का स्रोत था, पर वैदिक कृतियों में कहीं घोड़ों के दूध आदि का आनुष्ठानिक अवसरों पर भी उल्लेख नहीं आता है।
44. देखें, खण्ड 1, अध्याय 5 व 6.
45. अहमद अली मोतमेदी, 'सम नोट्स ऑन दि माइथॉलॉजी ऑफ़ दि काफ़िर्स ऑफ़ दि हिन्दूकुश', अफ़ग़ानिस्तान, 12, 4, 1957, 8 व आगे।

45ख. वही।

46. देखें, पूर्व., 130; जयचन्द्र नारंग वेदालंकार, पूर्व., आदि। अली ने पौराणिक भूगोल का फलक बहुत व्यापक रखा है। देखें महाभारत, सभापर्व, अध्याय 23 व 29 भी।
47. वेदालंकार, वही; पुसालकर, 'कल्चरल इंटर-रिलेशन बिटविन इंडिया ऐंड आउटसाइड वर्ल्ड बिफ़ोर अशोक', कहेइं. I, 147.
48. पैशाची का प्रयोग कथित रूप में पाण्ड्य, केकय, वाह्लीक, सह्य, नेपाल, कुन्तल, गन्धार आदि में होता था। यदि हम इस विवरण को संक्षेप में रखना चाहें तो कह सकते हैं कि पैशाची में वे लक्षण पाये जाते थे जिन्हें बाह्य परिमण्डल की भाषाओं की विशेषता माना गया था। दूसरे शब्दों में कहें तो, इसमें वह द्राविड़ी प्रवृत्ति—यथा महाप्राण वर्णों के स्थान पर अल्पप्राण का प्रयोग, र के स्थान पर ल, जिसे ब्राह्मणों में 'हेलयो हेलय इति वदन्तः पराबभूवुः' के रूप में याद किया गया है, और जिसके विषय में बाद के वैयाकरण आगाह करते हैं कि भाषा को म्लेक्षित नहीं किया जाना चाहिए—बनी रह गयी थी। परन्तु क्षेत्रीय रूप में इसे गन्धार की भाषा माना जाता रहा है।

देखें, पिशल, प्राकृत भाषाओं का व्याकरण, अनु. डॉ. हेमचन्द्र जोशी, 1958, 53-56.

49. मैक्समूलर, चिप्स फ्रॉम ए जर्मन वर्कशॉप, 1867, 1, 63-64.
50. सांकृत्यायन, हिस्ट्री ऑफ़ सेंट्रल एशिया, 1964, भूमिका।
51. ग्रियर्सन, लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ़ इंडिया, 1967, 1, 99
52. राहुल सांकृत्यायन, पूर्व.।
53. एस. पी. गुप्त, देखें, आगे।
54. अस्थाना, प्री-हड़प्पन कल्चर्स ऑफ़ इंडिया ऐंड बार्डरलैंड्स, 1985, 238-39.
55. ग्रियर्सन ने ऐसे लोगों में कीथ का भी नाम गिनाया है। पूर्व., 98.
56. ग्रियर्सन, वही, 98-99.
57. विल डुरांट, अवर ओरिएंटल हेरिटेज, 1954, 350.
58. एष वः स्तोमः मरुतः इयं गीः मान्दार्यस्य मान्यस्य कारोः ...।ऋ 1.165. 15; 166.15; 167.11; 168.10, आदि।
59. सायण मान्दार्य का अर्थ 'स्तुति विशेषेः मन्दयितुः स्तुभिर्मदस्य प्रेरयितुर्वा' करते हैं। गेल्डनर, बेनफी, ओल्डेनबर्ग, मैक्समूलर, ग्रिफिथ आदि ने अनुमान लगाया है कि सम्भवतः यहाँ आशय अगस्त्य से है जो ही इस सूक्त के ऋषि हैं। पर ये दोनों विकल्प कामचलाऊ हल हैं। 'मान्दार्य मान्य' का अर्थ वे 'मान के पुत्र मान्दार्य' करते हैं। पर अगस्त्य को कहीं अन्यत्र मान नामक किसी व्यक्ति का पुत्र नहीं माना गया है। यह ऋचा और वे सभी सूक्त जिनमें यह दुहराई गयी है मरुत् को सम्बोधित हैं जो सार्थों में सम्मिलित सदस्यों के प्रतीक हैं और इनमें धन-प्राप्ति की कामना की गयी है।
60. अत्र पश्चादहः सूर्यो विसर्जयति भाः स्वयम्। पश्चिमेत्यभिविख्याता दिगयं द्विजसत्तम।
61. उत्तरस्य हिरण्यस्य परिवापस्य गालव। मार्गः पश्चिमपूर्वाभ्यां दिग्भ्यां वै मध्यमः स्मृतः। अस्यां दिशि वरिष्ठायां उत्तरायां द्विजर्षभ। महा. 5.109.3.
62. अत्र मूलं हिमवतो मन्दरं याति शाश्वतम्। अपि वर्षसहस्रेण न चास्यान्तोऽधिगम्यते। महा. 5.108.9.
63. अत्र कांचनशैलस्य कांचनाम्बुवहस्य च। उदधेस्तीरमासाद्य सुरभि क्षरते पयः॥ वही, 10.
64. अतः प्रभृति सूर्यस्य तिर्यगावर्तते गतिः। वही, 14.
65. अत्र नित्यं स्रवन्तीनां प्रभवः सागरोदयः। अत्र लोकत्रयस्यापस्तिष्ठन्ति वरुणाश्रयाः। वही, 16.
66. एष ते पश्चिमो मार्गो द्विद्वारेण प्रकीर्तितः। वही, 19.

67. महर्षेः काश्यपस्यात्र मारीचस्य निवेशनम् । वही, 18.
68. एस. पी. गुप्त, 'प्रीहिस्टारिक इंडियन कल्चर्स इन सोवियत सेंट्रल एशिया', इंकंवथाक, 1970, 240-42; 1984, 301-10; 'दि अर्ली पीरियड्स ऑफ़ शोर्तुगाई (हड़प्पन) ऐंड दि वेस्टर्न बैक्ट्रियन कल्चर ऑफ़ डेवली' साउथ एशियन आर्कियॉलॉजी, 1981, 1984, 170-75; 'दि हड़प्पन सेटलमेंट ऑफ़ शोर्तुगाई', फ्रंइंसि., 1984, 301-10; 'दि लेट पीरियड्स ऑफ़ शोर्तुगाई ऐंड दि प्राब्लम ऑफ़ दि बैक्ट्रियन कल्चर', साएआ. 1979, 1981 भी देखें ।
69. लैंबर्ग कार्लोव्स्की, 'ट्रेड मकैनिज्म इन इंडस मेसोपोटामियन इंटररिलेशन्स', 1982; गुप्त, 1979, आदि ।
70. डॉ. गुप्त ने रूसी पुरातत्वविदों में वी. एम. मैसन, 'दि अर्बन रिवोल्यूशन इन सदर्न तुर्कमीनिया', ऐंटीक्विटी, 42, 167, सितं. 1968; ए. वाई. श्केतेंको, 'दि प्राब्लम ऑफ़ ऐब्सोल्यूट क्रॉनोलॉजी ऑफ़ दि हड़प्पन कल्चर', ऐंथ्रोपॉलॉजी ऑफ़ दि ओल्ड ऐंड न्यू वर्ल्ड, मास्को, 1966; बी. ए. लितविन्स्की, नमज़्गा देपे, सोवेत्स्काया एथनोग्राफ़िया, 4, आदि का हवाला दिया है ।
71. शशि अस्थाना लिखती हैं, 'यद्यपि ईरानी साहित्यिक स्रोतों के अनुसार लाजवर्द के स्रोत स्थल अज़रबैजान के माजन्दरान और दिज़मार तथा किरमान की खानें हैं, भूगर्भ वैज्ञानिक सर्वेक्षण रिपोर्टों में इस विषय में बिलकुल खामोशी पायी जाती है ।" अस्थाना, 1982, 272.
72. चिप्स फ्रॉम ए जर्मन वर्कशाप, 1, 1967, 85-86.
73. मैक्समूलर, सिलेक्टेड एसेज़ ऑन लैंग्वेज, माइथॉलॉजी ऐंड रिलिजन, 1881, 1;"आर्यन वर्ड्स आकरिंग इन ज़ेंद बट नाट इन संस्कृत",टिप्पणी डी, 227-28.
74. दि ज़ेन्द अवेस्ता, भाग 1, सैबुईसी., 4, 36-37.
75. वही । डारमेस्टेटर इस पहलू को आगे और स्पष्ट करते हैं, "अवेस्ता के मूल पाठ पारसियों द्वारा नहीं लिखे गये थे, क्योंकि ये एक ऐसी भाषा में हैं जो फ़ारस में प्रयोग नहीं की जाती थी, इनमें कुछ ऐसी रीतियों का विधान है जो फ़ारस के लिए अज्ञात थे, और कुछ ऐसी रीतियों का निषेध है जो फ़ारस में प्रचलित थीं । ये मीदिया में रचे गये थे...मीदिया की भाषा में...।" पृ. 52; एक अन्य स्थल पर वह लिखते हैं, "...वास्तव में ईरान में दो धर्म थे, एक आम जनता का और दूसरा पुरोहितों का । अवेस्ता मूलतः मागियों का पवित्र ग्रन्थ था ।...अब हम यह समझ सकते हैं कि फ़ारस का धर्मग्रन्थ ग़ैर-फ़ारसी भाषा में क्यों कर लिखा गया; यह इसके रचनाकारों, मागियों,

की भाषा में लिखा गया था जो ग़ैर-फ़ारसी थे।" 46.

76. हर्ज़फील्ड, ज़ोरास्टर ऐंड हिज़ वर्ल्ड, 1947, 1, 162 देखें, फरवरदीन यस्त, 25वाँ भी।
77. हर्ज़फील्ड, वही।
78. वही, 155.
79. वही, 652.
80. हर्ज़फील्ड, ज़ोरास्टर ऐंड हिज़ वर्ल्ड, 2, 1947, 330.
81. मार्शल, पूर्व, 29; अस्थाना, पूर्व., 1979, 55 तथा 1982, 271; हेस्केल, 'ईरान ऐंड इंडस वैली कनेक्शन्स : ए रिवैल्युएशन', फंइंसि., 1984, 333-46.
82. मैक्समूलर, पूर्व., 1881, 227.
83. ऋ. 8.25.22.
84. ऋ. 10.72.1-3.
85. काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, 4, 1973, 331.
86. मारिजा जिबुतास, "प्रोटो-इंडो-यूरोपियन कल्चर : दि कुर्गन कल्चर ड्यूरिंग फ़िफ्थ, फ़ोर्थ ऐंड थर्ड मिलीनिया बी. सी.", इण्डो-यूरोपियन ऐंड इण्डो-यूरोपियन्स, 1970, 181-82.
87. सुनीति कुमार चाटुर्ज्या, वाल्ट्स ऐंड आर्यन्स इन देयर इंडो-यूरोपियन बैकग्राउंड, 1968, 3.
88. वही, 23-24.
89. मैक्मूलर, दि साइंस ऑफ़ लैंग्वेज, 1891, 185.

किसी परम्परा को एक झटके में ख़ारिज़ करते हुए अपनी मनमानी व्याख्या को लादने के एक अन्य नमूने को सामने रखने पर डॉ. चाटुर्ज्या के मन्तव्य की निस्सारता सामने आ जायेगी। मैक्समूलर लिखते हैं, "हम देख चुके हैं कि भारत की भाषा और इसकी बोलियों का इतिहास अपने उत्तरवर्ती कालों में लगभग किसी भी अन्य भाषा की तुलना में अधिक पूर्ण (कंप्लीट) है। फिर भी इस भाषा और यूनान व रोम की क्लासिकी भाषाओं से इसकी विस्मयकारी समानता की खोज से इतनी हैरानी पैदा हुई कि पिछली शताब्दी के कतिपय विद्वानों ने इसकी ऐतिहासिक वास्तविकता को मानने से ही इनकार कर दिया और यह आरोप लगाया कि हिन्दुस्तान के धूर्त ब्राह्मणों ने अपने विजेताओं को धोखा देने के लिए इसे गढ़ लिया है। डग्लस स्टीवर्ट ने अपनी पुस्तक 'कंजेक्चर्स कंसर्निंग दि ओरिजिन ऑफ़ दि संस्कृत' में अपने विचारों को जितने उग्र रूप में रखा था उतने उग्र रूप में अन्य किसी ने नहीं।"

क्या डगलस स्टीवर्ट ने जो काम संस्कृत के विषय में किया था वही काम अपनी अविचेतित उक्ति के द्वारा डॉ. चाटुर्ज्या, या यदि यह राय किन्हीं अन्य विद्वानों की राय का निचोड़ हो तो वे विद्वान, बाल्ट कवियों और बाल्ट परम्परा के विषय में नहीं कर रहे थे ? निश्चय ही इस बार इन कवियों और लेखकों को 'धूर्त' न कहकर 'अविवेकी और भावुक' बताया जा रहा था, पर उद्देश्य दोनों मामलों में एक ही माना जा रहा था, अपनी हीनता-ग्रन्थि से उबरने का प्रयत्न।

90. टिल अलैक्ज़ेंडर, दि ग्रीक्स, 1961, 17.
91. टी. बरो, दि संस्कृत लैंग्वेज, 1955, 15.
92. वही, 10.
93. देखें, डेविड डिरिंजर, दि अल्फाबेट, 1968, 42-43 तथा 116-19.
94. सुनीति कुमार चाटुर्ज्या, पूर्व., 1968, 99-100.
95. ओ. श्रेडर, प्री-हिस्टारिक ऐंटीक्विटीज़ ऑफ़ दि आर्यन पीपुल्स, 1890, अं. अनु. फ्रैंक बायरन येवन्स, 1972 सं., 335-36.
96. वही, 19.
97. रिकमांड लेटिमोर, दि ईलियड ऑफ़ होमर, 1962, भूमिका, 419.
98. टिल अलैक्ज़ेंडर, पूर्व., 20.
99. वही, 20-23.
100. ऐंटनी ऐंड्रयूज, दि ग्रीक्स, 1967, 33.
101. एम. आई. फ़ाइन डे, दि ऐंश्येंट ग्रीक्स, 1963, 1.
102. ऐंटनी ऐंड्रयूज, पूर्व., 1967, 17-18,
103. स्मरण रहे कि होमर ने जिस भाषा में अपनी कृतियों की रचना की वह यूयान की नहीं अपितु एशियाई तट-प्रान्त की भाषा थी। होमर स्वयं भी एशियाई ग्रीक थे। देखें लेटिमोर, 1962, भूमिका।
104. बरो, पूर्व., 1955, 17; जहाँ इस प्रकार के विभाजन को अतिवादी मानते हैं, वहाँ चाटुर्ज्या, पूर्व., 1968, 5 इसी तरह का विभाजन प्रस्तुत करते हैं।
105. कोसम्बी, 1965, 77.
106. बट कृष्ण घोष, 'दि ओरिजिन ऑफ़ इंडो-आर्यन्स', दि कल्चरल हेरिटेज ऑफ़ इंडिया, 1, 1928, 141.
107. अरुण केसरवानी, दि प्राब्लम ऑफ़ इंडो-आर्यन ऐंड दि वेस्ट एशियन डाकुमेंट्स विद रेफरेंस टु बोगाजकुई टैब्लेट्स ऐंड किक्कुली टेक्स्ट, ऋतम्भरा, सं. के.सी. वर्मा आदि, 1986, 128-33.
108. वूली, दि सुमेरियन्स, 1928, 189.

109. हेरास, 'सुमेरियन एपिग्राफ़ी', दि न्यूज़ रिव्यू, 1937, 5, 295-62; 'दि प्रोटो-इंडियन ओरिजिन ऑफ़ दि सुमेरियन सिविलाइज़ेशन', पणिक्कर षष्ट्याब्दपूर्ति सॉवेनियर, 1954, 120-29, आदि।
110. कुल्ली आदि की ओर भी संकेत बहुत दबे रूप में ही किये जाते रहे हैं, जिसका कारण भी स्पष्ट था। देखें, चाइल्ड, ह्वाट हैपंड इन हिस्ट्री, 1942, 1978 सं., 97-120; ए. एल. बैशम, 1967, 14 आदि।
111. सैग्स, दि ग्रेटनेस दैट वाज़ बेबीलोन, 1962, 32.
112. वही, 33.
113. वही।
114. सैग्स, वही; पिगट, प्रीहिस्टारिक इंडिया टु 1000 बी.सी., 1950, 210; चाइल्ड, पूर्व., 137, आदि।
115. सैग्स, 1962, 32.
116. देखें, ज्यॉं क्लाड मार्गेरॉं, मेसोपोटामिया, अनु. एच. एस. बी. हैरिसन, 1965, 68., जो मानते हैं कि इस बात की अधिक संभावना है कि योद्धाओं के एक छोटे से जत्थे ने आक्रमण किया और पहले ऊर और उरुक में बसे, जहां काफ़ी लम्बे समय तक रहकर अपनी स्थिति मजबूत करने के बाद ये अपना प्रभाव क्रमशः उत्तर की ओर बढ़ाते गये।
117. विल डुरांट, पूर्व., 134.
118. बाइबिल, जेनेसिस, 11.2-4.
119. वूली, एक्सकैवेशन्स ऐट ऊर, 1935, 30-33.
120. ह्वीलर, पूर्व., 1953, 59.
121. बैशम, पूर्व., 14.
122. अथर्व. 5.13.6-11.
123. पी.एम. जोशी, 'फ़र्दर इंडिया', रिव्यू ऑफ़ इंडोलॉजिकल रिसर्च इन दि लास्ट 75 ईयर्स, 289.
124. ऐडम्स, 'इनवेज़न, डिफ्यूजन, इवोल्यूशन?' ऐंटीक्विटी, 42, 167, 1968, 205; थापर 'दि आर्यन्स: ए रिऐप्रेज़ल ऑफ़ दि प्राब्लम, इंकावथाक', 1970, 147-64, गुप्त, पूर्व., 1979, 2, एपीलॉग; ख़ान, 'आर्कियॉलॉजी इन पाकिस्तान', एक्सपेडीशन, 6, 3, 1964, 2-11, आदि।
125. देखें, सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, पूर्व., 1968, 5-6; प्राणनाथ, 'न्यू लाइट ऑन दि आर्यन्स बिफ़ोर 1000 बी. सी. : डिड इंडियाज़ कल्चर कम फ्रॉम बेबीलोनिया? ऋग्वेद ए सुमेरियन डाक्युमेंट?' इवीइं., जुलाई 7, 1935, 15-36; 'वाज़ इंडिया कोलोनाइज्ड फ्रॉम ईजिप्ट?', वही, अगस्त 18,17

व 67; 'वाज़ प्रीहिस्टारिक ईजिप्ट इंडिबाज़ ऐन्सेस्टर ?' वन फ़िफ्थ ऑफ़ दि ऋग्वेद कम्स फ्रॉम नाइल', वही, अगस्त, 4, 1935, 16 व 71; 'डिड हिन्दुइज्म बिगिन इन ईजिप्ट ऐंड बेबीलोनिया ?' वही, दिस. 3, 1935, 35, 69, 77; 'सुमेरो ईजिप्शियन ओरिजिन ऑफ़ आर्यन्स ऐंड दि ऋग्वेद', जबहियू., 1, 303-58, आदि। मैकाय, 'सुमेरियन कनेक्शन्स विद ऐंश्येंट इंडिया', जराएसो., 1925, 679-701; 'फ़र्दर लिंक्स बिटविन ऐंश्येंट सिंध, सुमेर ऐंड एल्सह्वेयर', ऐंटीक्विटी, 5, 1931, 459-73; 'ऐन इंपार्टेंट लिंक बिटविन ऐंश्येंट इंडिया ऐंड एलाम', ऐंटीक्विटी, 6, 1932, 356-67; वैडेल, इंडो-सुमेरियन सील्स डिसाइफर्ड, 1925, आदि भी।

126. देखें, टी. बरो, दि संस्कृत लैंग्वेज, 1955, 27-29.

127. कीथ, 'बेबीलोन ऐंड इंडिया', कुप्पूस्वामी शास्त्री कमे. वाल्यूम, 67-70.

128. बैशम, 1967, 20.

अध्याय छह

नगर सभ्यता का उदय

हड़प्पा सभ्यता की पृष्ठभूमि, वैदिक या हड़प्पा सभ्यता के क्रमिक विकास और आर्य भाषा और संस्कृति के प्रसार की छान-बीन करते हुए हम जिन निष्कर्षों पर पहुँचते हैं वे जितने विस्मयकारी हैं उतने ही उत्तेजक भी। ये निष्कर्ष प्रचलित मान्यताओं के इतने विपरीत पड़ते हैं कि हमारी पहली प्रतिक्रिया इनको एक बार को नकार कर मुक्ति पाने की ही होती है। कहाँ तो जिन आर्यों को हम जानते थे वे उस समय भी अर्धबर्बर, अर्ध-यायावर, पशुपालक और खेती से नाम मात्र को परिचित थे और शहरों से तो उन्हें खास चिढ़ थी, जब मिस्र, पश्चिम एशिया और भारत में नगर सभ्यता अपने वैभव पर पहुँची हुई थी, और कहाँ वे स्वयं नगर सभ्यता के सर्जक बनकर सामने आते है !

इस जटिल समस्या पर एक बार पुनः विचार कर लेना उचित होगा। सबसे पहले हम अपनी चर्चा को जिज्ञासा के रूप में ही रखें—क्या यह सम्भव है कि एक बार नगर सभ्यता का उदय हो जाने के बाद भी कोई मात्र किसान होने का दावा करके सामाजिक श्रेष्ठता का अधिकारी हो सकता था ? यदि आर्य का शाब्दिक अर्थ किसान ही था और इस समाज का ठिकाना गाँवों तक ही सीमित था तो भारत से लेकर ईरान तक और उससे आगे भी क्या नगर सभ्यताओं के रू-ब-रू ये किसान श्रेष्ठ, शिष्ट और आदरणीय माने जा सकते थे ? हम जो कुछ जानते हैं वह यह कि ग्राम्य, गँवार, उजड्ड (ऊजड़ या विरल आवादी के क्षेत्र का निवासी), प्राकृत, वल्गर, रस्टिक, आदि शब्दों को सर्वत्र अज्ञान, पिछड़ेपन और संस्कारहीनता के लिए प्रयोग में लाया जाता रहा है और नागर, पौर, सिविलाइज्ड, आदि का सम्बन्ध नगर और संस्कार से रहा है। नगर सभ्यता के उदय से पूर्व निश्चय ही किसानों को श्रेष्ठ माना जा सकता था, पर इसके उदय के बाद भी क्या ग्राम्यत्व को दोष के स्थान पर गुण समझा जा सकता था और किसानों को

नागरों और पौरों से ऊँचा दर्जा दिया जा सकता था ? फिर, किसानों की नज़र में चरवाहे और भी उजड्ड माने जाते हैं। उनकी चरवाही का डंडा ही यदि उद्दंड—डंडा उठाये चलने वाला—का कारण बना हो तो कोई आश्चर्य नहीं। फिर यदि वैदिक आर्य कृषि से भी नाम मात्र को ही परिचित थे तो क्या हम यहाँ कृषि-क्रान्ति के आदिम चरण की बात कर रहे हैं जिसमें कृषि से नाम मात्र को परिचित होने पर भी कोई अपने को किसान कहकर दूसरों से अपनी श्रेष्ठता का दावा कर सकता था ? यदि हाँ, तो क्या आर्य शब्द स्वत: इस बात का द्योतक नहीं कि अपने लिए इस शब्द का प्रयोग करने वालों ने ही कृषि-क्रान्ति की थी और तब से यह नाम उनके साथ श्रेष्ठता का सूचक बन कर जुड़ा रह गया ? यदि नहीं, तो क्या उस चरण में जब दूसरे लोग कृषि के मामले में उनसे आगे बढ़े हुए थे, कृषि के मामले में अपने पिछड़ेपन के बावजूद वे अपने को उनसे श्रेष्ठ मान सकते थे ? अत: यदि हम अन्य बातों को छोड़कर केवल आर्य शब्द पर ही ध्यान दें तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि कृषि के विकास में अग्रणी भूमिका इनकी ही थी और नगर सभ्यता के दौर में और इसके बाद भी यह शब्द यदि श्रेष्ठता का सूचक बना रह गया था तो इस दौर में अपने लिए इस शब्द का प्रयोग करने वाले नगर सभ्यता से जुड़े हुए थे।

नगर सभ्यता के उदय की समस्या किसी जाति से नहीं, अपितु क्षेत्र विशेष के पर्यावरण और वहाँ के सामाजिक व आर्थिक परिवर्तनों से जुड़ी हुई है। परन्तु अभी तक पुरातात्विक खोजों के आधार पर मेसोपोटामियाई तथा हड़प्पा सभ्यता की ठीक पूर्ववर्ती कड़ियों की सर्वमान्य खोज नहीं की जा सकी है। न तो मेसोपोटामिया और मिस्री सभ्यताओं की पूर्ववर्ती कड़ियाँ खाड़ी क्षेत्र में हैं, न ही हड़प्पा की पूर्ववर्ती कड़ी इन दोनों में निहित है। विल डुरांट लिखते हैं कि इस सवाल का जवाब नहीं दिया जा सकता कि सभ्यता का आरम्भ कहाँ हुआ।[1] फ्रैंकफ़र्ट मिस्री और मेसोपोटामियाई सभ्यताओं की उत्पत्ति पर विचार करते हुए स्वीकार करते हैं कि ये दोनों सभ्यताएँ बनी-बनायी कहीं बाहर से यहाँ लायी गयी थीं और कुछ ही पीढ़ियों के भीतर इन्होंने अपना स्वविशिष्ट चरित्र ग्रहण कर लिया था। इनका उदय न तो मन्द गति से हुआ था, न क्रमिक चरणों में, बल्कि सब कुछ एक झटके में आपात की तरह आ धमका था।[2] वह स्वीकार करते हैं कि सभ्यताओं के उदय की खोज करते समय सारा झाड़-झंखाड़ काटने-छाँटने के बाद भी सभ्यता की जड़ों का पता नहीं चलता; सिर्फ इसका तना ही दिखायी देता है।[3] हताशा का आलम यह है कि पुरातात्विक साक्ष्यों पर एकान्त निर्भरता को भी आज सन्देह की दृष्टि से देखा जाने लगा है। उदारहण के लिए ऐडम्स लिखते हैं, "जैसा कि अनेक लोगों ने सुझाया है, पुरातत्व से इतिहास की पुनर्सर्जना सम्भावनाओं के बीच ताल-मेल बैठाने से अधिक कुछ हो ही नहीं सकती; प्रमाण जैसी कोई चीज़ नहीं होती।"[4]

विगत दो दशकों में हुए अध्ययनों से यह स्पष्ट होने लगा है कि नगर सभ्यता के उदय से ठीक पूर्व आर्थिक अन्तर्क्रिया का एक ऐसा दायरा बन गया था जिसमें अनेक क्षेत्रों के लोग परस्पर मिलने और वस्तुओं का विनिमय करने लगे थे, जैसे दक्षिणी ईरान की पत्थर की वस्तुएँ भारत में और भारत की पत्थर और सीपी की वस्तुएँ ईरान जाने लगी थीं। लैंबर्ग-कार्लोव्स्की लिखते हैं, "जिन अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिदर्शों ने सुमेर, एलाम, फ़ारस की खाड़ी, सीस्तान की 'हेलमन्द सभ्यता', तुर्कमीनिस्तान, बलूचिस्तान और सिन्धु घाटी को एक सूत्र में जोड़ रखा था उनको आज भी बहुत कम ही समझा जा सका है। परन्तु अब यह अधिकाधिक स्पष्ट होता जा रहा है कि किसी एक क्षेत्र में शहरीकरण की प्रक्रिया को इससे जुड़े हुए दूसरे क्षेत्रों के अभाव में समझा ही नहीं जा सकता।"[5] और फिर, नवोदित पृथक राज्य-प्रणालियों की खोज करने के लिए सर्वेक्षण करने वाले तथा पुरातात्विक खनन कार्य में लगे हुए अपने सहकर्मियों को सलाह देते हैं कि वे अपने पाँवों के सटे दायरे से आगे भी देखने का (दु लुक बियांड दि होराइज़न ऑफ़ आवर ओन फ़ीट) प्रयत्न करें।[6]

वास्तविकता यह है कि नगर सभ्यता का उदय, इस भ्रम के विपरीत कि आर्यों का सभ्यता से, विशेषतः नगर सभ्यता से कोई सम्बन्ध नहीं था, आर्य सभ्यता के उदय से अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। नगर सभ्यता के उदय और आरम्भिक विकास को समझने में पेश आने वाली कठिनाइयों में क्या सबसे बड़ी कठिनाई यह नहीं है कि जिस क्षेत्र और जिन जनों का इसमें सबसे अधिक योगदान रहा है उनको छोड़कर इसकी तलाश हर ऐसे कोने में की जाती रही जहाँ इसको न तो पाया जा सकता था, न ही आज तक पाया जा सका है?

1
भारत की स्वविशिष्ट स्थिति

कोई भी क्षेत्र या देश कुछ निश्चित भौगोलिक परिस्थितियों में बँधा होता है और इसके इतिहास को भूगोल से पूरी तरह काटकर नहीं देखा जा सकता है। कारण, इसी से उन शक्यताओं और सीमाओं का निर्धारण होता है जिनका उस क्षेत्र के भौतिक जीवन और सांस्कृतिक उपलब्धियों से गहरा सम्बन्ध होता है। परन्तु इन भौतिक परिस्थितियों का मूल्यांकन भी यदि निहित उद्देश्यों को अग्रता देकर किया जाये तो हम ठीक उन्हीं भूमिकाओं और शक्तियों का निषेध कर सकते हैं जो उसमें सबसे प्रधान रूप से पायी जाती हैं। इसकी एक ज्वलन्त मिसाल भारत है।

विश्व सभ्यता के विकास में भारत के अपने योगदान का मूल्यांकन इस विवरण के साथ आरम्भ होता है कि उत्तर और पश्चिम से अलंघ्य पर्वत-मालाओं से और दक्षिण में समुद्र से घिरा होने के कारण, भारत शेष जगत से बिलकुल कटा-छँटा रहा है। यह ऐसे विलक्षण भले देशों में से एक रहा है जिन्हें जगत-गति नहीं व्यापती। भारतीय अलगाव को रेखांकित करने के लिए इसे प्रायः उपमहाद्वीप की संज्ञा दी जाती है। परम्परावादी शुद्धिवादियों से लेकर आधुनिक चेतना से सम्पन्न विचारकों और कवियों द्वारा भी इस पृथकता और असम्पृक्तता को प्रायः बिना सोचे-विचारे गौरव-मण्डित किया जाता है। प्राचीन भारत के विषय में इससे यह नतीजा निकाला जाता रहा है कि बाक़ी दुनिया से अलग-थलग रहने के कारण यहाँ की ज़िन्दगी अपनी मन्द-मन्थर गति से चलती रही है, जब कि इसके विपरीत पश्चिमी जगत हर कदम पर आगे छलाँग लगाता दिखाया जाता रहा है। वास्तविकता यह है कि पुरा-पाषाण काल से लेकर आज तक भारत दुनिया से कभी कटा-छँटा नहीं रहा और स्थायी बस्तियाँ बसने से पहले गंगा-सिन्धु क्षेत्र का भारत उस महा-अटन क्षेत्र का अंग था जिसका विस्तार यहाँ से लेकर मिस्र और भूमध्य सागर के तट तक था और इसके कुछ ऐसे अवशेष आज तक इस महा-अटन क्षेत्र में पाये जा सकते हैं जिन्हें देखकर हम चकित रह जायें, जैसे बान्तू क़बीलों द्वारा आज तक अरणि-मंथन से आग पैदा करने का चलन, जिसकी चर्चा हम मात्र किताबी रूप में वैदिक काल तक और वह भी आनुष्ठानिक अवसरों पर ही पाते हैं। सोहन संस्कृति, पूर्व-हड़प्पा की संस्कृतियाँ, हड़प्पा कालीन और उत्तर-हड़प्पा कालीन संस्कृतियाँ सभी भारत को किसी अलक्ष्य सम्पर्क सूत्र से पूर्वी ईरान और दक्षिणी मध्येशिया तक के विशाल क्षेत्र से अन्तर्क्रिया के सूत्रों से जुड़ा हुआ सिद्ध करती हैं।

वास्तविकता यह है कि इन दुर्लंघ्य पर्वतीय बाधाओं के नाम पर भारत को शेष जगत से बिलकुल कटा दिखाने वाले विद्वान स्वयं भी इसे कटा हुआ नहीं मानते रहे हैं। ऐसा कहते हुए भी वे यह दिखाने का बराबर प्रयत्न करते रहे हैं कि भारत प्रागैतिहासिक काल से ही पश्चिम की ओर से आने वाले आव्रजक क़बीलों और आक्रमणकारी जत्थों का शिकार होता आया है। कहें, आने वालों के लिए ये अलंघ्य पर्वतीय बाधाएँ कभी बाधा नहीं खड़ी करती रहीं। इनकी सारी रुकावट भारत से किसी भी रूप में किसी के बाहर जाने के समय ही पैदा होती रही है। इतिहासकार भारत को एक ऐसा अंधा कुआँ सिद्ध करते रहे हैं जिसमें आकर गिरने की सम्भावना तो किसी भी चीज के लिए हो सकती थी, पर इससे किसी चीज के बाहर निकलने का कोई सवाल ही नहीं पैदा होता था। ऐसी स्थिति में भारत सभ्यता के विकास में किसी भी चरण में पश्चिम को न तो कुछ दे सकता था, न ही दे पाया है। अतः यदि कहीं कोई भी ऐसे लक्षण भारत में किसी भी चरण पर पाये जाते हैं जिनका समरूप या प्रतिरूप पश्चिम में भी दिखायी देता

है तो इसका एकमात्र हल यह था कि यह पश्चिम से आया हो सकता है। भारतीय परिदृश्य की इस एकपक्षीय व्याख्या को, जिसका निषेध ऐतिहासिक प्रमाणों से भी होता है, 'अविवेकपूर्ण' कहा जाये या 'कदाशयतापूर्ण', यह तय करना कठिन है।

वास्तविकता यह है कि जिन पर्वतीय बाधाओं ने भारत को एक सुरक्षित दुर्ग बना रखा या उनके कारण ही भारत में शान्ति और व्यवस्था के दौर अपेक्षाकृत अधिक लम्बे रहे हैं जो विकास की एक शर्त है। यहाँ के मैदानी भाग की विशाल उर्वर धरती ने जो तुलनात्मक समृद्धि पैदा की थी उसके कारण विकास की सम्भावनाएँ यहाँ अधिक थीं और सामान्य सामाजिक वातावरण अन्य क्षेत्रों की तुलना में अधिक सह्य था। जिन क्षेत्रों में जीवन-निर्वाह की परिस्थितियाँ अधिक दारुण रही हैं वहाँ के लोग अपेक्षाकृत अधिक निष्ठुर और भावशून्य होने को बाध्य थे। जब हम शकों, हूणों और मंगोलों की क्रूरता को, उनके द्वारा मामूली कारणों से और, यदा-कदा, अकारण ही कत्लेआम के घृणित कृत्यों को देखते हैं तो यह कदापि नहीं भूलना चाहिए कि इसके पीछे उनकी धरती की आपेक्षिक अनुर्वरता और जन-सामान्य की बदहाली रही है और इसी क्रूरता को पराकाष्ठा पर पहुँचाकर उनके शासकों ने अपनी अभावग्रस्त जनता का बहुत निर्ममता से शोषण किया। इसके अभाव में वे अकूत समाधिकोश नहीं जमा हो सकते थे और वे क्रूर प्रथाएँ नहीं प्रचलित हो सकती थीं जिनकी पुष्टि सीथियन समाधियों से होती है। इसी तरह की क्रूरता के दर्शन हमें मिस्री और मेसोपोटामियोई क्षेत्रों में होते हैं, जिनके विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं। सीथियन समाधिकोश हों या मिस्री पिरामिड या बेबीलोनी जिगुरात, इन सबके पीछे जन-सामान्य के प्रति निर्ममता और दम्भ प्रदर्शन की वही मूर्खतापूर्ण झक देखी जा सकती है। कतिपय आश्चर्यजनक निर्मितियाँ किसी को सभ्य-सिद्ध करने के लिये पर्याप्त नहीं हैं।

वास्तविकता यह है कि भारत की ओर से पश्चिम की ओर जाने वाले दल मुख्यतः व्यापारियों के और इनके अतिरिक्त धर्मप्रचारकों के थे, जिनके साथ उन सांस्कृतिक तत्वों का भी निर्यात होता रहा जिनको सभ्यता का सार तत्व कहा जा सकता है। इसके विपरीत, इस्लामी आक्रमण से पहले भारत पर जो भी आक्रमण हुए उनको ऐतिहासिक घटना के रूप में तो पहचाना जा सकता है, पर भारतीय जीवन में परिलक्षित परिघटना(फ़िनोमिना)के रूप में नहीं; कारण, अपने प्रवेश के बाद कुछ दशकों के भीतर भारतीय चिन्तन और दर्शन तथा सभ्य जीवन के विविध क्षेत्रों की भारतीय समृद्धि उनको इस तरह अभिभूत कर जाती रही है कि उनका पृथक अस्तित्व तक लुप्त हो जाता रहा है।

यह सोचना एक जड़ता होगी कि दो भिन्न जीवन-पद्धतियों से जुड़े लोगों का किसी खास पैमाने पर मिलन हो और उनमें से कोई दूसरे से कुछ भी ग्रहण किये बिना रह जाये। परन्तु यदि तुलनात्मक मूल्यांकन का प्रश्न आये तो इस बात पर

रुक कर विचार करना ज़रूरी है कि भाषा, विश्वास, रीति, कथा, देववाद, कला-वस्तु, शिल्प और ज्ञान के विविध क्षेत्रों—चिकित्सा, दर्शन, गणित, ज्योतिष आदि—में किन चरणों में किसने किससे कितना लिया और उसके बदले में कितना कुछ दिया है। आगन्तुक आक्रमणकारियों ने कितना नष्ट किया और कितना गढ़ा। हड़प्पा सभ्यता की तुलना पश्चिमी सभ्यताओं से करते समय अध्येता इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि पश्चिमी एशिया के विभिन्न नगरों में भारतीय व्यापारियों की बस्तियाँ थीं, जहाँ वे अपने देवताओं की पूजा करते थे और अपने खास ढंग से रहते थे[7] जिसकी पुष्टि पुरातात्विक साक्ष्यों के अतिरिक्त वैदिक भाषा के पुरातन अवशेषों से भी होती है[8], पर भारत में वहाँ से क्या आता था यह अलक्ष्य ही रह जाता है। यह बात केवल पुरातात्विक साक्ष्यों तक ही सीमित नहीं है, अपितु इसे सभ्यता के अन्य नियामक तत्वों में में भी पाया जा सकता है। भारत को पश्चिम का योगदान किसी भी चरण के विषय में नितान्त विवादास्पद है, पर पश्चिम को भारत का योगदान कम-से-कम हड़प्पा काल से या, कहें, ऊर के तथाकथित प्लावन स्तर से पहले से स्पष्ट और अकाट्य रूप में दिखायी देता है।

2
वर्तमान स्थिति

भारतीय सभ्यता के अवदान या ऋण-स्वीकार का मूल्यांकन हड़प्पा सभ्यता के सन्दर्भ में ही किया जाता रहा है और इसमें बल सामान्यतः इस बात पर ही दिया जाता रहा है कि यह सभ्यता कैसे आरम्भ हुई हो सकती है और इससे पूर्व की ओर दृष्टि डालने का कोई कारण न देखकर बार-बार इससे पश्चिम की ओर से इसका सम्बन्ध जोड़ा जाता रहा है। पहले इसकी प्रेरणा का केन्द्र पूर्वी उत्तरी ईरान में तलाश किया जाता रहा और यदा-कदा तो इसके भी आगे बढ़कर इसे मेसोपोटामियाई प्रभाव में उदित सिद्ध करने के प्रयत्न होते रहे। अब इस विषय में किसी को किसी प्रकार का सन्देह नहीं रह गया है कि मेसोपोटामिया का हड़प्पा सभ्यता के विकास में कोई योगदान नहीं था, पर ईरान को एक सम्भावित प्रेरक क्षेत्र का स्थान देने वाले विद्वानों की कमी नहीं है।[9]

दूसरी ओर, यह विचार व्यक्त किया जाता है कि दक्षिणी तुर्कमीनिया, सीस्तान, दक्षिणी अफ़ग़ानिस्तान और बलूचिस्तान का कुछ भाग तीसरी सहस्राब्दी के आरम्भ में एक गहन अन्तर्क्रिया के सूत्र में बँधे थे और इनसे लेकर सिन्धु घाटी तक कुछ आदान-प्रदान चलता दिखायी देता है जिसकी प्रकृति को ठीक-ठीक नियत कर पाना कठिन है। ऐसे में सम्भव है, इस क्षेत्र में सभ्यता का प्रसार करने में दक्षिणी तुर्कमीनिया का कुछ हाथ रहा हो। जब इसे तार्किक परिणति पर पहुँचा

दिया जाता है तब यह प्रस्ताव भी रख दिया जाता है कि तुर्कमीनिया—तेजेन मुहाना और आमू दरिया क्षेत्र—से कुछ लोगों का संचलन तीसरी सहस्राब्दी के आरम्भ या चौथी सहस्राब्दी के अन्त में सिन्धु-गंगा के मैदान में हुआ हो सकता है और उन्हीं के माध्यम से यहाँ कृषि आरम्भ हुई और कृषिजन्य समृद्धि पैदा हुई हो हो सकती है, जिसने बहुत जल्द नगर सभ्यता का रूप ले लिया होगा।[10]

इस तरह की सोच अटकलबाज़ी की देन है और यह अध्येताओं की अपनी उलझन को प्रकट करती है। जैसा कि फ्रांसीसी पुरातत्ववेत्ता जैरिज ने कहा है, जिन सादृश्यों के आधार पर यह सरलीकरण किया गया है उनसे प्रकट होता है कि इन दोनों क्षेत्रों के बीच लेन-देन उभय-पक्षीय था और ऐसी स्थिति में यह किसी एक क्षेत्र से उसके निवासियों के आने का सूचक नहीं है।[11] यह आने-जाने या, कहें, व्यापारिक यात्राओं के चलते ही सम्भव हो सकता था और इस स्थिति में हमें देखना यह होगा कि जिन बस्तियों के प्रमाण पाकर हम इस सम्पर्क में तुर्कमीनिया की पहल स्वीकार करते हैं, क्या उनका आकार इतना बड़ा और अपना ढाँचा इतना जटिल है कि उनको अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में पहल का श्रेय दिया जा सके ?

अब इसको ध्यान में रखकर यह सुझाव दिया जाने लगा है कि सिन्धु सभ्यता का उदय कच्छी मैदान में हुआ हो सकता है। भारतीय नगर सभ्यता की जड़ें भारत में हो सकती हैं, यह बात अब दिनोदिन अधिक साफ़ होती जा रही है।

इस चर्चा को आगे बढ़ाने से पहले विकास की प्रकृति पर विचार करना अधिक आवश्यक है।

3

विकास की प्रकृति

विश्व-इतिहास के विषय में हमें जो बातें मोटे तौर पर ज्ञात है उनके आधार पर हम कह सकते हैं कि किसी नव-प्रवर्तन का सम्बन्ध किसी जाति से नहीं है, पर परिस्थिति विशेष से इसका गहरा सम्बन्ध है। पर हम किसी भी परिस्थिति को इतनी आदर्श नहीं मान सकते जो युगयुगान्तर तक नव-प्रवर्तनों और विकासों का केन्द्र बनी रहे। अतः सभ्यता के केन्द्र निरन्तर बदलते रहते हैं, यद्यपि प्राचीन कालों में इन केन्द्रों के बदलने में अपेक्षाकृत अधिक लम्बा समय लगा करता था। इसी का दूसरा रूप यह है कि विकास के एक चरण पर आगे बढ़ा हुआ क्षेत्र अगले चरणों पर भी आगे ही रहे, यह जरूरी नहीं। इसकी उपलब्धियों के प्रसार-क्षेत्र में कोई भी अगले विकासों का केन्द्र बन सकता है। यही नहीं, जिस

दौर में कोई क्षेत्र शेष से आगे बढ़ा होता है उस दौर में भी कुछ विशेष मामलों में वह उस क्षेत्र से कुछ बातें सीखता रह सकता है जिनको यह अधिक गहन रूप में प्रभावित कर रहा है।

यह एक निर्विवाद तथ्य है कि कोई विकास निपट एकाकीपन में नहीं होता। यह सम्पर्क की गहनता पर निर्भर करता है। अत: गाँवों की तुलना में नगरों में और छोटे नगरों की तुलना में महानगरों में नये विकासों की सम्भावना अधिक होती है। सम्पर्क की गहनता का अर्थ है सम्पर्क के दायरे का बड़ा होना, संचार के माध्यमों का प्रखर होना और वातावरण का अनुकूल होना।

यह एक सर्वविदित बात है कि इतिहास में हम ज्यों-ज्यों पीछे लौटते हैं विकास की दर अधिकाधिक मन्द होती जाती है और एक विन्दु पर यह मन्दता इतनी बढ़ जाती है कि लगता है यहाँ कोई परिवर्तन घटित ही नहीं हो रहा है। शेष जगत से अलग-थलग रहने वाले जनों में आज भी घोर मन्दता या ठहराव की-सी ही स्थिति दिखायी देती है और इनकी जड़ता का टूटना भी बाह्य जगत से इनके सम्पर्क के अनुपात में ही होता है। साथ ही यह भी कि प्राचीन कालों में भी विकास की गति उन क्षेत्रों में ही अधिक प्रखर रही हो सकती है जहाँ अधिक बड़े प्रसार-क्षेत्र में सम्पर्क की सम्भावना रही हो और ऐसे क्षेत्र जो परस्पर विच्छिन्न रहे हैं, अपने विकासों के लिए उन गहन सम्पर्क के क्षेत्रों की तुलना में न केवल पीछे रहे हैं अपितु अपने अधिकांश विकासों के मामले में इन सघन सम्पर्क-क्षेत्रों से अपने सम्पर्क की सघनता या विरलता के ही अनुरूप रहे हैं।

अपने पूरे इतिहास में हम पाते हैं कि मैदानी क्षेत्रों में जहाँ विविध माध्यमों से आवागमन अधिक आसान रहा है और किसी तरह की व्यवस्था कायम करना अधिक सुकर रहा है, वहीं इनमें अपेक्षाकृत अधिक बड़े क्षेत्र में सम्पर्क भी बना रहा है और यह अपने समय को देखते हुए अधिक गहन रहा है। इसके विपरीत गहन जंगलों या अलंघ्य प्राकृतिक बाधाओं के कारण कटे हुए क्षेत्रों में ऐसा सम्भव नहीं था, अत: जंगली क़बीलों, दूरस्थ द्वीपों और पर्वतीय क्षेत्रों की बस्तियों में अपनी स्थानीय बाध्यताओं के कारण कपितय युक्तियों का विकास भले हो गया हो पर कोई ऐसा आविष्कार या विकास सम्भव नहीं दिखायी देता जिसका सार्वभौम महत्व हो। मैदानी क्षेत्र की सीमा पर पड़ने वाली गिरिपदीय बस्तियों के बीच परस्पर नगण्य सम्पर्क रहा है, ये प्राय: पर्वतीय क्षेत्र के निवासियों के लिए मैदानी क्षेत्र की वस्तुओं के विनिमय-केन्द्रों के रूप में विकसित हुई हैं और इसलिए इनमें मैदानी और पहाड़ी क्षेत्रों के कुछ तत्वों का मिश्रण पाया जाता है। इनका सम्पर्क अपने निकटस्थ मैदानी केन्द्र से उससे अधिक गहन रहा है जितना अपने समीपवर्ती अन्य गिरिपदीय स्थलों से। पहाड़ी क्षेत्र की बस्तियों के बीच आपसी सम्पर्क उससे भी अधिक क्षीण रहा है जितना गिरिपदीय बस्तियों में।

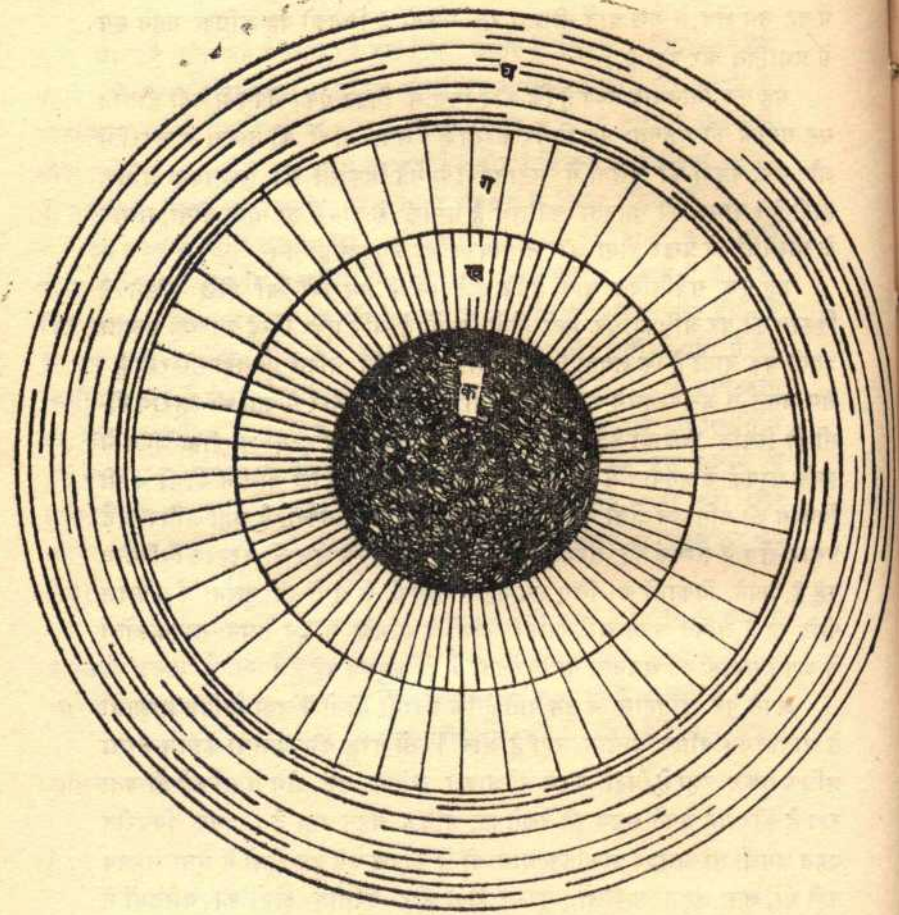

(क) मैदानी स्थल, सघन अन्तर्क्रिया के क्षेत्र, गहन सम्पर्क, अर्थ-व्यवस्था में वैविध्य, सुदूर स्थलों से सीधा सम्पर्क, स्थायी आवास।

(ख) गिरिपदीय स्थल—परस्पर कोई सम्पर्क नहीं। सीधा सम्बन्ध क और ग से। इनमें क और ग दोनों के कतिपय लक्षण पाये जा सकते हैं जिनके बीच ये सेतु का काम करते हैं।

(ग) पहाड़ी स्थल—परस्पर स्वल्प सम्पर्क, सीधे या ख के माध्यम से क से सम्पर्क। प्रायः क के दूरस्थ उपकेन्द्र—प्रमुख निवासी क के।

(घ) वन्य क्षेत्र—लघु क्षेत्रों में परस्पर गहन अन्तर्क्रिया। क, ख और ग से कटा हुआ या नाम मात्र को सम्पर्क, जिसमें भी पहल क की ओर से। घोर पिछड़ापन। पाषाणी सभ्यता के निकटतम।

पर जिन पर्वत शृंखलाओं को पार कर आगे जाने वाले यात्रापथ रहे हैं उनके किनारे पड़ने वाले कतिपय स्थलों का विकास बड़े पड़ावों के रूप में हुआ और इनमें भी मैदानी क्षेत्र की कतिपय उपलब्धियों को प्रतिबिम्बित देखा जा सकता है। दोनों पार्श्वों के बीच में होने के कारण इनमें कुछ का विकास गिरिपदीय बस्तियों की तुलना में अधिक उन्नत भी हो सकता था और कुछ का विकास इस स्तर तक भी सम्भव था कि कुछ मामलों में वे स्वयं भी पहल कर सकें। पर सामान्यत: एक-दूसरे से क्षीण सम्पर्क रखने के कारण और साथ ही सघन अन्तर्क्रिया वाले एक ही मैदानी क्षेत्र से सीधे सम्पर्क के कारण इनमें दो तरह की प्रवृत्तियाँ पायी जाती हैं—पारस्परिक सांस्कृतिक भिन्नताएँ और इसके बावजूद इन सभी में कुछ समान तत्वों की उपस्थिति।

उन विनाशकारी प्राकृतिक आपदाओं से अपेक्षाकृत मुक्त रहने के कारण जिन्हें मैदानी क्षेत्रों को झेलना पड़ा है, पर्वतीय और गिरिपदीय तथा रेगिस्तानी क्षेत्रों में भले ही स्थायी बस्ती और सांस्कृतिक विकास के कतिपय लक्षण मैदानी क्षेत्र की तुलना में हजारों वर्ष पीछे के बचे रहे गये हों, पर इनमें परिलक्षित विकास मैदानी क्षेत्र के विकासों के प्रतिबिम्बन मात्र हैं और इन्हें अपने समकालीन मैदानी केन्द्रों के विकासों का भी सही परिचायक नहीं माना जा सकता। इनको मैदानी क्षेत्र में अपेक्षाकृत बाद के अवशेषों में देखकर यह सोचना तो वास्तविकता को बिलकुल उलटकर देखने जैसा होगा कि मैदानी क्षेत्र के विकास इन्हीं के प्रभाव में हुए हैं। ऐसी स्थिति में जहाँ बलूचिस्तान की ग्राम-संस्कृतियों—दम्ब सादात, रहमान ढेरी, किले गुल मोहम्मद, राना गुंडाई, कुल्ली, कोटदीजी, शाही तम्प, गुमला आदि में कुछ ऐसे तत्व पाये जाते हैं जिनको हम आगे चलकर हड़प्पा के नगरों में पाते हैं तो इसका यह अर्थ नहीं कि इन संस्कृतियों ने मिल कर या इनमें से किसी ने हड़प्पा को प्रेरित किया, अपितु यह कि मैदानी क्षेत्र से हड़प्पा सभ्यता के उस काल के अवशेष अभी तक खोजे नहीं जा सके हैं जिनका क्षीण प्रतिबिम्ब इन संस्कृतियों में पाया जाता है और जो हड़प्पा सभ्यता के पूर्वज व्यापारियों के अड्डे रहे हो सकते हैं। कारण, ये लघु, परस्पर सम्पर्क से कटी हुई और स्पष्ट आंचलिक भिन्नताएँ रखने वाली, स्थानीय संसाधनों की दृष्टि से अकिंचन बस्तियाँ स्वतन्त्र रूप से ऐसे विकास नहीं कर सकती थीं जिनकी अपेक्षा व्यापक सम्पर्क और समृद्धि की स्थिति में ही की जा सकती है। इसी तरह विन्ध्य के पदतल में जिन स्थायी और अर्धस्थायी बस्तियों का इलाहाबाद, प्रतापगढ़, बनारस और मिर्जापुर के ज़िलों में पता चलता है उनके आधार पर यह सोचना ग़लत होगा कि इनसे उत्तर और पश्चिम के मैदानी क्षेत्रों में भी विकास का स्तर यही रहा होगा। यह याद रखना होगा कि विन्ध्य का पर्वतीय और पदतलीय क्षेत्र जिसमें प्रयाग तक का क्षेत्र आता है रामायण काल तक भी ऐसे क़बीलों का

ही क्षेत्र था जो मछियारी और सम्भवत: पशुपालन पर निर्भर करते थे, जब कि इससे उत्तर का क्षेत्र उन्नत अवस्था को पहुँचा हुआ था। इसके विपरीत सारन में गंगा के कछार से चिरन्द नामक स्थान से चौथी सहस्राब्दी ई. पू. के गेहूँ तथा अन्य खाद्यानों के प्रमाण मिले हैं जिनसे प्रकट होता है कि इस क्षेत्र में गेहूँ और धान की खेती होती थी और यह तिथि यद्यपि हमें बहुत पीछे नहीं ले जाती, पर इससे यह तो प्रकट होता ही है कि चौथी सहस्राब्दी ई. पू. में भी कृषि का प्रसार बिहार तक था और मैदानी क्षेत्रों में विधिवत खेती हो रही थी। यह क्रम कितने पहले से चला आ रहा था, इसके विषय में केवल अनुमान ही लगाये जा सकते हैं। यह भी ध्यान में रखना होगा कि यहाँ हमारा पाला गंगा के कछार के ठीक उसी क्षेत्र से पड़ रहा है जिसके विषय में आम धारणा यह रही है कि यह सघन जंगलों से घिरा ऐसा क्षेत्र था जिसकी सफ़ाई लोहे के कुल्हाड़े लेकर आने वाले आर्यों से पहले हो ही नहीं सकती थी। एक बड़ी नदी के कछार में, वह भी प्रचुर वर्षा और बाढ़ वाले भाग में, खेती का यह प्रमाण इस भ्रम को दूर करता है कि तीसरी सहस्राब्दी से पहले या हद-से-हद चौथी सहस्राब्दी की अन्तिम शताब्दियों से पहले सरस्वती और सिन्धु आदि के तट पर न तो बस्ती हो सकती थी, न खेती की जा सकती थी और कृषि का आनयन पश्चिम की ओर से ही सम्भव था।

निरे पुरातात्विक साक्ष्यों के आधार पर विचार करते समय एक भूल जो अक्सर की जाती है वह है स्थानीय शक्यता की उपेक्षा और उपलब्ध प्रमाणों में जो अब तक सबसे पुराना सिद्ध हो रहा है उसे ही इसका जनक और शेष को इससे प्रेरित मानने की भूल। यह भूल तब और अधिक ख़तरनाक रूप ले लेती है जब हम इस बात की सरासर उपेक्षा करते हुए कि विकास और समृद्धि के केन्द्र निरन्तर बदलते रहते हैं, हज़ारों वर्षों के दौरान हुए विकास को अपनी दृष्टि से अग्रणी माने हुए केन्द्रों या क्षेत्रों से ही प्रेरित और परिचालित मानते रहते हैं। जब हम नगर-सभ्यता के विकास पर विचार कर रहे हों तो कम-से-कम इतनी सूझ-बूझ का परिचय तो हमें देना ही चाहिए कि इसे कृषि के उदय और विकास से, जो इससे हज़ारों वर्ष पहले आरम्भ हुआ था, काट कर और इसकी अपनी अपेक्षाओं को सामने रखते हुए देखने का प्रयत्न करें।

3
शहरीकरण की पूर्वापेक्षाएँ

नगरों के साथ यद्यपि आर्थिक समृद्धि प्राय: देखने में आती है, पर शहरीकरण आर्थिक समृद्धि का दूसरा नाम नहीं है। इसी तरह ग्रामीण बस्तियों की तुलना में

नगरों में आबादी का अधिक बड़ा जमाव दिखायी देता है, पर आबादी की विशालता मात्र किसी नगर का लक्षण नहीं है। विशाल भवनों, अराधना के स्थलों आदि से भी इसे जोड़ना ग़लत है। यह ग्रामीण अर्थव्यवस्था से भिन्न एक ऐसी गुणात्मक छलांग है जिसके साथ उक्त तत्वों को तो पाया ही जाता है, साथ ही दूसरे दर्जनों लक्षण, जैसे व्यवयायों का विशेषीकरण, उत्पादन में दक्षता, नये आविष्कार, तकनीक, लेखन और गणना के संकेतों का प्रसार और इनकी शिक्षा, प्रशासनिक तन्त्र का विकास, मानों और बाटों का मानकीकरण, प्रतीक द्रव्यों का चलन, बस्ती की सुव्यवस्थित योजना, सामाजिक मूल्यों और आदर्शों की प्रतिष्ठा और शिष्टाचार के नियमों के पालन पर बल, सामूहिक भागीदारी में परिमाणगत और गुणात्मक अन्तर, आदि दिखायी देते हैं, पर ये सभी मात्र इसके लक्षण हैं, कारण नहीं। इन सभी विकासों के मूल में रही हैं आन्तरिक और बाह्य व्यापारिक गतिविधियाँ जिनके चलते ही क्रमशः नगरों का उदय हुआ और नये नगरों की स्थापना तथा पुराने नगरों के महत्व में अन्तर के पीछे आज तक मुख्यतः इन्हीं को काम करते देखा जा सकता है।

शहरीकरण की प्रक्रिया पर विचार करने वाले विद्वानों ने प्रायः इसके इक्के-दुक्के पहलुओं पर ही अधिक बल दिया है। उदाहरण के लिए, गोर्डन चाइल्ड लेखन को शहरीकरण का द्योतक मानते हैं[12] जिसे डॉ. गुप्त अनिवार्य नहीं मानते, पर व्यावसायिकता, सामूहिक व्यवहार और सार्वजनिक भवनों के निर्माण को शहरीकरण का सूचक अवश्य मानते हैं।[13] पर इसके प्रमुख कारण व्यापार और उद्योग की ओर ध्यान आकृष्ट किये जाने के बावजूद इसके महत्व का सही मूल्यांकन करने में प्रायः चूक होती रही है। उदाहरण के लिए, मुग़ल के विचार से हड़प्पा नगर-सभ्यता से पहले के सम्पर्क यायावर क़बीलों के कारण सम्भव दिखायी देते हैं।[14] अस्थाना मुग़ल से सहमति प्रकट करती हुई लिखती हैं कि हड़प्पा काल से पहले व्यापार की बात करना ही फ़िज़ूल है।[15]

वास्तविकता यह है कि व्यापार का आरम्भ नगरों के बसने के बाद नहीं हुआ अपितु व्यापारिक गतिविधियों में आयी प्रखरता ने ही नगर-सभ्यता को जन्म दिया और हमें ज्ञात परिपक्व हड़प्पा सभ्यता में नगरों का उदय होते नहीं दिखायी देता है, अपितु किन्हीं आपदाओं या अपरिहार्यताओं के कारण पहले से स्थापित नगर-केन्द्रों का वर्तमान स्थलों पर स्थानान्तरण होता दिखायी देता है। नगर-सभ्यता के उदय पर विचार करते समय पश्चिम एशिया के 'उर्वर अर्धचन्द्र' या भारत में गंगा से सिन्धु तक के 'स्वर्णिम उर्वर क्षेत्र' पर एकांगी बल देना भी ग़लत है। यद्यपि व्यापारिक गतिविधियों में तेज़ी का बहुत गहरा सम्बन्ध आर्थिक समृद्धि और अतिरिक्त उत्पादन के कुछ थोड़े-से लोगों के हाथ में सिमट आने से है, पर हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि नगर-केन्द्रों से न तो कभी खेती की जाती रही है, न ही वे इस

दृष्टि से सबसे उपयुक्त स्थल पर बसाये गये हैं। वे सदा से विपणन और वितरण और प्रशासन के ही केन्द्र रहे हैं। अतः नगरों की स्थापना में कृषि-जन्य समृद्धि की भूमिका परोक्ष रही है, प्रत्यक्ष और निर्णायक नहीं। नगरों की स्थापना में भी ठीक उस स्थल के निवासियों का—यदि इससे पहले वहाँ कोई छोटी-मोटी बस्ती रही भी हो तो—हाथ नहीं होता। इन स्थलों का चुनाव अपनी गतिविधियों के केन्द्र के रूप में, परिवहन की दृष्टि से इनके सुविधाजनक होने के कारण, उस अंचल के व्यापारियों द्वारा भी किया जा सकता है और सुदूर स्थलों के व्यापारियों द्वारा भी, पर किसानों द्वारा कदापि नहीं। इनकी उपयुक्तता इस बात पर निर्भर करती है कि इनके माध्यम से एक बड़े क्षेत्र से सम्पर्क रखा जा सकता है और उसमें अपना माल पहुँचाया जा सकता है। विशाल नदियों और समुद्र तट के कुछ विशेष स्थल इस विशेष दृष्टि से आज तक सबसे उपयुक्त रहे हैं। व्यापारिक गतिविधियों के लिए नौका और जलमार्गों का सफलतापूर्वक उपयोग आरम्भ करने से पहले, मनुष्य लम्बे समय तक भारवाही पशुओं की पीठ पर माल लाद कर स्थल मार्ग से क्रियाशील रहा होगा और नगर-केन्द्रों का भी आरम्भिक जमाव इस भाग में ही आरम्भ हुआ होगा। हम पहली बार जिन नगरों को देखते हैं वे जलमार्गों के उपयोग और नौकाओं और रथों के विकास के बाद की चीज़ हैं। कहें, हम इन्हें अपने आरम्भ से वर्षों बाद देख रहे हैं। ऐसे क्षेत्रों में जहाँ नदियों का अभाव रहा है या जहाँ जलमार्ग से पहुँचना सम्भव नहीं था, स्थल-मार्ग में पड़ने वाले ऐसे स्थल व्यापारिक केन्द्रों के रूप में विकसित हुए जहाँ से अनेक दिशाओं में अधिक सुकरता से पहुँचा जा सकता था। अफ़ग़ानिस्तान, बलूचिस्तान, ईरान और मध्येशिया की अधिकांश आद्य नगरीय या योजनाबद्ध बस्तियाँ और बाद के नगर ऐसे ही केन्द्र रहे हैं। परन्तु इन स्थलों के चुनाव की एक प्रधान शर्त थी यहाँ जल की उपलब्धता। कारण, जल के अभाव में बस्ती बसाना तो दूर, एक-दो दिन के लिए पड़ाव डालकर ठहर पाना भी सम्भव नहीं था। जल की सुलभता वाले इन आरम्भिक पड़ावों और बाद की बस्तियों के आस-पास यदि भूमि उपजाऊ मिल गयी तो कुछ खेती-बारी सम्भव थी। पड़ाव न तो किसी पहाड़ी की चोटी पर लगाये जा सकते थे न ही ढलान पर। इनके लिए स्थल का चुनाव करते सयय अपेक्षाकृत चौरस ज़मीन ही चुनी जा सकती थी, अतः जल की सुलभता के साथ चौरस ज़मीन पर बसे अड्डों और बस्तियों के साथ कमोबेश खेती सम्भव थी। भारवाही पशुओं के लिए चारे की उपलब्धता यहाँ तो सम्भवतः आरम्भ से थी जो स्थलमार्ग के पड़ावों की एक अनिवार्य शर्त थी। अब ऐसी बस्तियों में आरम्भ से ही कुछ शहरी लक्षणों को देखकर प्रायः यह भ्रम पाल लिया जाता है कि इन स्थलों पर एक अल्पतम स्तर का नागर विकास या आद्य नागर विकास इनमें होने वाली खेती और इससे उत्पन्न आपेक्षिक सम्पन्नता के कारण सम्भव हुआ, जो ठीक नहीं लगता।[16]

हमें यह स्मरण रखना होगा कि नगर के लिए किसी स्थल का उपजाऊ होना क़तई ज़रूरी नहीं है। यदि विनिमय और वितरण के लिए अनुकूल स्थितियाँ मौजूद हैं तो नगर किसी ऊसर, बंजर, चट्टानी या पहाड़ी स्थल पर भी बसाये जा सकते हैं—और तटवर्ती नगर तो चुनाव करके ऐसे ही स्थलों पर बसाये जाते रहे हैं जो उर्वरता की दृष्टि से कदापि आकर्षक नहीं थे। इन केन्द्रों का तेज़ या मन्द गति से विकास, अन्य केन्द्रों की तुलना में इनका आगे बढ़ जाना भी, मुख्यतः इसी बात पर निर्भर करता है कि इनसे कितने विशाल क्षेत्र में पहुँचा, अपना माल पहुँचाया और वहाँ का माल समेटा जा सकता है।

इसी तरह किन्हीं भी कारणों से व्यापारिक महत्व घट जाने या व्यापारिक आधार खण्डित हो जाने के बाद नगरों का पतन और विनाश होने लगता है। इस पहलू पर ध्यान न देने के कारण सारस्वत नगर-केन्द्रों और हड़प्पा के नगर केन्द्रों के पतन को समझने में तो कठिनाई पेश आती ही है, बौद्ध काल से ठीक पहले शहरीकरण के दूसरे दौर के पीछे काम करने वाले तर्क को समझने में भी उलझन पैदा होती है। जो लोग यह मानते हैं कि शहरीकरण का सम्बन्ध कृषि के उत्पादन से है उन्हें यह सिद्ध करना चाहिए कि हड़प्पा काल के बाद भारत में कृषि का आधार भी नष्ट हो गया था और इसका भी पुनः उदय शहरीकरण के दूसरे दौर के साथ हुआ। लोहे के आविष्कार से भी शहरीकरण को जोड़कर देखना ग़लत है। इसका निषेध तो इस बात से ही हो जाना चाहिए कि हड़प्पा के विशाल नगरों के लिए जो चीज़ ज़रूरी नहीं थी उसको इस दूसरे दौर का प्रधान कारण कैसे बनाया जा सकता है। अनेक विद्वानों ने इसका खण्डन तो किया है, पर सही कारण को रेखांकित करने में विफल रहे हैं।[17]

इसका यह मतलब नहीं कि कृषि उत्पादनों का और उन्नत तकनीक का नगर-सभ्यता के विकास से किसी तरह का सम्बन्ध नहीं है। सम्बन्ध है, पर यह प्रत्यक्ष न हो कर परोक्ष है। इसकी भूमिका पर इसके गुण और परिमाण को सामने रखते हुए ही विचार किया जाना चाहिए। मात्र कृषि-कर्म नहीं, अपितु कृषि का एक विशाल क्षेत्र में प्रसार और इसके लिए, अपने समय को देखते हुए, उन्नत तकनीक का प्रयोग जिससे भूमि का अधिकतम उपयोग अपेक्षाकृत कम श्रम से किया जा सकता था और इस प्रकार उत्पादकों की अपनी अपरिहार्य आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद कुछ अतिरिक्त बचा रहना और इस अतिरिक्त का अपेक्षाकृत थोड़े-से लोगों द्वारा खसोट लिया जाना और इस खसोट से उत्पन्न अनुपातहीन समृद्धि के निकास के लिए उनके द्वारा उपभोग, विलासिता और सौख्य के अनावश्यक उत्कृष्ट स्तरों और वस्तुओं की तलाश वाणिज्य और व्यापार का आधार बनी थी और इसमें होने वाली उत्तरोत्तर वृद्धि ने नगर-सभ्यता को जन्म दिया था। पर जहाँ पहल करने वाले देश के सन्दर्भ में कृषिजन्य समृद्धि अनिवार्य महत्व रखती थी वहाँ उन

दूसरे क्षेत्रों के सन्दर्भ में यह जरूरी नहीं थी जहाँ से अपने उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए विविध वस्तुओं का आनयन किया जा सकता था और इसके बावजूद इन क्षेत्रों में व्यापारिक केन्द्रों की स्थापना और एक अल्पतम सीमा तक इनका विकास सर्वथा सम्भव था। इसका एक उदाहरण दक्षिण-पूर्व एशिया के प्रायद्वीपीय और द्वीपीय क्षेत्र हैं जहाँ का समाज नितान्त पिछड़ी अवस्था में था और स्थायी बस्ती भी बसा कर नहीं रह रहा था, पर जहाँ के मसालों की वन्य उपज भारतीय व्यापारियों के आकर्षण का केन्द्र बनी थी और जिसके चलते उनसे व्यापारिक सम्पर्क कायम हुआ था और वहाँ आरम्भ में व्यापारिक अड्डे कायम हुए थे और फिर भारतीय व्यापारियों और नेताओं के द्वारा ही नगर-केन्द्र स्थापित किये गये थे।

जो भी हो, एक बार व्यापारिक दृष्टि से इन उपयुक्त स्थलों पर बस्ती आरम्भ हो जाने के बाद सुरक्षा की चिन्ता और सम्पन्नता की अभिव्यक्ति के दुहरे तकाजों से सुदृढ़ और विशाल भवनों का निर्माण, निर्विघ्न यातायात के लिए ऐसे चौड़े मार्गों का निर्माण जिनसे दोनों ओर से वाहन गुजर सकें, यथासम्भव प्रधान मार्ग का पक्का बनाया जाना, ताकि गर्मी में धूल और बरसात में कीचड़ और पानी के जमाव की समस्या न पैदा हो, बस्ती की सुरक्षा के लिए नगर-प्राचीर और तट-बन्ध का निर्माण, विपणन केन्द्र होने के कारण दूर-दूर के ग्राहकों का आवागमन, इनके लिए सुविधाओं और ठिकानों का विकास, क्रमशः जनसंख्या का जमाव, इस जमाव से उत्पन्न अन्य सामाजिक-आर्थिक और स्वच्छता आदि की समस्याएँ और इनको सुलझाने के लिए स्थानीय प्रशासन तन्त्र, सामाजिक व्यवहार तथा निर्माण और स्वच्छता आदि के विषय में नियमों का बन्धन और इनके उल्लंघन पर दण्ड-विधान, खेल-कूद और मनोरंजन के केन्द्रों और साधनों तथा खिलौनों का निर्माण, अपने माल को प्रतिस्पर्धियों की तुलना में अधिक अच्छा बनाने के लिए दस्तकारों में होड़ और इन दस्तकारों के माल को दूरस्थ स्थलों में ले जाकर बेचने वाले प्रधान व्यापारियों द्वारा इनको प्रोत्साहन, इस क्रम में दक्षता और विशेषीकरण में वृद्धि, शिक्षण और प्रशिक्षण के केन्द्रों की स्थापना, माल के भण्डार व हानि-लाभ का हिसाब रखने के लिए क्रमशः दृश्य चिह्नों और प्रतीकों का विकास और लम्बे दौर में इनका लिपि-चिह्नों में विकास और इसके बाद सामान्य रक्षणीय अनुभवों और रचनाओं को भी लिपिबद्ध करने का आरम्भ और ज्ञानात्मक और कलात्मक कृतियों का विकास के स्तर के अनुरूप प्रचलन, ये सभी क्रमशः व्यापारिक गति-विधियों के कारण और इनके दबाव में जन्म लेते हैं और अपने परिष्कार और परि-रक्षण के लिए इनकी समग्र अभिव्यक्ति—नगर-केन्द्र—पर निर्भर करते हैं।

अतः शहरीकरण की प्रेरणाओं तथा इनके प्रथम केन्द्रों को तब तक नहीं समझा जा सकता जब तक हम यह समझने का प्रयत्न न करें कि इन विविध

दृष्टियों से पहल किस क्षेत्र में सम्भव हो सकती है और कतिपय नागर लक्षणों को प्रकट करने वाली बस्तियों का इस मूल केन्द्र के सन्दर्भ में क्या महत्व है। पर इसके साथ ही तकनीकी और सामाजिक विकास पर भी एक दृष्टि डालना ज़रूरी है जिनका व्यापारिक गतिविधियों से और आंचलिक समृद्धि से गहरा सम्बन्ध है।

सामाजिक व तकनीकी विकास

सबसे पहले हम कृषि-जन्य समृद्धि को ही लें जिससे उत्पन्न अतिरिक्त संचय उत्कृष्ट उपभोक्ता वस्तुओं की माँग इनको जुटाने के क्रम से व्यापार का प्रेरक बना था। इसके लिए ज़रूरी था विशाल समतल मैदान और इसका भरपूर उपयोग करने के लिए अपेक्षित युक्तियों और साधनों का विकास। विचारणीय काल में विशाल उपजाऊ मैदान के रूप में तीन ही क्षेत्र मिलते हैं और वे हैं दजला और फ़रात की उपत्यका, नील की उपत्यका और सिन्धु-गंगा के बीच का विशाल मैदान। इनमें से पहली के विषय में पुरातात्विक प्रमाण और स्थानीय परम्परा दोनों इस बात की पुष्टि करते हैं कि यहाँ नगर-सभ्यता की प्रेरणा का आगमन पूर्व की ओर से समुद्री मार्ग से हुआ था और दूसरी का शहरीकरण पहली के प्रभाव में हुआ था। इनके विपरीत तीसरी की स्थानीय परम्परा एक बहुत लम्बे अतीत काल से स्थानीय विकास और नगर-जीवन की याद दिलाती है जो बाद के दौर में लगभग विस्मृतप्राय स्वप्न हो गया था और पुरातात्विक दृष्टि से ऐसा कुछ भी नहीं मिला है जिसे निषेधात्मक कहा जा सके। इसके विपरीत इसकी विशालता स्वयं में एक सशक्त प्रमाण है कि यह इस क्षेत्र में विगत अनेक सहस्राब्दियों के दौरान अंकुरित, पल्लवित और फलित हुई थी। विगत दो दशकों के बीच इस दृष्टि से आशाएँ बढ़ी ही हैं, यद्यपि पूरा क्षेत्र लगभग अनखुदा-सा पड़ा है। उक्त तीन के अतिरिक्त जिन क्षेत्रों से खेती के प्रमाण मिलते हैं वे ईरान, मध्येशिया, अफ़ग़ानिस्तान और बलूचिस्तान के क्षेत्र हैं जिनको सामान्यतः ऊसर, पठारी या रेगिस्तानी पाया जाता है, जिनमें बीच-बीच में कहीं जलधाराओं के डेल्टों में, नखलिस्तानों या वादियों में सीमित क्षेत्रों में खेती होती तो दिखायी देती है, पर तकनीकी दृष्टि से कोई ख़ास प्रगति सम्भव नहीं दिखाई देती। जिन सीमित क्षेत्रों में पानी सुलभ था वहाँ खेती तो होती रही, पर इस क्षेत्र का विस्तार करने की सम्भावना नहीं थी। इस क्षेत्र की कृषि के मामले में आत्मनिर्भरता की एक मिसाल यही है कि आरम्भ में यह कल्पित कर लिये जाने के बाद कि आर्य भारत में मूलतः इसी क्षेत्र से, या इन्हीं क्षेत्रों में बसते हुए भारत आये थे यह किसी की समझ में ही नहीं

आ रहा था कि वे मुख्यत: कृषिजीवी रहे हो सकते हैं और इसलिए उन्हें चारण-जीवी और खेती से नाममात्र को परिचित सिद्ध किया जाता रहा।

कृषि के मामले में समृद्धि और कुछ थोड़े-से लोगों के हाथों में अतिरिक्त उत्पाद के संचय की दृष्टि से कृषि-क्षेत्र का विस्तार, सिंचाई के साधनों और युक्तियों का विकास, जोताई आदि के लिए यन्त्रों का विकास, मानव श्रम को कम करने या इसकी क्षमता को बढ़ाने के लिए पशु श्रम का उपयोग और सामाजिक सम्बन्धों में परिवर्तन या, कहें, समाज का स्वामी और श्रमिक वर्ग में विभाजन आदि प्रमुख हैं। सिंचाई के मामले में कुछ सीमित प्रयोग जैसे अफ़ग़ानिस्तान में ग़ोरबन्द और नहरों और नालियों का विकास सम्भव था और सम्भवत: हुआ भी हो, पर शेष मामलों में कोई प्रगति नहीं दिखायी देती और इसलिए कृषि-क्षेत्र के विस्तार की सम्भावना नहीं थी। पर भारत और पाकिस्तान के इस मैदानी क्षेत्र में उक्त क्षेत्रों की तुलना में औसत वर्षा की अधिकता, जंगलों को जलाकर कृषि और चारण भूमि का विस्तार, कुओं, पोखरों, कुल्या या कृत्रिम नहरों का विकास, जोताई के लिए आदिम नुकीले डण्डों या अरों के प्रयोग से क्रमश: बढ़ते हुए हल-फाल और जुआठ का विकास, आरम्भ में मानव चालित हलों के स्थान पर इसके लिए क्रमश: गायों का उपयोग और फिर बछड़ों का वधियाकरण करके इनका हलों में उपयोग, समाज का आर्य और दास या स्वामी और श्रमिक में विभाजन, कृषकों के लिए कृष्टी या प्रजा का प्रयोग जो स्वामी वर्ग की तुलना में इनकी विशाल संख्या को प्रकट करता है, अन्यत्र पैदा की जाने वाली एक फ़सल के मुकाबले दो फ़सलों की खेती, ये सभी कृषिजन्य समृद्धि की अपेक्षाओं की पूर्ति करते हैं और इसमें कहीं कोई छिद्र दिखायी नहीं देता। वैदिक काल के आरम्भ तक ये सारे विकास हो चुके हैं। यह भी याद रखना होगा कि कालीबंगां से प्राप्त हलाई के निशान खेतों की जोताई के सबसे प्राचीन प्रमाण हैं।

सिद्धान्तत: भी हल का उपयोग न रेगिस्तानी-नखलिस्तानी क्षेत्र में सम्भव था, न ही पठारी और पहाड़ी इलाकों में। इसका विकास और उपयोग दोनों मैदानी भागों में ही सम्भव था। पशु श्रम का उपयोग जोताई में हलों के सन्दर्भ में ही महत्व रखता है, अत: पहाड़ी, पठारी और नखलिस्तानी क्षेत्रों में मानव श्रम को कम करने वाले और उसकी प्रभावकारिता और उत्पादन क्षमता को बढ़ाने वाले इस विकल्प का उपयोग हुआ दिखाई नहीं देता। सारा उत्पादन अपने ही बल-बूते तक सीमित रहा लगता है जिसमें अपनी जीवन-रक्षा के लिए ही पर्याप्त उत्पादन एक समस्या बन जाती है, अतिरिक्त उत्पादन की तो बात ही नहीं सोची जा सकती। यही कारण है कि समाज-रचना में भी अन्यत्र उस तरह का स्पष्ट विभाजन नहीं दिखायी देता।

इसके साथ ही एक अन्य पहलू पर भी ध्यान देना ज़रूरी है। पीछे हम

कह आये हैं कि कृषि की समृद्धि और अतिरिक्त उत्पादों का स्वल्प व्यक्तियों के हाथों में संग्रह ही उत्कृष्ट और अत्यावश्यक वस्तुओं की माँग बनकर व्यापार का प्रेरक बना था। यदि तर्क के लिए हम थोड़ी देर के लिए मान लें कि ईरान, तुर्कमीनिस्तान, अफ़ग़ानिस्तान, बलूचिस्तान, आदि की सीमित बस्तियों में ही यह समृद्धि पैदा हुई थी और वहीं व्यापार की नींव रखी गयी तो हमें एक विरोधाभास का सामना करना पड़ेगा। जिस मामले में ये संस्कृतियाँ स्वयं समृद्ध थीं उनके द्वारा उन्हीं की अतिरिक्त माँग का प्रश्न नहीं उठता। वे उसके बदले में उनसे भिन्न कुछ पाना चाहेंगी और गंगा-सिन्धु के मैदान में न किसी तरह का खनिज था, न ही दूसरा कोई ऐसा पदार्थ जिसे कृषि उत्पादों से भिन्न माना जा सके। अतः बलूचिस्तान से लेकर पूर्वी-उत्तरी ईरान और मध्येशिया तक कोई भी भारत के साथ व्यापार की पहल करने की दृष्टि से उपयुक्त नहीं दिखाई देता। इसके विपरीत इन क्षेत्रों में ताँबा, सोना, लाजवर्द, फीरोज़ा, चाँदी, टीन, सीसा, घोड़े, अच्छी नस्ल की भेड़ें, मेवे आदि बहुत-से ऐसे उत्पाद थे जिन्हें कृषिजन्य उत्पाद के अतिरिक्त भण्डार के बदले प्राप्त करने की लालसा भारत में पैदा हो सकती थी और हुई थी। अतः यदि अतिरिक्त कृषि-उत्पाद व्यापार का और व्यापार शहरीकरण का कारण बना तो यह शर्त भारत में ही पूरी होती दिखायी देती है। ऐसी स्थिति में यदि हम इस बात पर आमादा ही हों कि व्यापारिक पहल और नगर-सभ्यता के उदय का श्रेय पश्चिमी एशिया की इन बस्तियों या इनमें से किसी को देना है तो हमें पहले उन्हें वहाँ से लाकर सिन्धु-गंगा के मैदान में बसाना होगा, यहाँ उन्हें इस उपज से अपेक्षित तकनीकी और सामाजिक विकास के चरण तक और पूर्वकथित समृद्धि और अतिरिक्त संग्रह तक पहुँचाकर उन्हीं क्षेत्रों से जहाँ से हम इन्हें लाद खींच कर लाएंगे, उन्हीं कृषि उत्पादों के बदले उनकी खनिज सम्पदा को प्राप्त करने के लिए व्यापार में और क्रमशः शहरीकरण में अग्रसर होते दिखाना होगा, पर पहल फिर भी इस क्षेत्र से ही आरम्भ होगी।

इसके अतिरिक्त कुछ अन्य तकनीकी विकास जो नगर-सभ्यता के उदय से पहले पूरे हो चुके हैं किसी पहाड़ी या नख़लिस्तानी और डेल्टाई क्षेत्र में सम्भव नहीं थे। इनमें से एक है नौका और दूसरा है पहिया। न केवल उन क्षेत्रों की नदियाँ नौचालन के उपयुक्त नहीं रही हैं और नौका के आविष्कार के बाद भी उनमें नौका का प्रयोग होता नहीं दिखायी देता, अपितु वहाँ नौका बनाने के लिए उपयुक्त लकड़ी का भी अभाव पाया जाता है। समुद्रगम्य नौकाओं की बात इन क्षेत्रों के सन्दर्भ में अकल्पनीय है; कारण, इनकी कोई नदी समुद्र पर्यन्त जाती ही नहीं। अब यदि मेसोपोटामिया में नगर-सभ्यता का जन्म ही समुद्र-मार्ग से वहाँ पहुँचे हुए लोगों के द्वारा हुआ था तो इससे पूर्व की ओर एक मात्र देश भारत और पाकिस्तान का मैदानी भाग है जहाँ से यह बहिर्गमन सम्भव हुआ हो सकता है।

ऐसी स्थिति में पाँचवीं सहस्राब्दी में किसी नगर-बस्ती को न ढूंढ़ पाना प्रत्यक्ष कारणों से पुरातत्वविदों की लाचारी हो सकती है, पर एक इतिहासकार को जो पुरातत्व को अन्धे की लाठी की तरह काम में नहीं लाता, यह मानना होगा कि भारत में न केवल पाँचवीं सहस्राब्दी तक उन्नत व्यापार और व्यापारिक केन्द्र और नगर स्थापित हो चुके थे, अपितु इस काल तक यह इतना आगे बढ़ चुका था कि यह समुद्र-यात्रा का भी ख़तरा मोल ले सके। यहाँ यह याद दिलाना जरूरी है कि गाड़ी और पहिये के माडल या खिलौने भी मैदानी क्षेत्र—कालीबंगां, सराय खोला, मीठाथाल, जलीलपुर, गुमला आदि से ही मिले हैं और बलूचिस्तान के पहाड़ी स्थलों से ये नहीं मिलते।

नौका की तरह पहिये का भी ऊबड़-खाबड़ पहाड़ी क्षेत्रों में या रेगिस्तानी इलाके में न तो उपयोग हो सकता था, न ही वहाँ गाड़ियाँ चलती हैं।[18] स्थल मार्ग से परिवहन का यह अन्य साधन भी मैदानी क्षेत्र में ही सम्भव था और इसके विकास के बाद भी पश्चिम के पहाड़ी क्षेत्रों और इनसे पार के देशों के साथ भारतीय व्यापारी भी जो अन्तर्देशीय स्तर पर गाड़ियों का प्रचुरता से उपयोग कर रहे थे, केवल बैलों, गधों, खच्चरों, टट्टुओं और घोड़ों को ही काम में लाते थे। पहिया बनाने की उन्नत कला का उल्लेख ऋग्वेद के प्राचीनतम अंशों में भी पाया जाता है और उस प्राचीन काल में भारत अकेला ऐसा देश दिखायी देता है जो अरा-युक्त सुवाह्य पहिये बना रहा था। जब हम खिलौनों की गाड़ियों को वास्तविक गाड़ियों का सर्वसदृश रूप मान लेते हैं तभी यह सोचने की भूल करते हैं कि हड़प्पावासी अरायुक्त पहियों से परिचित नहीं थे। आज भी खिलौनों की गाड़ियों में ठोस पहिये अधिक कारगर पाये जाते हैं।

इस विषय में बहस की गुंजायश नहीं होनी चाहिए कि कुम्हार की चाक की प्रेरणा गाड़ी के पहिये से ही मिली हो सकती है और सम्भवतः चाक-निर्मित भाण्डों का आविष्कार भी इसी मैदानी क्षेत्र की देन हो सकता है। यद्यपि इस मामले में विकास की प्रकृति को देखते हुए यह निवेदन करना ज़रूरी है कि यह हमेशा सम्भव है कि किसी नये आविष्कार का प्रेरक आविष्कार कहीं अन्यत्र हुआ हो और इसके एक व्यापक क्षेत्र में प्रसार पा जाने के बाद अगला आविष्कार किसी सर्वथा भिन्न क्षेत्र में। परन्तु हमारे उक्त प्रस्ताव का एक कारण तो यह है कि स्थानीय परिस्थितियों के कारण पहिये का व्यापक प्रसार पहाड़ी और रेगिस्तानी क्षेत्रों में सम्भव नहीं था; दूसरे, वहाँ पात्र आदि बनाने के लिए पत्थर उपलब्ध था; और तीसरे, भारतीय सन्दर्भ में हमें एक खास तरह की शुद्धवादिता का दर्शन कम-से-कम हड़प्पा काल से तो होता ही है जिसमें मिट्टी के बर्तन को खान-पान के लिए एक बार प्रयोग में लाने के बाद इन्हें जूठा मान लिया जाता था और फेंक दिया जाता था।[19] अतः अधिक बर्तन बनाने की माँग हस्तनिर्मित भाण्डों से पूरी नहीं हो सकती

थी और यही किसी अधिक उन्नत युक्ति का कारण बनी होगी। यह आग्रह हड़प्पा सभ्यता के आरम्भ से बहुत पहले से बना हुआ था। इस आग्रह ने भारत में मिट्टी के बर्तनों के विकास में बहुत बाधा भी पहुँचायी। उसी बर्तन का एकाधिक बार प्रयोग जहाँ ऊँची आर्थिक हैसियत के लोगों के लिए अधिक उत्कृष्ट और काँचली मिट्टी के तथा नक्काशीदार पात्रों के निर्माण को प्रोत्साहन दे रहा होता वहाँ यह शुद्धतावाद निरे कामचलाऊ पात्रों के निर्माण और उनमें कुम्हारों के अपने कलात्मक तकाजों से बहुत मामूली किस्म के प्रयोगों तक सीमित रहने के लिए उत्तरदायी माना जा सकता है। संग्रह के कुछ पात्रों में —मर्तबान आदि— यदि कुछ विविधता लाने की कोशिश की गयी तो वह भी बहुत आगे नहीं बढ़ पायी। दैनिक उपयोग के बर्तनों के गन्दा होने के कारण इनमें अधिकाधिक निखार लाने का जो दबाव था यदि वही नहीं रहा तो इसी ज्ञान और कौशल का अन्तरण जो संग्रह के पात्रों पर हो सकता था, वह कहाँ से होता ? अतः एक ओर जहाँ चाक-निर्मित भाण्डों के मामले में हम भारत को अपने समकालीन जगत के किसी देश से आगे बढ़ा पाते हैं वहीं कांचल पात्रों के मामले में दूसरे किसी भी तुलनीय देश से नितान्त पिछड़ा हुआ।

चाकनिर्मित बर्तनों के समान ही पक्की ईंटों का प्रयोग और इनका निर्माण के विविध कार्यों—मकान, कुएँ, सड़क, परनाले, स्नानागार, भाण्डागार, आदि—में प्रयोग भारत में किसी भी अन्य देश से पुराना है इसकी ओर विद्वानों का ध्यान पहले भी गया है।[20] इसके नगरों के निर्माण में जितने बड़े पैमाने पर इसका प्रयोग हुआ है वह तो विद्वानों को चकित करता ही है।[21]

तकनीकी विकास का एक अन्य पक्ष है धातु-विद्या का। अब तक यह माना जाता था कि हड़प्पा के निवासी लोहे से बिलकुल अपरिचित थे और अब शैफ़र ने इस मिथक को भी तोड़ दिया है। जहाँ तक धातु-विद्या का प्रश्न है हड़प्पावासी लोहे से परिचित थे,पर लोहे का उत्पादन जिन भी कारणों से हो एक हजार ई. पू. तक इतना कठिन था कि एक लम्बे समय तक यह सोने से भी मँहगा बना रहा था और इस पूरे दौर में कोई भी ऐसा देश नहीं था जो अपने सामान्य औजारों और हथियारों के लिए ताँबे और काँसे पर ही निर्भर न करता रहा हो। अतः सामान्य उपयोग और विशेष लब्धि इन दोनों को अलग रखते हुए ही विचार करना उचित है। हम यहाँ जिस पहलू पर बल देना चाहते हैं वह यह कि वैदिक विवरणों के अनुसार कर्मार का एक पर्याय ध्माता है।[22] कहें, वह धातुकर्म में चमड़े की भाथियों (दृति) का प्रयोग करता था और एक स्थल पर तो इस धौंकनी का बहुत स्पष्ट वर्णन आया है। भारत में कुछ ऐसे वृक्ष पाये जाते हैं जो उत्कृष्ट कोटि का कोयला बनाने के लिए सबसे उपयुक्त हैं, जैसे इमली, बबूल, आदि। ऐसे वृक्ष ठंडे क्षेत्रों में नहीं पाये जाते। प्रकारान्तर से कहें, यहाँ का कर्मार जितनी उच्च दाहकता

पैदा करने की स्थिति में था उस स्थिति में अन्य ज्ञात क्षेत्र नहीं थे और इसका धातु-विद्या के विकास की दृष्टि से बहुत अधिक महत्व है।

कुछ दूसरे विकास, जैसे लकड़ी चीरने के लिए ऐसी दाँतदार आरी का प्रयोग जिसके दाँत क्रमशः दोनों ओर मुड़े रहते थे[23], ड्रमाकार मनकों के छिद्र के भीतर से नक्काशी[24] और टिकुलीनुमा मनकों के निर्माण के लिए अपनायी गयी प्रविधि[25] आदि भी अपने समकालीन जगत के लिए नये कीर्तिमान थे। लेखन आदि के मामले में भी इसी प्रकार की अग्रता और इसके अनुरूप ही लम्बी स्थानीय परम्परा के दर्शन होते हैं। यदि बात उपलब्धि की न करके शक्यता की की जाये—कारण, उपलब्धि प्रायः स्थानीय तकाज़ों और दबावों की देन होती है—तो अपने आदिम स्तर से ही हड़प्पा सभ्यता इतनी आगे बढ़ी हुई और सक्षम दिखायी देती है कि उसके समकालीन जगत की कोई भी ऐसी उपलब्धि नहीं थी जिसे इच्छा या आवश्यकता होने पर यह हासिल नहीं कर सकती थी, जबकि इसकी अनेक उपलब्धियाँ ऐसी हैं जो अपने समकालीन किसी भी अन्य क्षेत्र के लिए तकनीकी और भौतिक दोनों दृष्टियों से चुनौती हैं।

जब हम नगर-सभ्यता के उदय पर विचार करते हैं तो इन विविध पहलुओं को सामने रखना और इनमें उचित तालमेल बैठाते हुए सम्भावित अग्रणी क्षेत्र का निश्चय करना ज़रूरी है।

शहरीकरण के प्रसार की दिशा

ऊपर हम जो चर्चा कर आये हैं उसी के सन्दर्भ में मेहरगढ़ तथा उसके पास (बलूचिस्तान) तथा अफ़ग़ानिस्तान की उन बस्तियों पर विचार किया जा सकता है जिनमें कतिपय ऐसे लक्षण पाये जाते हैं जिनको हम परिपक्व हड़प्पा में देखते हैं। यदि इन स्थलों पर कुछ ग़ौर किया जाये तो हम पायेंगे कि नागर लक्षणों के प्रसार की दिशा पूर्व से पश्चिम की ओर है, न कि इसके विपरीत।

सबसे पहले हम मेहरगढ़ को लें। इस स्थल की खुदाई करने वाले पुरातत्वविद जैरिज लिखते हैं, इस समय हमें जो कुछ मालूम है उसमें यह सोचना कठिन है कि मेहरगढ़ और इससे सम्बन्धित स्थलों के कलाकार पाँचवीं सहस्राब्दी तथा आरम्भिक चौथी सहस्राब्दी में अपने समकालीन पश्चिमी एशिया के किसी भी अन्य स्थल के कलाकारों से कम दक्ष थे।[26] तकनीकी दृष्टि से मेहरगढ़ तृतीय चरण के कुम्हार सियल्क चरण दो और तीन तथा नमज़गा चरण एक व दो के हस्तनिर्मित भाण्डों की तुलना में बहुत उत्कृष्ट कोटि के मृद्भाण्ड बना रहे थे।[27] और ये भाण्ड केवल मेहरगढ़ तक सीमित नहीं थे अपितु तोगऊ, किले गुलमोहम्मद,

लोरालाई, कलात, सुराब और कच्छी मैदान के एक बहुत बड़े भाग में फैले हुए थे।[28] एक ओर अपेक्षाकृत व्यापक प्रचलन और उत्कृष्ट उत्पादन और दूसरी ओर कुछ थोड़े-से स्थलों पर और पहले के मुकाबले में कुछ हल्की किस्म के माल का उत्पादन प्रसार की दिशा को स्पष्ट करने की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। जो कमी रह जाती है वह इस बात से पूरी हो जाती है कि मुंडीगाक, दक्षिणी अफ़ग़ानिस्तान, के प्रथम आवास के जो सांस्कृतिक निक्षेप पाये गये हैं वे मेहरगढ़ चरण तृतीय से पूर्ण सादृश्य प्रकट करते हैं।[29] स्पष्ट है कि मुंडीगाक की स्थापना पूर्व से आने वाले व्यापारियों के अड्डे के रूप में हुई थी और वह भी उस समय जब मेहरगढ़ अपने तीसरे चरण पर पहुँच चुका था। इसी तरह शहरे सोख़्ता, पूर्वी ईरान, अन्त्येष्ठि की रीतियों, शिल्प की तकनीक, भौतिक जीवन और विचारधारा आदि के मामले में बलूचिस्तान और दक्षिणी अफ़ग़ानिस्तान के अपने से पूर्ववर्ती लक्षणों से प्रभावित दिखायी देता है, जिसके प्रमाण मेहरगढ़ व मुंडीगाक चरण एक से मिलते हैं।[30] इस तरह जैरिज तुर्कमीनिया, पूर्वी ईरान और विशाल सिन्धु प्रणाली में चौथी सहस्राब्दी ई. पू. में विभिन्न सांस्कृतिक घटकों के निर्माण में हुए आदान-प्रदान को उभयपक्षीय मानते हैं।[31] जब हम व्यापार की बात कर रहे हैं जिसका अर्थ ही होता है 'ले और दे' तो इसके चलते हुए लेन-देन की बात को ठुकराना एक तरह की हिमाक़त होगी, पर कौन क्या ले रहा है और क्या दे रहा है इसकी तसवीर अवश्य साफ़ होनी चाहिए। पूर्व-हड़प्पा काल से लेकर हड़प्पा काल तक विभिन्न लक्षणों को पूर्व से पश्चिम की ओर जाते ही देखा जा सकता है और पश्चिम का इसमें क्या योगदान रहा हो सकता है, यह अदृश्य ही रह जाता है। दिखायी यह देता है कि पूर्व के कलाकार और व्यवसायी पश्चिम से मुख्यतः कच्चा माल—सोना, चाँदी, रत्न और कुछ मेवों आदि जैसे उपभोग्य पदार्थ तथा घोड़े आदि ही हासिल कर रहे थे, अतः ये दिखायी देते हुए भी दिखायी नहीं देते, जबकि इसके विपरीत वे तैयार माल उनको बेच रहे थे। इस व्यापार का आरम्भ कृषि उत्पादों के बदले पश्चिम से कच्चा माल हासिल करने से हुआ लगता है और कृषि उत्पादों का निर्यात बाद तक भी उनके विदेश व्यापार का हिस्सा रहा हो तो आश्चर्य नहीं।

मेहरगढ़ की प्राचीनता ने इस धारणा को भी बदल दिया कि अधिक प्राचीन बस्तियाँ पश्चिमी एशिया में ही पायी जाती हैं और इनकी तलाश पश्चिमोत्तर पर्वतमाला से पूर्व की ओर करना बेकार है। यद्यपि जर्मो, जेरिको जैसे कुछ स्थल अब भी मेहरगढ़ से पुराने हैं, परन्तु प्राक्-नगरीय विकास तक पहुंचने वाला यह सबसे प्राचीन उपलब्ध स्थल है और बलूची पहाड़ियों के अन्य स्थलों से भी पुराना है। कहें, बलूचिस्तान के सीमित क्षेत्र में भी प्रभाव की दो स्पष्ट दिशाएँ हैं—पूर्व से पश्चिम की ओर और उत्तर से दक्षिण की ओर। बलूचिस्तान का उत्तर

तो भारत के सन्दर्भ में मध्य क्षेत्र हुआ, पर पूर्व यदि मेहरगढ़ तक आकर समाप्त नहीं होता तो यह कितने अधिक पूर्व तक जाता है और इस सम्भावित, पर अब तक ओझल, पूर्व के सन्दर्भ में मेहरगढ़ की अपनी क्या स्थिति है—यह खोज का विषय हो सकता है।

मेहरगढ़, क्वेटा, बलूचिस्तान का अंग है परन्तु भौगोलिक दृष्टि से नहीं, मात्र प्रशासनिक दृष्टि से। भौगोलिक दृष्टि से यह भारत और पाकिस्तान के विशाल मैदानी भाग के पश्चिमी छोर पर ठीक उस स्थल पर बसा है जहाँ से कुछ ही आगे बोलन का दर्रा पश्चिम की ओर जाने का सबसे पुराना सम्पर्क-मार्ग रहा है।

क्या हम यह मान सकते हैं कि मेहरगढ़ का विकास अपने 'भव्य एकाकीपन' में हुआ था? यदि नहीं तो अपने क्षेत्र का यह सबसे पुराना स्थल कहाँ से प्रेरणा ले रहा था या किस विशाल ढाँचे से जुड़ा हुआ था? अपने मृद्भाण्डपूर्व के चरण से ही मेहरगढ़ कतिपय ऐसे लक्षणों को प्रकट करता है जो इसके स्तर को देखते हुए अनमेल पड़ते हैं। इनमें से सबसे प्रधान है इसका एक ऐसे तन्त्र से जुड़ा होना जो सुदूर-व्यापार की ओर अग्रसर हो चुका था और एक ओर तो समुद्र-पर्यन्त और दूसरी ओर पश्चिमोत्तर पर्वतमाला से पार तक के क्षेत्रों के संग्रहणीय पदार्थों का संग्रह और वितरण कर रहा था। सातवीं सहस्राब्दी ई. पू. के इस दौर में मेहरगढ़ कृषिजीवी भी नहीं हुआ था, पर स्थायी और एक सीमा तक सुनियोजित बस्ती का रूप ले चुका था। स्पष्ट है कि यह उन व्यापारियों का पड़ाव था और इसी रूप में स्थापित हुआ था जिनको हमारे पूर्व प्रस्ताव के अनुसार इससे काफ़ी पूर्व की ओर ही ढूँढ़ा जाना चाहिए। कारण, इस तरह का पड़ाव प्रस्थान-स्थल के ठीक पास तो बनेगा नहीं।

कुछ विद्वानों का मत है कि उस प्राचीन काल में मैदानी भारत में जो मुख्यतः बड़ी नदियों के कछारों का क्षेत्र है तथा अन्य किसी कछार के क्षेत्र में बस्ती बसी ही नहीं हो सकती।[32] पर इन सबसे उर्वर, जीवन-रक्षा में समर्थ और संभावना-पूर्ण क्षेत्रों में मनुष्य का निवास क्यों नहीं रहा हो सकता, यह समझ में आने वाली बात नहीं है। इसके लिए हिम-युग या इसके उत्तरवर्ती प्रभाव जैसा कोई तर्क भी ग्राह्य नहीं है। यह कैसे सम्भव है कि जिस दौर में जग्रोस की पहाड़ियाँ या बलूचिस्तान की पहाड़ियाँ हिम-मुक्त हो चुकी थी उसमें भारत-पाक का मैदानी भाग हिमयुगीन प्रभाव की चपेट में रहा हो, जिसके विषय में स्पष्टतः यह दावा भी किया जाता है कि भारत पर हिम-युग का प्रभाव पड़ा ही नहीं था? अतः इसका एक ही विकल्प दिखायी देता है कि इस पूरे प्रसार में हड़प्पा काल के हज़ारों वर्ष पहले से स्थायी बस्तियों का अस्तित्व था और इनको अभी तक ढूँढ़ न पाने का एक कारण तो यह है कि इस क्षेत्र में जिन हड़प्पाकालीन और पूर्व-हड़प्पाकालीन

बस्तियों का पता चला है उनकी अभी तक पूरी खुदाई नहीं हुई है और इसलिए इस विषय में हम बिलकुल अन्धकार में हैं कि इनके नीचे क्या रहस्य छिपा है और दूसरा यह कि अधिक पुराने स्थल जो व्यापारिक केन्द्रों के रूप में बड़ी नदियों के तट पर स्थापित हुए थे, निरन्तर धारा बदलती इन नदियों के कटाव से नष्ट हो गये और यदि इनमें से कोई इतना भाग्यशाली रह गया कि इन आपदाओं को भी झेलने में समर्थ रहा, वह नदियों की बाढ़ के साथ आये कचरे की पर्तों के नीचे दबा हो सकता है जिसका उद्धार किसी अजूबे से ही सम्भव है। यदि मोहनजोदड़ो नगर की बुनियाद सिन्धु की वर्तमान पेटी से भी दसियों मीटर नीचे दबी हो सकती है तो सिन्धु की तुलना में अधिक अरक्षणीय क्षेत्र में, और बाढ़ और कटाव के मामले में उससे कहीं अधिक उग्र सरस्वती के तट पर, बसे इससे हज़ारों वर्ष पहले या कम-से-कम इसकी स्थापना के समय तक अपनी अन्तिम साँसें गिनने वाले नगरों के ऊपर कितनी मोटी तह जमा है, इसका अनुमान करना कठिन है। हमें इस क्षेत्र में हुई उन तबाहियों का अनुमान भी नहीं हो सकता जो सतलुज के सरस्वती से हटकर सिन्धु में और यमुना के सरस्वती से हटकर बेतवा—गंगा में मिलने और स्वयं सरस्वती और दृशद्वती के काल कवलित होने के क्रम में हुई हो सकती है।

आल्चिन का कहना है कि सिन्धु के कछार में, और हम इसी तर्क से कहें तो गंगा-पर्यन्त के मैदानी क्षेत्र में, प्राचीनतर बस्तियाँ थीं जिनमें से कुछ विरल बस्तियाँ जो चट्टानी स्थलों पर या रोड़ी-कंकड़ के कठोर वर्तुलाकार निक्षेपों पर बसी थीं काल-कवलित होने से बची रह गयीं, जिनके प्रमाण हमें यहाँ मिलते हैं, पर शेष या तो बह गयीं या बाढ़ के साथ आये कचरे की मोटी तहों के नीचे दबी पड़ी हैं।[33] राइक्स मोहनजोदड़ो के आरम्भिक चरण में एक भारी भूगर्भीय उपद्रव की बात करते हैं जिसमें सम्भवतः धारा में एक बाँध-सा बन जाने के कारण पानी में बिलकुल ठहराव सा आ गया था और मोहनजोदड़ो के प्राथमिक चरण में पड़ी गाद की मोटी तह का कारण वह इसी को मानते हैं।[34] राइक्स के उक्त विश्लेषण से ही नहीं, अपितु वैदिक कृतियों में सुरक्षित प्राचीन परम्परा से भी यह प्रकट होता है कि उत्तरी भारत और इसमें भी सिन्धु की तुलना में गंगा से लेकर सरस्वती तक का क्षेत्र चौथी सहस्राब्दी के अवसान और तीसरी के प्रथमार्ध तक भूगर्भीय अस्थिरता का शिकार हुआ था और इसका इस क्षेत्र की तटीय बस्तियों और केन्द्रों के लिए ही नहीं, स्वयं इस क्षेत्र की प्रधान नदियों के लिए भी महानाशकारी प्रभाव पड़ा था। इसके बावजूद यदि जहाँ-तहाँ कुछ विरल बस्तियाँ बची मिल जायें तो यही कहना होगा कि बड़ा-से-बड़ा विनाश भी सर्वनाशी नहीं होता।

ज्ञात रूप से अधिकांश प्राचीन स्थल जब तक अनखुदे पड़े हैं तब तक भौतिक साक्ष्य की दृष्टि से स्थिति विवादास्पद यूँ ही है। पर जहाँ तक सिद्धान्त का प्रश्न है, स्थिति बिलकुल स्पष्ट है कि पश्चिम की ओर फैलने वाले प्रभाव पूर्व की ओर से

जा रहे हैं और इनकी जड़ें मैदानी भारत और पाकिस्तान में हैं। यह बात मेहरगढ़ की स्थिति से तो स्पष्ट है ही, साथ ही इसके मृद्भाण्ड पूर्व प्रथम चरण से ही उपलब्ध कुछ उम्दा औज़ारों और मनकों को छिद्रित करने के अद्भुत कारनामों से प्रकट होता है जो इस बात का सूचक है कि यहाँ हमारा पाला एक ऐसी जमात से पड़ रहा है जो आहार-संग्रह और आखेट के चरण में ही यहाँ आकर बस गयी थी। आगे इसका कुछ सम्बन्ध मजी हुई दस्तकारी से भी है। यहाँ के भाण्डों आदि पर खचित पीपल के पत्ते के आशय, यहाँ से प्राप्त हाथीदाँत जो तराशने के लिए यहाँ लाया गया था, यहाँ के पशुओं में भैंस, कृषि चरण से ही प्राप्त कपास के दाने—कहें, ऊनी व सूती वस्त्रों से इनका परिचय, आदि विविध तथ्य जो अपने एकाकीपन में बहुत अधिक सार्थकता नहीं रखते अपनी समग्रता से यह प्रकट करते हैं कि यह इस मैदानी क्षेत्र से बाहर जाने वाले मार्ग पर स्थित अन्तिम मैदानी पड़ाव था और इसकी जड़ें उससे पूर्व की ओर थीं। रावी और सिन्धु के तट पर भी यह प्रभाव सरस्वती की दिशा से जाता दिखायी देता है। इसकी एक मिसाल हड़प्पा स्वयं है जिसके सबसे निचले और पूर्व-नगरीय चरण पर मिले कतिपय ठीकरे यह प्रकट करते हैं कि यहाँ पहले एक ग्रामीण बस्ती थी और इसका साम्य बलूची पहाड़ी बस्तियों से था। इसके ठीक ऊपर और बिलकुल एक झटके में और पूरी योजना के साथ यह पूरा नगर बस जाता है और यहाँ एक स्पष्ट सांस्कृतिक अलगाव दिखायी देता है जिसको इससे पश्चिम से नहीं जोड़ा जा सकता। स्पष्टतः यह स्थल जो इससे पहले तक सरस्वती क्षेत्र के व्यापारियों का पड़ाव मात्र था, सरस्वती क्षेत्र की तबाही से उजड़े व्यापारियों द्वारा अपने प्रधान केन्द्र के रूप में चुन लिया जाता है और इससे मिलती-जुलती स्थिति ही मोहनजोदड़ो की हो सकती है जिसका तल आज भी रहस्य और कुतूहल का विषय बना हुआ है। सरस्वती क्षेत्र में अभी तक किसी बहुत पुरानी बस्ती की खोज न की जा सकी हो, पर पूर्व-हड़प्पाकालीन नगरों और बस्तियों की कमी नहीं है।

भारत और पाकिस्तान के मैदानी क्षेत्र को समझने में विद्वानों की पश्चिम-ग्रस्तता के कारण भूल की जाती रही है, अब यह क्रमशः स्पष्ट होता जा रहा है। जैरिज लिखते हैं, "मोहनजोदड़ो से कुछ ही दूरी पर उस क्षेत्र को जहाँ नारी, बोलन और मूला नदियाँ दक्षिणी कच्छी मैदान में सिन्धु में मिलती हैं, आज भी बहुत कम समझा जा सका है। इनमें से सबसे बड़ा पठानी दम्ब जो कई हैक्टेयर में फैला था हड़प्पा-काल में एक बहुत बड़ा शहर था...पर यह स्थल पहले से आबाद था; कारण, इस विशाल टीले के एक हिस्से में किले गुलमोहम्मद-तोगऊ ए शैली के ठीकरे पाये जाते हैं जो मेहरगढ़ तृतीय चरण के हैं।" परन्तु मेहरगढ़ हो या पठानी दम्ब या बलूची पहाड़ियों या गिरिपदीय क्षेत्रों की अन्य कोई बस्ती, इन्हें हम उन अपेक्षाओं से बहुत पीछे पाते हैं जो परिपक्व हड़प्पा के उदय के लिए अपेक्षित हैं।

हड़प्पा सभ्यता की सबसे बड़ी चुनौती है किन्हीं ऐसे स्थलों की खोज जहाँ वे सभी विकास पूरे हो चुके हों और अपने चरम शिखर पर पहुँच चुके हों जो हड़प्पा सभ्यता में इसके आरम्भिक काल में दिखायी देने लगते हैं। कारण, परिपक्व हड़प्पा अपनी परिपक्वता के पाँच सौ वर्षों के जीवन में एक विकासमान सभ्यता न होकर किंचित् स्थिरीभूत और कुछ मामलों में क्षरणोन्मुख सभ्यता है। हड़प्पा सभ्यता के अब तक के उत्खनित स्थलों की नींव में भी हम हड़प्पा सभ्यता के चरण एक को नहीं, अपितु—यदि कुछ छूट लेकर और अन्य क्षेत्रों के विकासमान स्थलों से सादृश्य लेकर कहें तो—हड़प्पा चरण सात या आठ का दर्शन करते हैं। इसके उन्नत स्तर तक क्रमशः पहुँची हुई सभ्यता, इसकी समस्त उपलब्धियों को कृषि-क्रान्ति से लेकर आगे तक प्रत्येक दृष्टि से अपनी शक्यता से अर्जित करने वाली सभ्यता की खोज का मसला ही हमें सिन्धु के क्षेत्र से निराश करता है और सरस्वती क्षेत्र की ओर मुड़ने को बाध्य करता है और इस क्षेत्र में पुरातात्विक चित्र के धुधलेपन के कारण हमें भारतीय परम्परा में परिरक्षित सूचनाओं पर दृष्टि डालने को प्रेरित करता है जो अपने अटपटेपन के बावजूद अपने भीतर हमारे उपयोग के लिए बहुत महत्वपूर्ण सूचनाएँ सँजोए हुए हैं। इस पर हम अगले अध्याय में विचार करेंगे।

सन्दर्भ और टिप्पणियाँ

1. विल डुरांट, आवर ओरिएंटल, हेरिटेज 1954, 107.
2. हेनरी फ्रैंकफर्ट, दि बर्थ ऑफ़ सिविलाइज़ेशन, 1954, 50.
3. वही, आमुख, 7.
4. विलियम वाई. एडम्स, 'इन्वेज़न, डिफ्यूज़न, इवॉल्यूशन ?' ऐंटीक्विटी, 42, 167, 210.
5. लैंबर्ग-कार्लोव्स्की, 'दि प्रोटो एलामाइट्स ऑन दि इरैनियन प्लेटो', ऐंटीक्विटी, 52, 1978, 119-20.
6. वही, 120.
7. पिगट, प्रीहिस्टॉरिक इंडिया टु 1000 बी. सी., 1950, 211-12.
8. देखें, पीछे, पृ. 158
9. देखें सांकलिया, प्रीहिस्ट्री ऑफ़ इंडिया, 1977, 26; गोर्डन, दि प्रीहिस्टॉरिक बैकग्राउंड ऑफ़ दि इंडियन कल्चर, 1958, 27; ह्वीलर, दि इंडस

सिविलाइज़ेशन, 1953, 85; सुब्बाराव, दि पर्सनैलिटी ऑफ़ इंडिया, 1958, फेयरसर्विस, रूट्स ऑफ ऐंश्येंट इंडिया, 1971, 102-05; पिगट, पूर्व., 50, आदि।

10. अस्थाना, प्री-हड़प्पन कल्चर्स ऑफ इंडिया ऐंड बार्डरलैंड्स, 1985, 238-39.
11. जैरिज, अस्थाना की उक्त पुस्तक की भूमिका। यह विचार केवल जैरिज का नहीं है। सांकेतिक रूप में यह बात दूसरे अध्येताओं द्वारा भी उठायी गयी है, यद्यपि विविध कारणों से इसमें अग्रणी भूमिका पश्चिम की ही दिखायी जाती रही है। देखें, लैंबर्ग-कार्लोव्स्की, 'अर्बन इंटरऐक्शन ऑन दि इरैनियन प्लेटो : एक्सकैवेशन्स ऐट तेपे याह्या 1967-73', प्रोसीडिंग्स ऑफ़ ब्रिटिश एकैडेमी, 59,1973, 7-43; तोशी, 'दि नार्थ वेस्टर्न फ्रंटियर ऑफ़ दि ऐंश्येंट नीयर ईस्ट', मेसोपोटामिया, 8-9, 1973-74, 21-76; आल्चिन व आल्चिन, दि बर्थ ऑफ़ इंडियन सिविलाइज़ेशन, 1968, 300, आदि। जैसा कि लैंबर्ग कार्लोव्स्की का विचार है, शहर-ए-सोख्ता, याह्या और इब्लीस आदि का उदय मेसोपोटामिया के व्यापारियों की लाजवर्द, स्टीटाइट और खनिज धातुओं की माँग के कारण हुआ था और इसी तरह बलूचिस्तान की संस्कृतियों का उदय हड़प्पा की इसी प्रकार की माँगों के कारण हुआ हो सकता है या, जैसा कि तोशी का विचार है, हड़प्पा और सम्बन्धित क्षेत्रों के बीच व्यापारिक आवाजाही की गहनता के कारण हुआ हो सकता है। पर इस स्थिति में हमें यह मानना होगा कि बलूची संस्कृतियों से बहुत पहले हड़प्पा सभ्यता उस चरण पर पहुँच चुकी थी जिसमें वह अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में पहल कर सके और यह इसकी बुनियाद को बहुत पीछे ले जाता है, भले उसे हम अभी तक खोज पाये हों या नहीं।
12. चाइल्ड, ह्वाट हैपंड इन हिस्ट्री, 1942.
13. एस. पी. गुप्त, आर्कियॉलॉजी ऑफ़ सोवियत सेंट्रल एशिया ऐंड दि इंडियन बार्डरलैंड्स, 2, 1979, 36.
14. मूलत: यह विचार जिन शैफ़र का था। देखें, शशिप्रभा अस्थाना, पूर्व., 1985, 15.
15. अस्थाना, पूर्व., 217.
16. एस. पी. गुप्त, डिस्पोज़ल ऑफ़ दि डेड ऐंड फ़िज़िकल टाइप्स इन ऐंश्येंट इंडिया, 1972.
17. दिलीप चक्रबर्ती, 'आइरन ऐंड अर्बनाइज़ेशन : ऐन इक्ज़ामिनेशन ऑफ़ दि इंडियन कंटेक्स्ट', पुरातत्व, 15, 1984-85, 68-73; अस्थाना, ऊपर, 241.
18. अस्थाना, वही, 199.

19. मार्शल, मोहनजोदड़ो ऐंड इंडस सिविलाइज़ेशन, 1931, 1.
20. मैकाय, फ़र्दर एक्सकैवेशन्स ऐट मोहनजोदड़ो, 1947, 649.
21. ह्वीलर, पूर्व., का विचार है कि हड़प्पा के इन नगरों के निर्माण में जितनी अधिक ईंटें लगी हैं उनको पकाने के लिए काटे गये पेड़ों के कारण ही इस क्षेत्र के जंगलों का सफ़ाया हो गया होगा।
22. ऋ. 5.9.5.
23. बैशम, दि वंडर दैट वाज़ इंडिया, 1967, 22.
24. अस्थाना, 'हड़प्पन ट्रेड इन मेटल्स ऐंड मिनरल्स : ए रीजनल अप्रोच', हसि., 1982, 271-85.
25. के. टी. एम. हेगडे व अन्य, 1982, 239-44.
26. जैरिज, 'क्रोनॉलॉजी ऑफ़ दि अर्लियर पीरियड्स ऑफ़ दि ग्रेटर इंडस ऐज़ सीन फ्रॉम मेहरगढ़, पाकिस्तान', साएआ, 1981, 1984, 27.
27. वही।
28. वही, 28.
29. जैरिज, पूर्व., 1985, 7.
30. वही।
31. वही, 8. जैरिज मानते हैं कि हड़प्पा सभ्यता के निर्माण में अनेक तत्व शामिल थे, जिन्हें अभी समझा ही नहीं जा सका है।
32. डॉ. एस. पी. गुप्त, मौखिक चर्चा।
33. ब्रिजेट आल्चिन, 'दि हड़प्पन इन्वायर्नमेंट', फ्रंइंसि., 1984, 447.
34. आर. एल. राइक्स, 'मोहनजोदड़ो इन्वायर्नमेंट', फ्रंइंसि., 455-60.

अध्याय सात

हड़प्पा सभ्यता का पतन

हड़प्पा सभ्यता के उद्भव की भाँति ही इसके पतन की कहानी भी अध्येताओं के लिए एक रहस्य बनी रही है। उद्भव और पतन दोनों ही आरम्भ में जितने धूमिल प्रतीत होते थे, उतने धूमिल तो नहीं रह गये, पर इसके बावजूद जितना कुहरा छाया रहा उसमें अटकलों के लिए काफ़ी गुंजायश थी। मोहनजोदड़ो की खुदाई के बाद हठात् एक अतिशय परिपक्व सभ्यता का सामने आना और इसके पूर्वसूत्रों का कोई संकेत न मिलना अपने आप में एक पहेली थी। हड़प्पा की खोज ने इस पहेली को सुलझाने के स्थान पर और उलझाया ही। कारण, मोहनजोदड़ो के आद्य स्तर तक विद्वानों की नज़र और खुदाई करने वालों के फावड़े कभी पहुँच ही नहीं पाये और इसलिए एक क्षीण आशा इस बात की बनी हुई थी कि सम्भव है उन निचले स्तरों में इसके आरम्भिक विकास के भी कुछ सूत्रों का पता चल जाये। पर हड़प्पा की स्थिति ऐसी नहीं थी और इसकी खुदाई ने यह सिद्ध कर दिया कि इस नगर की स्थापना ही सभ्यता के परिपक्व चरण में हुई और नगर-निर्माण से पहले इसकी पूरी योजना निर्माताओं के सामने स्पष्ट थी। इस सभ्यता की कुछ भेदक विशिष्टताएँ ऐसी थीं जिनको देखते हुए यह कहने का साहस तो विद्वानों को कभी नहीं हुआ कि इसके निर्माता पश्चिमी एशिया की सभ्यताओं से आये हो सकते थे, पर कालक्रम की दृष्टि से उनकी अग्रता को ध्यान में रखते हुए उन्हें इस बात का प्रलोभन बराबर बना रहा कि प्रत्यक्ष नहीं तो कम-से-कम परोक्ष प्रेरणा के रूप में इसका श्रेय वे सुमेरिया और मेसोपोटामिया की सभ्यताओं को दें। इस क्षेत्र में अग्रणी भूमिका पाश्चात्य विद्वानों की ही थी, जिनका सांस्कृतिक लगाव पश्चिमी एशिया से अनेक कारणों से रहा है, अतः विभिन्न विरोधी कारणों को स्वीकार करते हुए भी वे जैसे-तैसे हड़प्पा सभ्यता के पीछे पश्चिमी एशिया की कल्पना करते रहे हैं।

पाश्चात्य प्रेरणा के हिमायती विद्वानों को जिन असुविधाओं का सामना करना पड़ रहा था उनमें से एक थी हड़प्पा सभ्यता की स्वविशिष्टता और अपनी समकालीन पश्चिमी सभ्यताओं की तुलना में इसका उन्नत स्तर। मार्शल ने

यद्यपि इस सभ्यता का काल निर्धारित करने में कुछ उदारता से काम लिया था, जिसे बाद के कार्बन-14 विश्लेषण से कुछ नीचे लाने की ज़रूरत अनुभव हुई, पर जैसा कि कुछ अन्य विद्वानों ने इस विश्लेषण की सीमाओं का उल्लेख करते हुए सुझाया था, इस कालनिर्धारण को भी शताब्दियों पीछे ले जाने की आवश्यकता है। जो भी हो, किसी भी सूरत में यह सभ्यता वास्तु, नगर-योजना और शिल्प की दृष्टि से ही नहीं, लेखन-शैली, लेखन-सामग्री और लिपि की दृष्टि से भी सुमेरिया और मेसोपोटामिया की समकालीन सभ्यताओं से श्रेष्ठतर सिद्ध होती है। इसके आरम्भ-बिंदु से ही इसकी कलारूढ़ियाँ और कलावस्तुओं के साथ संवेदनात्मक लगाव, मार्शल के शब्दों में, क्लासिकी यूनानी सभ्यता के युग से पहले की किसी अन्य सभ्यता में देखने को नहीं मिलते।[1] मार्शल ने ठीक ही कहा था कि इस सभ्यता का निर्माण भारतीय भूभाग में ही कई हज़ार वर्षों के दौरान हुआ होगा।[2]

आरम्भ में जहाँ इस सभ्यता के प्रमाण कुछ नगरों से ही पाये गये थे वहाँ बाद की खोजों से यह क्षेत्र लगभग बारह लाख वर्ग किलोमीटर तक फैल गया। यह क्षेत्र सुमेरिया, बेबीलोनिया और मिस्र की सभ्यताओं के समग्र क्षेत्र के लगभग बराबर था और इससे जुड़ी हुई ग्राम्य-संस्कृतियाँ इसके भारतीय मूलाधार की अकाट्य पुष्टि थीं, अतः इसके भारतीय मूल के विषय में किसी प्रकार की आंशका की सम्भावना नहीं थी। आरम्भ में भी जब इसकी पहचान कुछ नगरों से ही हो पायी थी, एक तथ्य सुमेरियाई सभ्यता के विपरीत भारतीय पक्ष में जाता था। विदेशों से आयतित और आरोपित सभ्यताओं की बस्तियाँ समुद्र-तट के अधिक करीब हुआ करती हैं। जहाँ सुमेरी सभ्यता का उत्स उन केन्द्रों से दिखायी देता है जो समुद्र के निकट, दजला-फ़रात के मुहानों के पास थे, जो इसके विदेशी प्रेरक स्रोत के संकेत थे, वहाँ भारतीय नगर समुद्र से बहुत दूर, देश के बहुत भीतर धँसे हुए थे। साथ ही, ऊर में सभ्यता का बीजारोपण करने वाले समुद्र-मार्ग से पूर्व की दिशा से आये लोगों की कहानी थी जिसको बेरोसस ने अंकित किया था।

जो भी हो, मार्शल जिन्होंने यह सुझाव रखा था कि हड़प्पा सभ्यता का उत्स हज़ारों वर्षों के दौरान भारतीय भूभाग में ही हुआ लगता है, उन्होंने ही इसके सही पहचान के मार्ग में सबसे बड़ी रुकावट भी पैदा कर दी जब उन्होंने कहा कि हड़प्पा सभ्यता वैदिक सभ्यता से भिन्न है और इसका अवसान वैदिक जनों या आर्यों के भारत में प्रवेश से पहले हो चुका था। यद्यपि मार्शल ने यह लक्ष्य भी किया था कि हड़प्पा सभ्यता के धर्म और विश्वास, रीति और आचार वैदिक परम्परा में ग्रहण कर लिये गये थे, और वह भी विशेषतः उत्तरवैदिक परम्परा में, पर उनके पास इसका कोई समाधान न था कि इस बीच यह परम्परा जीवित कैसे रही थी और इसे उत्तरवैदिक परम्परा में ही क्यों अपनाया गया। मार्शल के

के लिए मैक्समूलर की तिथि अन्य सभी साक्ष्यों से अधिक महत्वपूर्ण थी और भारत में आर्यों को बाहर से लाने के लिए हड़प्पा और वैदिक सभ्यताओं का अलगाव दिखाना जरूरी था। अन्य विद्वानों ने जब वैदिक समाज की पूर्ववर्ती अवस्थाओं की स्मृतियाँ ब्राह्मणों आदि में सुरक्षित देखीं और उनके सहारे भारतीय समाज को समझने का प्रयत्न किया वहाँ भी वे या तो इस पूर्वावस्था को भारत से बाहर कल्पित करते रहे या आँकड़ों का मनमाना प्रयोग करके मनचाहे निष्कर्ष निकालते रहे, जैसा कि हमने पीछे के कुछ अध्यायों में देखा है। यदि सामग्री का सही ढंग से विवेचन किया गया होता तो इस सभ्यता के विकास को अधिक विश्वसनीय ढंग से समझा जा सकता था।

इसी तरह हड़प्पा सभ्यता के अवसान के विषय में आरम्भ से जो धुन्ध बनी हुई थी वह उत्तर-हड़प्पा से सम्बन्धित जानकारी में विस्तार के साथ छँटती गयी है और वह स्पष्ट हो चला है कि हड़प्पा सभ्यता पूरी तरह ध्वस्त और लुप्त नहीं हो गयी, अपितु इसका आधार खण्डित हो जाने के बाद इसका क्रमशः पूर्व और दक्षिण की ओर स्थानान्तरण हुआ और यह अपनी विरासत को किसी-न-किसी रूप में आज तक जिलाये चली आयी है।

हड़प्पा सभ्यता लुप्त भले ही न हुई हो, इसका पतन तो हुआ ही था। इस का क्या कारण था? यह एक टेढ़ा सवाल है और इसे लेकर तरह-तरह के अनुमान लगाये जाते रहे हैं। हम इन अनुमानों का जायज़ा लेते हुए यह देखने का भी प्रयत्न करते रहेंगे कि क्या वैदिक और उत्तरवैदिक साहित्य में कुछ ऐसे सूत्र ढूँढ़े जा सकते हैं जिनसे इस सभ्यता के पतन की कहानी को भी समझने में उसी तरह मदद मिल सके जैसे इसके विकास को समझने में मदद मिलती है? साथ ही, हम यह देखने का भी प्रयत्न करेंगे कि इस पतन के बाद वैदिक समाज और संस्कृति में क्या परिवर्तन आये?

इतिहास में नगरों के ध्वंस के अनेकानेक उदाहरण पाये जा सकते हैं, परन्तु एक पूरी-की-पूरी सभ्यता और संस्कृति न तो अकारण पैदा होती है, न अकारण लुप्त। यदि सभ्यता का विस्तार हड़प्पा सभ्यता जैसा हो तो यह पतन या ह्रास भी किन्हीं बाह्य कारणों या आकस्मिक घटनाओं से हुआ नहीं माना जा सकता। कारण, आक्रमण या आकस्मिक घटनाएँ इतने विशाल क्षेत्र को इतनी तेजी से प्रभावित नहीं कर सकतीं। यही कारण है कि विद्वानों ने इसके लिए एकाधिक कारणों को उत्तरदायी माना है, पर जिन कारणों की ओर उसका ध्यान सामान्यतः जाता रहा है, वे भी इस पतन या ह्रास का औचित्य सिद्ध करने की दृष्टि से अपर्याप्त ही प्रतीत होते हैं। जैसा कि हम कह आये हैं, सभ्यता का निर्माण और पतन दोनों विशेष आर्थिक परिस्थितियों की देन हुआ करते हैं। जब आर्थिक आधार सुदृढ़ होता जाता है, सभ्यता का आधार उन उपक्रमों और अध्यवसायों के

चलते ही सुदृढ़ होता जाता है जो आर्थिक आधार की निर्मिति के लिए किये जाते हैं। आर्थिक विकास जब अपने युग की सामाजिक और तकनीकी सीमाओं के कारण अवरुद्ध हो जाता है तब इस विकास में अवरोध या ठहराव आ जाता है। इस आधार के विघटन के साथ सभ्यता का विघटन और इसके पतन के साथ सभ्यता का पतन आरम्भ हो जाता है। अतः जब भी हम किसी सभ्यता के ह्रास या पतन का अध्ययन कर रहे हों, इस बात पर ध्यान देना ज़रूरी है कि क्या वे कारण इतने प्रबल और स्थायी प्रभाव डालने वाले थे जिनसे वह सभ्यता के अपने पूरे प्रसार-क्षेत्र में प्रभावित हो सकती थी ?

2

बाढ़

हड़प्पा सभ्यता के पतन के कारणों में से एक प्रधान कारण सिन्धु नदी की बाढ़ों को बताया जाता है। मैकाय इस विषय में लिखते हैं, "मोहनजोदड़ो को सम्भवतः अपनी स्थापना के समय से ही एक बहुत बड़े शत्रु का सामना करना पड़ रहा था। यह थी सिन्धु।...इसके उद्गम-क्षेत्र में बर्फ़ और हिम के असाधारण तेज गति से पिघलने या हिमसेतुओं के टूटने से या सिन्ध और बलूचिस्तान में बहुत अधिक वर्षा होने से बहुत तेज बाढ़ें आ सकती हैं, और आया करती हैं। इन नगर के दो भिन्न स्तरों पर जिनमें से एक बहुत नीचे है, तट-बन्धों और कुँओं की चिनाई से यह सिद्ध होता है कि मोहनजोदड़ो के आरम्भिक काल में एक बड़ी बाढ़ आयी थी और दूसरी से इसका ह्रास आरम्भ हुआ था। इन दोनों अवसरों पर नगर को कुछ समय के लिए खाली कर देना पड़ा था और जब सारा ख़तरा टल गया था तब इसे आबाद कर लिया गया था।"[3]

वह आगे लिखते हैं, "पर यह कल्पना नहीं कर ली जानी चाहिए कि मोहन-जोदड़ो कभी बहुत गहराई तक डूब गया था। नगर बार-बार और हर बार आस-पास के धरातल से काफ़ी ऊँचाई पर नये सिरे से बनाया जाता रहा ताकि इसके निवासियों के डूबने का ख़तरा न रहे, यद्यपि इसका पानी मीलों तक फैल जाता था और सारा व्यापार-वाणिज्य महीनों तक रुक जाया करता था।"[4]

और "अन्ततः मोहनजोदड़ो और हड़प्पा दोनों लगभग एक ही समय में छोड़ दिये गये। हड़प्पा को छोड़ने का कारण, ज़ाहिर है, रावी की धारा का हट जाना था, जिसके तट पर यह स्थित था। यह पता नहीं चलता कि मोहनजोदड़ो के निवासियों को यह नगर अन्ततः क्यों छोड़ना पड़ा। सम्भव है, सिन्धु की धारा में परिवर्तन ही इसका निर्णायक कारण रहा हो।"[5]

सरस्वती की भयंकर बाढ़ सारस्वत क्षेत्र से इस सभ्यता के केन्द्रों के स्थानान्तरण का एक प्रधान कारण बनी थी। सरस्वती के प्रवाह के अवरुद्ध होने के बाद सरस्वती के ग्रहण-क्षेत्र की जलराशि पूर्व में यमुना और पश्चिम में सिन्धु की सहायिकाओं के ग्रहण-क्षेत्र में बँट गयी और इसलिए सिन्धु में पहले की अपेक्षा अधिक उग्र बाढ़ें आने लगी होंगी। पर जहाँ तक वैदिक साहित्य का प्रश्न है, सरस्वती को जितनी भयंकर नदी के रूप में याद किया गया है, सिन्धु को नहीं। इन दोनों नदियों के प्रवाह का जो अन्तर है वह ध्यान देने योग्य है। सरस्वती का वेग अपने वैभव-काल में अधिक प्रचण्ड रहा लगता है। उसे पारावतघ्नी और शिखरों को कमलनाल की तरह तोड़ने वाली कहा गया है जो बाढ़ के दिनों में इसके पर्वतीय क्षेत्र में होने वाले भूस्खलनों का सूचक है।[6] इसे तटबन्धों को तोड़ने वाली या वृत्रघ्नी, भयंकर या घोरा और हिरण्यवर्तनी या अपनी धारा को बदलने वाली नदी बताया गया है।[7] परन्तु सिन्धु की विपुल जलराशि का ही वर्णन आता है। यह उमड़ कर बहती है।[8] इसके विषय में यदि पर्वतीय क्षेत्र का उल्लेख आता है तो केवल इस रूप में कि यह धरती से अधिक पर्वतीय क्षेत्र में प्रवाहित होती है। यदि सरस्वती घोरा हिरण्यवर्तनी है तो सिन्धु को सुकृता हिरण्ययी[9] या व्यापारिक गतिविधियों में सहायक और सुरथा या आसानी से नौगम्य बताया गया है।[10] सरस्वती से जहाँ इस बात की प्रार्थना की जाती है कि वह अपने तट से उजाड़ कर अन्यत्र जाने को विवश न करे[11], वहाँ सिन्धु से इस प्रकार का कोई भय नहीं दिखायी देता। जैसे राजा अपनी सेना का नेतृत्व करता आगे बढ़ता है वैसे ही यह अन्य नदियों और जलधाराओं को लेकर चलती है।[12] जैसे बच्चा माँ की ओर भागता वैसे ही अन्य धाराएँ सिन्धु की ओर भागती हैं।[13] अतः यह मानने का पर्याप्त कारण है कि सरस्वती की अपेक्षा सिन्धु को अधिक निरापद नदी माना जाता था। इन दोनों नदियों से सम्बन्धित सूक्तों को एक साथ पढ़ने पर ऐसा लगता है कि नदी-सूक्त का रचनाकार सरस्वती की महिमा में रचित सूक्तों से परिचित था और वह, जहाँ औचित्य है वहाँ, उसी शब्दावली का प्रयोग करता है, अतः यह दो कवियों के द्वारा रचित सूक्तों और दृष्टियों के अन्तर के कारण नहीं, अपितु दोनों नदियों की अपनी विशेषताओं के कारण है कि एक को पारावतघ्नी, वृत्रघ्नी और घोरा या अधिक भयंकर बताया जाता है और दूसरी की विपुल जल-सम्पदा, उमड़ती हुई जलधारा की चर्चा आती है और गगनभेदी गर्जना के साथ प्रवाहित होने के बावजूद उसे अधिक निरापद बताया गया है। महत्वपूर्ण बात यह कि सिन्धु को ऋजीत्येनी या ऋजु मार्ग वाली, धारा न बदलने वाली कहा गया है।[14]

वरुण के देवत्व के विषय में हम पीछे विचार कर आये हैं और यह कह आये हैं कि उनका सम्बन्ध समुद्री व्यापार से है। वरुण को नदी। सूक्त में सिन्धु के मार्ग से व्यापार पर जाता दिखाया गया है।[15] आज भी सिन्ध में वरुण की पूजा

झूलेलाल के रूप में प्रचलित है, जो सिन्धियों के सबसे प्रधान देवता हैं।

इन विवरणों से ऐसा नहीं लगता कि वैदिक व्यापारियों को सिन्धु से उस तरह की असुविधा अनुभव हो रही थी जैसी सरस्वती से इससे पहले हुआ करती थी। इन दोनों नदियों के पर्वतीय क्षेत्र से लेकर समुद्र-पर्यन्त तक के प्रवाह का वर्णन इस बात का सूचक है कि वैदिक काल के साहसी व्यापारियों और चरकों या खोजियों ने इन दोनों नदियों को अपनी गतिविधियों का प्रमुख माध्यम बनाया था। जो भी हो, यदि सिन्धु में एक-दो बहुत बड़ी बाढ़ें आयी थीं तो इन्हें इतना भयंकर नहीं माना जा सकता कि इनके कारण इस सभ्यता का पतन हो जाये। स्वयं मैकाय भी इसी तरह का संकेत देते प्रतीत होते हैं। पहली बाढ़ का विनाशकारी असर तो इस बात से ही ख़त्म हो जाता है कि इसके बावजूद शताब्दियों तक मोहनजोदड़ो फलता-फूलता रहा और दूसरी घटना के बाद भी बाढ़ खत्म होने के बाद गतिविधियाँ पुनः आरम्भ हो गयी थीं। जहाँ तक धारा के बदलाव का प्रश्न है, सिन्धु इस मामले में सरस्वती से भिन्न और ऋजुगामिनी या अपनी धारा को स्थिर रखने वाली नदी बतायी ही गयी है। अतः यदि आज हड़प्पा रावी-तट से दूर है और सिन्धु भी मोहनजोदड़ो से कुछ हटी हुई है तो भी यह मात्र अनुमान ही हो सकता है कि इन नदियों की धारा के हट जाने के कारण इन नगरों का पतन हुआ। वस्तुतः यहाँ हम मात्र दो नगरों के पतन पर विचार नहीं कर रहे हैं। यह एक पूरी सभ्यता के पतन का सवाल है जिसके लिए बाढ़ या बहाव में परिवर्तन को कारण नहीं माना जा सकता। जो मोहनजोदड़ोवासी अकसर बाढ़ों के दबाव से नये आवास बनाते रहते थे वे धारा के बदलाव के साथ अपनी बस्तियों में भी बदलाव ला सकते थे। यदि वे अपनी गोदी तक नदी से काट कर नहर बना सकते थे तो धारा के हट जाने पर इस नहर को और लम्बी कर सकते थे। अतः वैदिक साक्ष्यों से हड़प्पा सभ्यता के पतन का बाढ़ से सीधा सम्बन्ध नहीं जुड़ता, और सामान्य बुद्धि भी इसे प्रधान कारण नहीं स्वीकार करती।

3

आक्रमण

हड़प्पा और मोहनजोदड़ो के नगर-प्राचीरों की ऊँचाई और मजबूती को और आगे चलकर इसकी बार-बार मरम्मत होने के प्रमाणों को ध्यान में रखते हुए यह अनुमान लगाया गया है कि अपने आरम्भिक काल से ही हड़प्पा और मोहनजोदड़ो के नगर और प्रकारान्तर से कहें तो, पूरी हड़प्पा सभ्यता आतंक की छाया में जीती रही थी। इन लोगों को पश्चिम दिशा से खतरे का अन्देशा दिखायी देता

है और इसके लिए बलूच पहाड़ियों में बसे उपद्रवी क़बीलों को ज़िम्मेदार माना जाता रहा है।[16] इसी की अगली कड़ी यह मानी जाती है कि अन्तिम दौर में हड़प्पा सभ्यता को एक अधिक बड़े हमले का सामना करना पड़ा और पहले से कमज़ोर हुई यह सभ्यता इस हमले को झेल नहीं पायी। मैकाय आदि ने हड़प्पा और मोहनजोदड़ो में अस्वाभाविक परिस्थितियों में हुई कुछ मौतों का उल्लेख किया है और इन मौतों को एक सूत्र में जोड़ते हुए ह्वीलर ने इसे एक हत्याकांड के रूप में देखा था और इसके पीछे आर्य आक्रमण का हाथ माना था[17], क्योंकि उनकी समझ में वैदिक संघर्षों का, पुरों के ध्वंस का और इन घटनाओं का कोई अन्य तर्कसंगत कारण नहीं आ रहा था।

इस मान्यता की आलोचना हम पहले कर आये हैं और देख आये हैं कि आगे चलकर दूसरे विद्वानों ने इसे कैसे एक मिथक से अधिक कुछ नहीं पाया। इन हत्याओं से आर्य आक्रमण का कोई सम्बन्ध नहीं था, यह भी हम देख आये हैं और विभिन्न पहलुओं से हड़प्पा सभ्यता पर विचार करते हुए हम इस बात की अकाट्य पुष्टि होती पाते हैं कि हड़प्पा सभ्यता स्वयं वैदिक सभ्यता है। यहाँ हम जिस पहलू पर बल देना उचित समझते हैं वह यह कि हड़प्पावासियों की जिस सुरक्षा-व्यवस्था का प्रमाण विद्वानों ने ढूँढ़ निकाला है वह स्वयं वैदिक नगरों की सुरक्षा-व्यवस्था थी और जिन आतंकों की छाया में हड़प्पावासी जी रहे थे वह वैदिक शहरी जमात का अपना आतंक था। इन्द्र को अपने स्वर्ग में, जिसे उन्होंने असुरों के लिए अगम्य बनाया था, पहुँचने पर भी असुरों के आतंक से मुक्ति नहीं मिलती। उनके नगरों पर असुरों के हमले होते रहते हैं। इन हमलों में देवताओं की जानें भी जाती हैं और अपनी संगठित शक्ति तथा सहायकों की सहायता से इन्द्र बार-बार असुरों को पराजित करने में और अपने स्वर्ग की रक्षा करने में समर्थ भी होते हैं।

परन्तु जहाँ तक नगरों का सम्बन्ध है, वे अपनी सुदृढ़ रक्षा-व्यवस्था के कारण लगभग अजेय हैं। अधिक परेशानी देवों या वैदिक व्यापारियों को अपनी व्यापारिक यात्राओं के क्रम में झेलनी पड़ती है और इस तरह असुरों या लुटेरों के साथ वैदिक व्यापारियों का संघर्ष एक निरन्तर चलने वाला संघर्ष है, जिसे सामान्य उपद्रवों से अधिक महत्त्व नहीं दिया जा सकता। ज़ाहिर है कि जिन दस्युओं का सामना वैदिक व्यापारियों को करना पड़ता था वे पहाड़ी क्षेत्रों और जंगली इलाकों के होने के कारण बलूच पहाड़ियों पर बसने वाले क़बीलों की याद दिलाते हैं, यद्यपि उपद्रव की यह अकेली दिशा नहीं थी, न ही उपद्रव केवल हड़प्पा के प्रसार-क्षेत्र तक सीमित थे।

पर इन उपद्रवों को हड़प्पा सभ्यता के पतन का एकमात्र कारण मानना उचित नहीं है। अपने पूरे विकास और समृद्धि के काल में वैदिक जनों को इन ख़तरों से जूझना पड़ा और इसके बावजूद उनकी सभ्यता और संस्कृति इन चुनौतियों का

प्रभावशाली ढंग से सामना करती हुई आगे बढ़ती रही। यही काम यह आगे भी कर सकती थी। अतः हमें उन कारणों पर ध्यान देना होगा जो हड़प्पा सभ्यता या वैदिक समाज के भीतर विद्यमान थे और जिनके उग्र रूप धारण करने पर यह सभ्यता अपनी चुनौतियों का सामना करने में अक्षम हो गयी। साथ ही, उन अन्य कारणों की ओर दृष्टिपात करना होगा जिनका इस ह्रास पर गौण पर अनिवार्य प्रभाव पड़ा हो सकता है।

4
सामाजिक और आर्थिक ह्रास

हड़प्पा सभ्यता के आर्थिक ह्रास की ओर विद्वानों का ध्यान गया है और इसे भी उन्होंने इसके पतन के कारणों में से एक माना है, परन्तु इन कारणों को उन्होंने सतही रूप में तलाश करके ही अपने को सन्तुष्ट कर लिया है। स्वयं हड़प्पा सभ्यता के अपने ढाँचे में पलने वाली विकृतियों को लक्ष्य करने का उनके पास कोई साधन नहीं था। यहीं हमें वैदिक साहित्य से कुछ सहायता मिल सकती है।

1. **विलासिता और दुर्व्यसन**—प्रत्येक सभ्यता के विनाश के बीज स्वयं उसके भीतर ही निहित होते हैं और कभी-कभी उसकी सबसे बड़ी शक्ति ही उसकी सबसे बड़ी दुर्बलता भी सिद्ध होती है। वैदिक समाज में अतिरिक्त उत्पाद एक सीमित दायरे के भीतर संग्रहीत हो रहा था। इस सम्पदा से ही वह उस तन्त्र को विकसित और व्यवस्थित रखने में समर्थ था जिससे समाज के शेष वर्गों को नियन्त्रित किया और अतिरिक्त उत्पाद का अपहरण किया जा रहा था। पर इस सम्पत्ति का अकूत संग्रह अपने निकास के दूसरे रास्ते भी निकालने लगा। इसकी अभिव्यक्ति भोगवादिता और विलासिता में होती दिखाई देती है। इस प्रवृत्ति का आरम्भ ऋग्वेद के प्राचीन मण्डलों के रचनाकाल में ही हो गया था, पर नये मण्डलों में तथा अथर्ववेद के रचनाकाल में यह एक संक्रामक व्याधि का रूप लेता दिखायी देती है।

इन सम्पन्न लोगों की एक से अधिक पत्नियाँ, उपपत्नियाँ और दासियाँ और इन सभी को अपनी सम्पत्ति के रूप में रखना, इसके बावजूद वेश्यावृत्ति आदि की आदतें, एक ऐसे स्वैराचार का वातावरण तैयार करती हैं जिसमें दुराचार और यौनकुण्ठा की वृद्धि स्वाभाविक है। यदि कोई व्यक्ति इतनी अधिक स्त्रियों को अपने पास रखता है जिनकी तुष्टि करना उसके लिए सर्वथा असम्भव है तो बन्धन चाहे जितने भी लगाये जायें, वे अपनी तुष्टि के लिए रास्ते निकाल ही लेंगी और इसके बावजूद उत्पीड़न और घुटन के बीच जीने का प्रयत्न करेंगी। जार या पर-

स्त्री-गामी शब्द वैदिक साहित्य में देवताओं के लिए भी प्रयुक्त हुआ है।[18] कामी पुरुष चोरी से अपनी प्रेमिका से मिलने का प्रयत्न करता है और कामना करता है कि जब वह उसके घर में घुसे तब उसके परिवार के सभी लोग सो रहे हों।[19] स्त्रियाँ अपनी सपत्नियों के सन्ताप से खिन्न उनकी अमंगल कामना करती हैं। अथर्ववेद के साक्ष्य इस बात की ओर संकेत करते हैं कि इस अमीर तबके की एक चिन्ता है अधिक-से-अधिक यौन-तुष्टि। वशीकरण या किसी स्त्री या पुरुष को अपने वश में करना, वाजीकरण या यौन-शक्ति को बढ़ाना, सपत्न और सपत्नीनाश, आदि इस वर्ग की चिन्ताओं मे शामिल हैं। उसकी प्रधान व्याधियों में से एक है यक्ष्मा, जो यौन अतिचार का अनिवार्य परिणाम हुआ करती है।[20]

इसके अतिरिक्त जुए के अड्डे हैं जहाँ जुआरी अपना सर्वस्व लुटा सकता है। यद्यपि ऋग्वेद में इस सम्बन्ध में केवल एक ही सूक्त आया है[21] और कुछ अन्य स्थलों पर कितव या जुआरी के प्रासंगिक उल्लेख हैं[22], पर उक्त सूक्त को पढ़ने पर इस विषय में किसी प्रकार का सन्देह नहीं रह जाता कि यह एक व्याधि का रूप ले चुका था। ऋग्वेद में और बाद के साहित्य में भी मदिरापान की बार-बार निन्दा की गयी है। सोम की तुलना में इसके उल्लेख भी कम आये हैं और सोम तथा सुरा की प्रकृति में भी विरोध दिखाया गया है, पर जो प्रासंगिक उल्लेख आये हैं उनसे ऐसा लगता है कि शराब के नशे में धुत होकर वैदिक नागर शिष्टाचार के नियमों की परवाह किये बिना गली-मुहल्ले में तमाशे खड़े कर दिया करते थे।[23]

इन विवरणों से ऐसा लगता है कि अपने निर्माण-काल की लगन, अध्यवसाय, अनुशासन, संयम, नागरिक नियमों के प्रति सम्मान आदि को छोड़ कर इसके प्रभुवर्ग का काफ़ी बड़ा हिस्सा अपनी अमीरी के नशे में चूर होता चला जा रहा था। उसकी विलासिता और विलासिताजन्य रुग्णता ने उसकी ओजस्विता, पहल की भावना, जोखिम उठाने के साहस आदि को कम कर दिया था और इस तरह का समाज बहुत अधिक समय तक अपने वैभव को कायम नहीं रख सकता था। दूसरे शब्दों में कहें, तो हड़प्पा सभ्यता अपने ही वैभव के अन्धकार में खोती चली गयी और अपने अन्तिम दौर में यह अन्धप्राय-सी हो चुकी थी। यह उसके पतन के प्रधान कारणों में से एक है।

2. **आन्तरिक प्रतिस्पर्धा**—ब्राह्मणों आदि में प्राचीन समाज के जिस पहलू पर प्रायः बल दिया गया है वह है विभिन्न देवताओं द्वारा अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने और यज्ञ या उत्पादन में अधिक-से-अधिक और सर्वप्रथम भाग पाने की होड़। सामाजिक उत्पादन से अधिकाधिक अपने हिस्से में डालने का वह प्रयत्न लगभग उस अवस्था से आरम्भ हो गया लगता है जब देव वर्ग आरामतलबी की ओर बढ़ने लगा और श्रम का भार उसके दासों पर पड़ गया। लूट के माल में सबसे बड़ी समस्या और, कहें, केन्द्रीय समस्या बँटवारे की ही होती है। इससे पहले इस तरह

की प्रतिस्पर्धा का सवाल इसलिए नहीं उठता था कि हिस्सा काम के अनुसार अपने आप बँटा हुआ था। जिसने जितना पैदा किया उतना उसका हो गया। पर जब श्रम करने वाले दूसरे हों, प्रबन्ध का भार दूसरों पर हो, अनुशासन और दमन का भार किन्हीं दूसरे लोगों पर हो और मन्त्रणा तथा मार्गदर्शन का कार्य-भार एक अन्य वर्ग ने सँभाल रखा हो, अर्थात् अतिरिक्त उत्पादन के प्रमुख दावेदारों में से किसी का उत्पादन से सीधा सम्बन्ध न हो, तब यह निर्णय करना कुछ कठिन अवश्य हो जाता है कि इनमें बड़ा हिस्सा किसका होना चाहिए। ब्राह्मणों में वर्णित प्रतिस्पर्धा इसी को प्रतीकात्मक रूप में प्रस्तुत करती है।

वैदिक व्यापारियों के बीच प्रतिस्पर्धा काफ़ी ज़ोर पर थी और इसकी एक मिसाल दासराज्ञ युद्ध है। वे एक-दूसरे को मिटाने पर उतारू थे और इसके लिए वे अपने से भिन्न गणों की सहायता लेने को भी तैयार थे।[24] अतः इन्द्र को जब-तब केवल असुरों का ही नहीं, बल्कि अपने उपासक की रक्षा के लिए स्वयं आर्यों या वैदिक सम्प्रदाय के प्रतिस्पर्धी व्यापारियों का भी सफ़ाया करना पड़ता है। यह प्रतिस्पर्धा निश्चय ही वैदिक व्यापारियों के लिए एक अशुभ प्रवृत्ति को प्रकट करती है, पर यह उतनी ख़तरनाक नहीं थी जितनी समाज के विभिन्न वर्गों या वर्णों के बीच आपसी प्रतिस्पर्धा। जिन लोगों के हाथ में उत्पादन का प्रबन्ध था या जो व्यापारिक गतिविधियों से जुड़े हुए थे या जो नियन्त्रण, रक्षा और प्रशासन के लिए जिम्मेवार थे उनके लाभ बहुत स्पष्ट थे, पर मन्त्रदाताओं के हाथ प्रत्यक्षतः कुछ भी नहीं था और अपनी मन्त्रशक्ति या बौद्धिक सूझबूझ से ही वे यथासम्भव अधिक-से-अधिक लाभ प्राप्त करना चाहते थे, और उन्होंने इसके लिए जिस युक्ति का विकास किया उसके परिणाम न केवल वैदिक काल के लिए अपितु आने वाली सहस्राब्दियों के लिए भी भयावह सिद्ध हुए।

(क) **ब्राह्मणों-क्षत्रियों का गठबन्धन**—यह कहना कठिन है कि प्राचीन वैदिक काल में वर्णव्यवस्था का रूप ठीक-ठीक क्या था, पर इस विषय में किसी सन्देह की गुंजायश नहीं कि ऋग्वेद के नवीन मण्डलों में वर्णव्यवस्था पूरी तरह स्थापित हो चुकी थी। अपने कार्यभार के कारण भौतिक शक्ति से किंचित शून्य ब्राह्मणों ने प्रशासन और सैन्यशक्ति के प्रभारी क्षत्रियों से गठजोड़ करते हुए स्वयं अपने और क्षत्रियों के वर्चस्व की नींव रखी। इन दोनों की मिली-भगत से न केवल दासों का दोहन प्रखर हुआ, अपितु वैश्यों का भी शोषण आरम्भ हुआ। इसका प्रभाव निश्चित रूप से अर्थव्यवस्था पर पड़ना था और पड़ा होगा।

(ख) **कर्मकाण्ड**—मनुष्य में प्रतीक गढ़ने और उन प्रतीकों के माध्यम से अपने गौरवशाली पक्षों को जिलाये रखने की प्रवृत्ति बहुत पुरानी है। क़बीलाई जीवन के टोटेम आदि भी एक तरह के प्रतीक ही हैं। आज भी हम जानें कितने प्रतीकों का प्रयोग करते हैं। जिस अग्नि से जंगलों की सफ़ाई करके कृषि का आधार रखा

गया था और जो उत्पादन का प्रतीक बन गया था उसकी पूजा और उसमें उन उत्पादनों का प्रतीकात्मक विसर्जन कोई अस्वाभाविक बात नहीं थी। पर ब्राह्मण पुरोधाओं ने क्रमशः इस प्रतीक यज्ञ को वास्तविक यज्ञ या उत्पादन का स्थानापन्न बना दिया। यज्ञ के माध्यम से ही सभी सुख-वैभव, सभी प्रकार की सुरक्षाएँ और विजयें प्राप्त की जा सकती हैं, इस बात का प्रचार किया जाने लगा। जिस समाज की शिक्षा का भार ब्राह्मणों के ऊपर था उसके ब्राह्मण पुरोधा अपने छात्रों के मन में कुछ भी उतार सकते थे और किशोरावस्था से ही इन विश्वासों को चेतना का अंग बनाकर वे समाज को अपने इच्छित रास्ते पर ले जा सकते थे, भले वह रास्ता पूरे समाज को देखते हुए कल्याणकारी हो या अकल्याणकारी। चूँकि वास्तविक अध्यवसाय और पराक्रम के बिना इन प्रतीकात्मक यज्ञों से कुछ भी हासिल नहीं हो सकता था, अन्यथा इनके पुरोधा किसी अन्य को कुछ देने से पहले स्वयं यज्ञ से अपने लिए सब कुछ हासिल कर लेते और उन्हें दूसरों के दान पर आश्रित नहीं रहना पड़ता, न दानियों की अतिरंजनापूर्ण प्रशस्तियाँ गानी पड़तीं, अतः यज्ञ-विधानों के बावजूद इच्छित फल प्राप्त न होने का दोष वे यज्ञविधानों में हुई त्रुटियों को देने लगे और इस तरह यज्ञ-सम्पादन को एक जटिल और पाखण्डपूर्ण विज्ञान का रूप दिया जाने लगा जिसके चलते कर्मकाण्ड का ऐसा विराट विभ्रम पैदा हुआ जो आज तक जारी है। इस कर्मकाण्डीय विस्तार ने समाज की क्रियाशीलता और वस्तु, दृष्टि को प्रभावित करते हुए हड़प्पा सभ्यता को जर्जर कर दिया होगा।

(ग) **कर्म और भाग्य**—केवल भौतिक शक्ति से किसी समाज को नियन्त्रित नहीं किया जा सकता, अतः प्रत्येक समाज को अपने ढंग से कुछ भ्रमों की सृष्टि करनी पड़ती है। जो व्यक्ति उत्पादन करता है उसे उत्पादन के अनुरूप ही प्रतिलाभ चाहिए। एक शोषण-मूलक समाज यह प्रतिलाभ उसे देना नहीं चाहता, अतः अपने शोषण का औचित्य सिद्ध करने के लिए उसके पास कोई तर्क चाहिए। वैदिक काल में स्वर्ग और नरक के तथा पूर्वजन्म और पूर्वकर्मों के सिद्धान्त कितने प्रचलित हो चुके थे, यह कहना कठिन है, पर भिक्षु आंगिरस द्वारा दक्षिणा के प्रतिलाभों का जो दिव्य वर्णन किया गया है उससे लगता है कि इस प्रकार की धारणाएँ कम-से-कम ऋग्वैदिक काल तक जन्म ले चुकी थीं। इन अभिनव आविष्कारों से एक ओर तो अधिक-से-अधिक दान पाया जा सकता था और दूसरे बिना उत्पादन किये ऐश की जिन्दगी बिताते हुए सामाजिक उत्पादन का अपहरण करने वालों के इस अपहरण का औचित्य सिद्ध किया जा सकता था : यह उनके अपने कर्म का ही फल है जिसे वे भोग रहे हैं, पर यह पूर्वजन्मों का संचित फल है। इसके विपरीत जिन लोगों को घोर श्रम के बावजूद घोर अभाव में जीना पड़ रहा है वह भी उनके विगत जन्मों के कुकर्मों का परिणाम है। यदि इस जन्म में वे पूरी निष्ठा

और निस्पृहता से अपना काम करते गये तो इसका लाभ उन्हें अगले जन्मों में मिलेगा अन्यथा अगले जन्म में भी कष्ट, सम्भवतः इससे भी अधिक कष्ट और अभाव सहना पड़ेगा। इस तरह भाग्यवाद और कर्मवाद क्षत्रिय-ब्राह्मण गठबन्धन का सबसे कारगर हथियार बना और इसने वैदिक या हड़प्पा समाज की निष्क्रियता को बढ़ाया—यदि वे जो कुछ भोग रहे हैं वह पूर्वजन्मों के कर्मों का संचित लाभ है और जो कुछ भाग्य में है उससे अधिक प्राप्ति सम्भव नहीं है, चाहे प्रयत्न कितना भी किया जाये, तो फिर अधिक प्रयत्न करने की आवश्यकता भी क्या है!

(घ) कृत्या—यज्ञ के समानान्तर तन्त्र और जादू-टोने से भी इच्छित फल की प्राप्ति का आश्वासन भी उसी धूर्तता का परिणाम था, जिसकी अभिव्यक्ति यज्ञों के पाखण्डपूर्ण विस्तार में हुई थी। यज्ञ कराने वाले पुरोधाओं का इन तान्त्रिकों और मायाचारियों से सीधा विरोध था, अतः यज्ञ के समर्थक पुरोधा जादू-टोने की भी बहुत तीखी निन्दा करते हैं। यह उनके लिए गाली के समान है। वसिष्ठ पर सम्भवतः एक सबसे बड़ा आरोप यह लगाया गया था कि वह जादू-टोना करते हैं, वह यातुधान हैं, और इससे खीझकर वह कहते हैं कि यदि मैं जादू-टोना करता होऊँ तो मैं आज ही मर जाऊँ, अभी मर जाऊँ, और फिर शाप देते हैं कि जिसने मुझे मायाचारी और यातुधान, जादू-टोना करने वाला कहा हो, इन्द्र उसका सर्वनाश कर दें।[25] वसिष्ठ निश्चय ही यातुधान नहीं हो सकते। कृत्या की उन्हें ज़रूरत क्या? वह तो यज्ञ-सम्पादकों में अग्रणी पुरोधा हैं और तन्त्र-मन्त्र से उनकी जमात पर सीधी आँच आती है। पर इसके बावजूद ऋग्वेद के पुराने मण्डलों में जहाँ तन्त्र और टोटकों के फुटकल उल्लेख आते हैं, नये मण्डलों में जादू-टोने का असर बढ़ता जाता है। सौत के नाश के लिए, राक्षसों के निवारण के लिए, आरोग्य-प्राप्ति के लिए, गर्भाधान के लिए, टोने-टोटके होते दिखायी देते हैं। अथर्ववेद तक पहुँच कर तो यह अपनी पराकाष्ठा पर ही पहुँच जाता है। कृत्या से कृत्या का प्रतिकार किया जा सकता है, शत्रुओं को सम्मोहित किया जा सकता है, धन प्राप्त किया जा सकता है, कृमियों से मुक्ति पायी जा सकती है, यक्ष्मा, कुष्ठ, ज्वर, विष के प्रभाव, गण्डमाला, तक्म या मलेरिया, हरिमा या पीलिया आदि व्याधियों से मुक्ति पायी जा सकती है, किसी स्त्री को वश में किया जा सकता है, गर्भपात रोका जा सकता है, गर्भाधान कराया जा सकता है, झरते हुए बालों को रोका और केश को बढ़ाया जा सकता है, नपुंसकता दूर की जा सकती है, वाजीकरण प्राप्त किया जा सकता है, धन हासिल किया जा सकता है, शत्रु की सेना हो या एकल शत्रु उसका नाश किया जा सकता है—संक्षेप में, हर प्रकार की ऋद्धि और सिद्धि तन्त्र-मन्त्र से प्राप्त की जा सकती है। यहाँ यह याद दिलाना ज़रूरी है कि हड़प्पा सभ्यता के अवशेषों से भी तान्त्रिक प्रचलन के भौतिक प्रमाण मिले हैं।

पुरोधाओं ने अपने स्वार्थसाधन के लिए यज्ञ को ले कर जिस प्रकार के अन्ध-

विश्वास की सृष्टि की थी उसकी यह तार्किक परिणति थी और कुछ हद तक उनके वर्ण-हित के विपरीत जाती थी; कारण, इस गुह्य विधान और गुह्य साधना में सभी वर्णों के पाखण्डी अपना हिस्सा बँटा सकते थे। अतः अथर्ववेद को एक लम्बे समय तक वेदों के रूप में स्वीकार ही नहीं किया जाता रहा। वेदों के नाम पर केवल त्रयी का ही उल्लेख किया जाता रहा। अथर्ववेद को बहुत बाद में मान्यता मिली, यद्यपि इसकी भाषा, विषय आदि ही नहीं, दूसरे प्रमाण भी इस बात की पुष्टि करते हैं कि जिन दिनों इसको वेद की मान्यता देने से इन्कार किया जा रहा था उन दिनों भी इसका अस्तित्व था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अपने अन्तिम चरणों में वैदिक समाज में अन्ध-विश्वास इतना घर कर गया था कि इसे पूरे औचित्य से एक सामाजिक व्याधि का नाम दिया जा सकता है और पराक्रम और पौरुष के स्थान पर टोनों-टोटकों का सहारा अपने आप में एक स्खलित और मरणासन्न सभ्यता का लक्षण है। हताश और दिशाहीन व्यक्ति ज्योतिषियों के पास भागता है और निर्वीर्य होता हुआ समाज तन्त्रों और मन्त्रों की ओर।

(च) **प्रशासनिक ह्रास**—विद्वानों का ध्यान इस ओर भी गया है कि हड़प्पा सभ्यता के अवसान से ठीक पहले इसका प्रशासनिक स्तर गिर गया था। अब बड़े-बड़े मकानों को बाँटकर काम चलाया जाने लगता है, नगर के भीतर ही भट्ठे और कारखाने चलने शुरू हो जाते हैं, नगर का कूड़ा-कचरा अब नगर के बाहर न फेंका जा कर नगर के भीतर ही फेंका जाने लगता है, नागरिक नियमों में शिथिलता बरती जाने लगती है।[28] इन सभी का कारण असुरक्षा और भय, लुटेरों के हमलों का अन्देशा और इस कारण नागरिक आबादी में तेजी से वृद्धि माना गया है।[29] इसको पूरी तरह दरकिनार नहीं किया जा सकता, पर इसका एक अन्य पहलू भी है: विलासिता और अन्धविश्वास में डूबे इस समाज की सार्वजनिक मामलों में उदासीनता और आत्मकेन्द्रिता और इसी के समानान्तर आर्थिक स्थिति में गिरावट। कम-से-कम मकानों को बाँटकर काम चलाने के पीछे बाहर से आयी हुई आबादी का हाथ नहीं माना जा सकता। यह उन्हीं परिवारों के सदस्यों के बीच मिल-बाँटकर काम चलाने का प्रमाण है। जहाँ खुशहाली के पुराने दिनों में परिवार बढ़ने के साथ अमीर व्यक्ति नये मकान बनवा सकता था वहाँ अब नये मकान बनवाने की उसकी हैसियत नहीं रह गयी है और जैसे-तैसे उस मकान को बाँटकर बढ़े और बँटे हुए परिवार के साथ मिल-जुलकर काम चलाया जा रहा है। नगर के भीतर ही कूड़ा आदि डालने के पीछे भी यही दिखायी देता है कि गिरावट के इन दिनों में नगर-नियमों का पालन कराने वाली संस्था कमजोर और सम्भवतः दिवालिया होती जा रही थी। कारण, हम इस बात की कल्पना नहीं कर सकते कि इस दौर में नगर से बाहर निकलना तक बन्द हो गया रहा होगा। लुटेरों की

नज़र जिन भी चीज़ों पर भी रही मानी जाये, कूड़े में उनकी दिलचस्पी का कोई कारण नहीं दिखायी देता। फिर इसी तर्क से औद्योगिक इकाइयों द्वारा भी नियमों की अवज्ञा को समझा जा सकता है।

(छ) शिल्पियों का दमन—ऋग्वैदिक काल तक शिल्पियों की दशा बहुत अच्छी थी। उनकी विलक्षणता और सिद्धहस्तता की प्रशंसा उन्हें विभु, ऋतुविद, कवि, सुहस्त आदि जिन शब्दों में की गयी है वह इस बात की अच्छी मिसाल है। पर अपने गिरावट के दौर में प्रभुवर्ग का हमला अपने श्रमिकों और कारीगरों पर होने लगता है। उनको उचित पारिश्रमिक न देना, न्याय और औचित्य का ध्यान न रखकर उनके क्रूर दमन पर उतर आना, गिरावट के दौर के सामान्य लक्षण बन जाते हैं। ऋग्वेद में त्वष्टा और विश्वरूपा शब्दों का उल्लेख कुशल कारीगर और सर्जक के रूप में आया है, पर ब्राह्मणों में पुरातन परम्पराओं के आधार पर इन्द्र द्वारा त्वष्टा के पुत्र विश्वरूपा के वध का उल्लेख आता है जो वैदिक शिल्पियों पर होने वाले अत्याचार और दमन का प्रतीकांकन है।[30] विश्वरूपा अर्थात् विविध प्रकार की वस्तुओं का सर्जक कलाकार त्वष्टा का पुत्र या उन शिल्पियों का वंशधर है जिनका काम पहले आयुध बनाने तक सीमित था। उसकी ग़लती यह है कि उसकी माली हालत बहुत अच्छी है। उसे तीन सिरों, तीन मुखों और छः नेत्रों वाला बताया गया है। तीन सिर और छः नेत्र निश्चय ही उसकी असाधारण विचक्षणता के द्योतक हैं। तीन मुखों में से एक से वह सोम, दूसरे से सुरा और तीसरे से अन्न आदि ग्रहण करता है, या, कहें, उसे देव, मनुष्य और असुर-सुलभ सभी भोग प्राप्त हैं और इसी बात को लेकर इन्द्र के मन में उससे द्वेष पैदा हो जाता है और बिना किसी अपराध के वह उसका सिर काट देते हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो अपने गिरावट के दिनों में वैदिक प्रभुवर्ग अपने शिल्पियों को उचित पारिश्रमिक देने से कतराता है और उनके काम से इन्कार करने या अपना माल न देने पर उन पर जुल्म ढाना शुरू कर देता है और इसके परिणामस्वरूप कुछ का वध कर दिया जाता है और शेष को सम्भवतः भागना पड़ता है[31] और इससे इस डगमगाती हुई अर्थव्यस्था पर करारी चोट पड़ती है। यद्यपि व्यापारियों के इस जुल्म के सामने शेष शिल्पी झुकते नहीं और उनको ही झुकने पर मजबूर करते हैं।[32]

शिल्पियों और प्रविधिज्ञों के उत्पीड़न और शोषण की अधिक मुखर अभिव्यक्ति समुद्रमन्थन की कथा में हुई है जिसकी प्राचीनता के विषय में किसी सन्देह की गुंजायश नहीं है, यद्यपि इसका विस्तृत उल्लेख पुराणों में आकर मिलता है।[33] अन्य पौराणिक वृत्तों की तरह इसमें भी एक नया रंग चढ़ाने का और वास्तविकता को इसी के अनुरूप अटपटा बनाने का प्रयत्न देखा जा सकता है, पर इसके बावजूद सचाई का चेहरा पूरी तरह छिप नहीं पाता।

मत्स्यपुराण में सागर-मन्थन का जो उल्लेख आया है वह खासा अतिरंजनापूर्ण

है, और इसका लक्ष्य अमृत का मन्थन करना है या कहें क्षीर सागर को मथ कर अमृत प्राप्त करना है। अमृतं हिरण्यम्(तै. 1.7.6.3;1.7.8.1; शतब्र. 1.7.6.1.2 आदि) के तर्क से यह धनार्जन के लिए किया गया समुद्र-मन्थन या समुद्री यात्राओं का द्योतक है। पर इसके जिन संगत अंशों की ओर ध्यान दिलाना उचित प्रतीत होता है वे निम्न प्रकार हैं : अमृत की प्राप्ति के लिए ब्रह्मा देवों को सलाह देते हैं कि वे असुरों से छद्म मैत्री करके उन्हें अपना सहायक बना कर समुद्र का मन्थन करें।[34] इसके लिए मन्दराचल को मथानी बनाया जाता है। मन्दराचल गुफाओं, कन्दराओं, वृक्षों आदि से युक्त पर्वत है। इस मन्थन के आयोजन में शेषनाग को रज्जु बनाया गया है।[35] देवता असुरों को यह आश्वासन देते हैं कि अमृत का लाभ उन्हें भी मिलेगा।[36] मन्थन के समय देवता शेषनाग के पीछे की ओर रहते हैं और असुर आगे की ओर। शेषनाग के फूत्कार से जो विष आदि निकलता है उसे वे ही झेलते हैं।[37] मन्थन सैकड़ों दिव्य वर्षों तक, स्यात् हज़ारों वर्षों तक चलता रहता है।[38] जब समुद्र से रत्न निकलने लगते हैं तो देवता उन्हें क्रमशः आपस में बाँटते चले जाते हैं।[39] अमृत के निकलने पर दोनों पक्षों की ओर से उसके दावे होने लगते हैं।[40] अमृत पहले असुरों के अधिकार में चला जाता है, पर विष्णु, मोहिनी रूप धारण करके, छलपूर्वक उसे ले लेते हैं और अभी अमृत पाने के लिए युद्ध चल ही रहा है कि विष्णु उसका कुछ भाग पीकर अमर हो जाते हैं।[41] अब वह देवताओं में अमृत बाँटने लगते हैं। राहु छिप कर देवताओं के बीच आ बैठता है और अमृत का भाग उसे भी मिल जाता है। अभी अमृत की बूँदें उसके गले में पहुँचती ही हैं कि सूर्य और चन्द्रमा संकेत से रहस्य का उद्घाटन कर देते हैं। इस पर कुपित होकर विष्णु राहु का सिर काट देते हैं। अमृत पान कर अमर हो चुका राहु कट कर दो भागों में बँट जाता है और राहु तथा केतु का रूप ले लेता है। इसके बाद यह खुले युद्ध का रूप ले लेता है, और इसमें देवताओं द्वारा असुरों का संहार तो किया ही जाता है, असुर भी देवताओं का संहार करते हैं।[42] जो भी हो, देवताओं द्वारा ताड़ित असुरगण भय के मारे पृथ्वी, समुद्र के खारे जल में या जहाँ कहीं भी ठौर मिलता है, प्रविष्ट हो जाते हैं।[43]

इस रूपकीय इतिहासगाथा के मर्म को समझने के लिए इसे ब्राह्मणों के उन विवरणों से मिलाकर पढ़ना उपयोगी होगा जिनके अनुसार पहले पैदा होने वाले देवता थे और बाद में पैदा होने वाले मनुष्य। देवता पहले मर्त्य थे और उन्होंने इस धरती पर ही घोर श्रम और प्रयत्न किया था और उनका यह श्रम और तप उत्पादन के निमित्त था। प्रतिस्पर्धा में असुरों को पछाड़कर इस लोक को जीतने के बाद ही वे नीचे से स्वर्ग को पहुँचे। साथ ही, इस बात की ओर भी ध्यान देना होगा कि सोम जिसे प्रायः अमृत कहा गया है, वह भी व्यापारिक लाभ का प्रतीक, सोना है। इस कथा में एक साथ समुद्री व्यापार और स्थल-मार्ग से विदेश-

व्यापार दोनों को प्रतिबिम्बित किया गया है। स्थल-मार्ग से यात्रा को मन्दराचल (मध्यवर्ती पर्वतमाला या हिन्दूकुश) के द्वारा प्रस्तुत किया गया है जो इस मन्थन में दण्ड बनता है।[44] समुद्री व्यापार को क्षीर सागर के द्वारा प्रकट किया गया है। हज़ार फनों वाले शेषनाग वस्तुतः उन समुद्रगम्य शतभुजी नौकाओं, शतप्लव जहाज़ों के प्रतिरूप हैं जिन्हें खेने के लिए सैकड़ों नाविक डाँड़ चलाते थे। असुरों का शेषनाग के मुँह की ओर होना उत्पादन, नौवहन और मार्ग के ख़तरों को झेलने में नाविकों आदि की अग्रणी भूमिका के प्रतीक रूप में आया है और देवों का पीछे होना, अपना माल-असबाब लेकर इन यात्राओं पर सुरक्षित होकर जाने वाले व्यापारियों का सूचक है। समुद्र-मन्थन से प्राप्त होने वाले रत्नों (आयात और निर्यात की वस्तुओं) के लाभों को देवता हड़पते जाते हैं और अन्तिम लाभ में उनके द्वारा असुरों के साथ छल किया जाता है। उन्हें एक तो उचित भाग नहीं मिलता; दूसरे, इसके लिए जिद करने पर उनका दमन और संहार किया जाता है। मन्थन का हज़ारों वर्षों तक चलते रहना उस लम्बे दौर का द्योतक है जिसमें वैदिक समाज अपने विदेश-व्यापार की गतिविधियों में तल्लीन रहा। फ़साद अन्तिम दिनों में होता है, जिसमें देवताओं के दमन का असुरों द्वारा प्रतिरोध किया जाता है, पर विवश होकर उन्हें देश-विदेश जहाँ भी शरण मिलती है, भाग कर जाना पड़ता है। यह उस दुर्गति का बहुत सजीव चित्र है जिसका सामना हड़प्पा सभ्यता को या वैदिक समाज को करना पड़ा। व्यापारियों के शोषण और दमन ने उन्हें भाग कर अन्य ठिकानों पर जाने को मजबूर कर दिया और इसका असर हड़प्पा के उत्पादों पर भी पड़ा और इसकी टूटती हुई अर्थ-व्यवस्था पर भी।[45]

(ज) व्यापारिक केन्द्रों में अशान्ति और अस्थिरता—हड़प्पा सभ्यता के गिरावट का आरम्भ होने से ठीक पहले पश्चिमी एशिया में भारी उथल-पुथल का एक दौर देखने में आता है। इस उथल-पुथल का दोष उन युद्धोन्मादी और नगर-सभ्यता के शत्रु आर्यों के बढ़ते हुए जत्थों को दिया जाता रहा है जो विद्वानों की कल्पना पर भूत की तरह छाये रहे हैं। वास्तविकता यह है कि न केवल वे आर्य नहीं थे, अपितु इन उपद्रवकारियों से सबसे अधिक प्रभावित होने वाले लोगों में भारतीय वैदिक व्यापारी और इनके विदेशी ठिकाने ही रहे प्रतीत होते हैं। इनके द्वारा पैदा की गयी अशान्ति ने व्यापारिक वातावरण को विषाक्त कर दिया होगा और हड़प्पा का व्यापार जो दिनोंदिन विदेशोन्मुख होता चला गया था, इस झटके से बहुत गहराई से प्रभावित हुआ होगा।[46]

(झ) विदेशी व्यापारियों की पहल—भारतीय व्यापारियों के व्यापारिक उपक्रमों में इस अशान्ति से जो बाधा पड़ी वह इसके बाद स्थापित हुई शान्ति और व्यवस्था से कम नहीं हुई। एक बार आतंकित होने के बाद भारतीय व्यापारी अपने सम्पर्क के देशों से कट गये। व्यवस्था कायम हुई या नहीं, इसका उन्हें पता भी

नहीं चल सकता था। इस बीच सम्भवत: भारतीय माल की भूख ने स्वयं उन केन्द्रो के बचे-खुचे भारतीय मूल के, तथा साथ ही अभारतीय, व्यापारियों को अपनी ओर से पहल करने का अवसर दिया। इस पहल के साथ ही पासा पलटने लगा। यद्यपि इससे उत्पादकों पर उतना असर नहीं पड़ा होगा; कारण, उनका माल तो खपने ही लगा था, और सम्भवत: उन्हें नये खरीदारों से कुछ अधिक लाभ भी मिलने लगा हो, पर इसके मध्यस्थों या बड़े नगर-सेठों और उनसे जुड़े हुए तन्त्र को फिर सँभलने का अवसर नहीं मिला होगा। त्वष्टा द्वारा इन्द्र को सोमभाग से वंचित करना, इसके पीछे छिपे दुहरे आशय का प्रतीक है जिसमें उत्पाद नये ग्राहकों के हाथ बेचने का भाव भी निहित है। सम्भवत: यही वह काल है जब पश्चिमी एशिया में सीधे भारत—मेलुह्हा, मकन आदि – से मँगाया जाने वाला माल पुन्त आदि से मँगाया जाने लगता है। भारतीय व्यापारी इससे पहले कितना भारी लाभ कमाते थे अब इसका भी पता शायद चलने लगता है और मुमकिन है, इस कारण ही क्रमश: दिलमुन की भूमिका अधिक प्रधान होती जाती है।[47]

(ट) बलूची उपद्रव—बलूचिस्तान की ओर से जिन उपद्रवों की सम्भावना की ओर पिगट और बैशम आदि[48] ने संकेत किया है, उनको पूरी तरह नकारने का कोई कारण नहीं है, परन्तु इन्हें सुनियोजित आक्रकण मानना सम्भावित आर्य आक्रमण में विद्वानों की अटूट निष्ठा का परिणाम रहा है। बलूचिस्तानी क़बीले बहुत पहले से इस क्षेत्र से होकर गुज़रने वाले वैदिक सार्थों के लिए, और इस अंचल में, कायम किये गये वैदिक उपकेन्द्रों के लिए, संकट पैदा करते आये थे। दस्युओं के कुछ संगठित दल जब-तब भारी बर्बादी कर दिया करते थे। राना गुंडाई को सम्भवत: 3000 ई.पू. में इनके हाथों तबाह होना पड़ा हो सकता है।[49] शाही तुंप की नियति पर भी इनके उपद्रवों का प्रभाव पड़ा हो सकता है।[50] पर ये उपद्रव एक लम्बे कालखण्ड—एक हज़ार वर्ष—के भीतर घटित होने वाले उपद्रव हैं और इनका प्रभाव किसी एक समय में आस-पास की बलूच बस्तियों तक भी नहीं फैलाथा। जहाँ पूरे बलूचिस्तान का ही प्रश्न नहीं उठता वहाँ भारत पर आक्रमण की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती। स्पष्टत: ये स्थानीय प्रकृति की घटनाएँ हैं और इनसे केवल यही नतीजा निकाला जा सकता है कि बलूचिस्तान में अपने कुछ उपकेन्द्रों और इनसे होकर गुज़रने वाले वाणिज्यिक मार्गों के बावजूद वैदिक या हड़प्पा के प्रशासक इस पूरे क्षेत्र को कभी अपने अधिकार में लेने में या यहाँ शान्ति और व्यवस्था क़ायम करने में सफल नहीं हुए थे और जब-तब इनमें से कुछ दुस्साहसी दस्यु-दल हड़प्पा के नगरों के लिए भी संकट पैदा करते रहे हो सकते हैं।

हम देख आये हैं कि नगर-केन्द्रों का प्रशासन किस तरह क्रमश: गिरता चला गया था और इसका आर्थिक आधार कितना मरणासन्न हो चला था। रक्षातन्त्र में भी इसके अनुरूप ही गिरावट आयी होगी। ऐसी स्थिति में उन यायावर बलूची

क़बीलों और उपद्रवी तत्वों ने जो इस शताब्दी तक कम-से-कम सर्दियों में मैदानों की ओर उतर आते हैं, और इनके अतिरिक्त अन्य उपद्रवी तत्वों ने सिन्धु से परे के क्षेत्र में उपद्रव खड़े कर दिये होंगे और शहरी आबादी पर भी इनकी लूटपाट का असर होने लगा होगा और यह उपद्रव हड़प्पा की नगर-सभ्यता के लिए घोड़े की पीठ तोड़ने वाला अन्तिम तिनका साबित हुआ होगा। ऐसा मानने का एक कारण यह है कि बहुत बाद की कृतियों में प्राचीन परम्पराओं के आधार पर सिन्धु से परे के क्षेत्र को तथा सौबीर और सौराष्ट्र को आर्य-वर्ज्य क़रार दे दिया जाता है और इस बात की आशा की जाती है कि यदि कोई प्रतापी राजा इन क्षेत्रों पर अधिकार जमा कर लोगों को पराजित कर सके और इनमें वर्ण-व्यवस्था स्थापित कर सके तो यह क्षेत्र भी यज्ञ के उपयुक्त हो सकता हैं और इसके लिए तर्क यह दिया जाता है कि पृथ्वी स्वयं दूषित नहीं होती अपितु संसर्ग से ही दूषित होती है।[51] ज़ाहिर है यह आर्य आक्रमण नहीं था। यदि इसका प्रभाव किसी पैमाने पर हड़प्पा के नगर-केन्द्रों और सिन्धु से पश्चिम के क्षेत्र और सौराष्ट्र पर पड़ा जो इनके अन्तिम पतन का कारण बना तो यह स्वयं आर्यों या वैदिक किसानों और व्यापारिक केन्द्रों का संकट है जिसकी याद लम्बे समय तक भारत में आर्य या वैदिक परम्परा में ही बनी रहती है।

सन्दर्भ तथा टिप्पणियाँ

1. सर जॉन मार्शल, मोहनजोदड़ो ऐंड इंडस सिविलाइज़ेशन 1931, 1, 7.
2. वही, 8.
3. अर्नेस्ट मैकान, अर्ली इंडस सिविलाइज़ेशन, 1948, 13-14.
4. वही, 16. देखें, डेल्स, 'सिविलाइज़ेशन ऐंड फ्लड्स इन दि इंडस वैली', एक्सपेडीशन, 7, 4, 1965, 36-43; राइक्स, 'मोहनजोदड़ो फ्लड्स' ऐंटिक्विटी, 39, 1965, 196-203; 'मोहनजोदड़ो फ्लड्स रिकन्सिडर्ड', जर्नल ऑफ़ पैलियोंटोलॉजिकल सो. ऑफ़ इंडिया, 20, 1977, 251-60.
5. मैकाय, ऊपर।
6. ऋ. 6.61.2.
7. ऋ. 6.61.7.
8. ऋ. 10.75.1; 3;7, आदि।
9. हिरण्ययी सुकृता वाजिनीवती। ऋ. 10.75.8.

10. स्वश्वा सिन्धुः सुरथा सुवासा...ऋ. 10.75.8; सुखं रथं युयुजे सिन्धुः अश्विनं तेन वाजं सनिषत् अस्मिन् आजौ। ऋ. 10.75.9.
11. ऋ. 6.61.14.
12. ऋ. 10.75.4.
13. वही।
14. ऋ. 10.75.7.
15. ऋ. 10.75.2.
16. बैशम, पूर्व., 27.
17. मैकाय, 1938 तथा ह्वीलर, 1953. देखें वैदिक संघर्षों की प्रकृति।
18. ऋ. 1.66.4; 117.18; 134.3; 152.4; 9.32.5, आदि।
19. ऋ. 7.55.6; 8; अथ. 4.4.
20. अथर्ववेद के सूक्तों में से कुछ के शीर्षकों पर दृष्टिपात करना कुछ रोचक होगा : 2.30 कामिनीमनोऽभिमुखीकरणं, 2.36 पतिवेदनम्, 3.7; 3.31; 6.20; 6.127; 9.8; 12.2 आदि, यक्ष्मरोगनाश; 6.82 जायाकामना; 6.138 क्लीवत्व; 6.136 केशदृंहण; 4.4; 6.72; 6.101 आदि, वाजीकरण; 4.38 वाजिनीवान् ऋषभ। अथर्ववेद में जादू-टोने के प्रचलन को देखते हुए कुछ विद्वानों ने यह मत प्रकट किया है कि यह आर्य समाज के बीच बहुत प्राचीन काल से चले आ रहे विश्वासों और अन्धविश्वासों की अभिव्यक्ति है, पर इस बात पर ध्यान देना होगा कि यह एक विलासी समाज की आकांक्षाओं और उनके पुरोहितों और तान्त्रिकों द्वारा सोद्देश्य रूप में प्रचारित अन्धविश्वासों को व्यक्त करता है। हमें ऐसा एक भी सूक्त नहीं दिखायी देता जो किसी आदिम समाज की समस्याओं से सम्बन्धित हो।
21. ऋ. 10.34.
22. ऋ. 2.29.5; 30.22; 5.85.8, आदि।
23. हृत्सु पीतासः युध्यन्ते दुर्मदासः न सुरायाम्। ऋ. 8.2.12. यहाँ सुरापान और इससे मदहोश होकर किये जाने वाले फ़साद का ज़िक्र उपमा के रूप में आया है, और किसी प्रवृत्ति के उपमा के रूप में प्रयुक्त होने का अर्थ है उसका अतिशय व्यापक होना। कारण, उपमा सदा अतिपरिचित की ही दी जाती है।
24. दाशराज्ञ युद्ध में जिन दस प्रतिस्पर्धियों से सुदास का मुक़ाबला हुआ था उनमें पाँच आर्य और पाँच अनार्य थे जिनमें से कुछ का सम्बन्ध अफ़ग़ानिस्तान से था। वैदिक जनों के बीच पारस्परिक प्रतिस्पर्धा के कुछ अन्य उदाहरण ऐसे स्थलों पर पाये जा सकते हैं जहाँ इन्द्र को दासों के अतिरिक्त 'आर्यों को भी मारने वाला' बताया गया है, यथा ऋ. 6.22.10; 7.83.1; यदुओं और पुरुओं के प्रति भी शत्रुता का भाव स्पष्ट है, जो कि वैदिक जनों में ही आते हैं।

ऋ. 7.8.4 में भरतों की अग्नि को पुरुओं पर विजयी दिखाया गया है। ऋ. 7.18.3 में भी ये त्रित्सुओं के शत्रु दिखाये गये हैं।

25. अद्या मुरीय यदि यातुधानः अस्मि यदि वायुः ततप पूरुषस्य।
अधा स वीरैः दशभिः वि यूया यः मा मोघं यातुधान इति आह॥
यः मायातुं यातुधान इति आह यः वा रक्षाः शुचिः अस्मि इति आह।
इन्द्रः तं हन्तु महता वधेन विश्वस्य जन्तोः अधमः पदीष्ट। ऋ. 7.104. 15-16.

26. विलियम मैरियन क्रॉगमैन व विलियन हेनरी सैसमन, 1943, 252-59.

27. मैकडलन (वैदिक माइथॉलॉजी, 1981 सं., 4) अथर्ववेद को यजुर्वेद से प्राचीन मानते हैं और इसमें प्रस्तुत धर्म के हीन पक्ष— जादू-टोने को ऋग्वेद से भी प्राचीन मानते हैं। पर जैसा कि हम पहले कह आये हैं, इन हीन पक्षों में भी हम ऋग्वेद के अन्तिम चरण का और उसके बाद का ही अंकन पाते हैं; कारण, इन टोनों-टोटकों से जिन कामनाओं की पूर्ति अभीष्ट है वे एक वैभव-पतित पर विलासिता में चिपके हुए भ्रष्ट समाज की ही कामनाएँ हैं।

28. पिगट, 1950, 230; बैशम, 1967, 30.

29. बैशम, वही।

30. त्वष्टुः ह वै पुत्रः। त्रिशीर्षा षडक्षऽआस...तस्मात् विश्वरूपः नाम। तस्य सोमपानं एव एकं मुखं आस। सुरापानं एकं अन्यस्माऽअशनाय एकं। तं इन्द्रः दिद्वेष। तस्य तानि शीर्षाणि प्रचिच्छेद। शतब्रा. 1.6.3.1-2.

31. मैकाय, 1948; ह्वीलर, 1953; बैशम, 1967, आदि ने जिन साक्ष्यों को ध्यान में रखते हुए मोहनजोदड़ो के हत्याकाण्ड की बात सुझायी थी, वह वस्तुतः वैदिक स्वामिवर्ग द्वारा अपने ही कारीगरों का वध और दमन है। एक भुक्तभोगी के पास से मिला हाथीदाँत इसका अच्छा संकेत है कि इन हत्याओं का सम्बन्ध मोहनजोदड़ो के शिल्पी वर्ग से था, न कि सामान्य नागरिकों से। इन कंकालों को जिन स्थलों पर पाया गया है और जिन विशेष परिस्थितियों और सन्दर्भों में पाया गया है उन्हें कदापि स्वाभाविक नहीं माना जा सकता। इनकी विधिवत अन्त्येष्ठि नहीं की गयी थी, यह स्पष्ट है। इनका सम्बन्ध निश्चय ही एक घटना से नहीं है न ही बाहरी हमले से है, पर तो भी इनकी अस्वाभाविक स्थिति से—गली में, कुएँ पर, घर के भीतर और जब-तब पूरे परिवार की हत्या—यह अनुमान लगाया जा सकता है कि कि प्रभु-वर्ग का उत्पीड़न ही इसका एकमात्र कारण रहा हो सकता है। कारण, किसी आक्रमण के दौरान हुए हत्याकाण्ड को देखते हुए इन कंकालों की संख्या नगण्य है और आक्रमण के अन्य लक्षण भी यहाँ नहीं पाये जाते। लगता है कि इन हत्याओं के लिए उत्तरदायी लोग मोहनजोदड़ो की ही आबादी के प्रभाव-

शाली लोग थे जिनका आतंक इतना जबर्दस्त था कि इब भुक्तभोगियों के शवों को उठाने या विधिवत अन्त्येष्ठि देने का भी किसी का साहस नहीं हुआ था कि कहीं उसके साथ सहानुभूति प्रकट करने का दुष्परिणाम उन्हें भी न भुगतना पड़े। इन सड़ती हुई लाशों को मिट्टी आदि से ढक दिया जाता रहा होगा और इतने से ही छुट्टी पा ली जाती रही होगी।

32. स त्वष्टा चुक्रोध कुविन्मे पुत्रं अवधीत इति सः अप इन्द्रं एव सोमं आजह्रे। शतब्रा. 1.6.3.6.

त्वष्टा का इन्द्र पर क्रुद्ध होना और उन्हें सोमभाग से वंचित कर देना इसी बात का सूचक लगता है जिससे इन्द्र को झुक कर समझौता करना पड़ता है। इसके असुर होने के बावजूद इन्द्र को विश्वरूपा के वध के लिए सौत्रामणी से प्राश्चित करना पड़ता है। यहाँ जिस सोम से त्वष्टा द्वारा इन्द्र को वंचित किया जाता है उसे साधारण पेय सोम मानना उचित नहीं। कारण, इस सोम में और सोम के प्रतीकात्मक रूप व्यापारिक लाभ में भी असुरों को देवों से बचा-खुचा ही मिलता है और कहीं इस बात का संकेत तक नहीं मिलता कि देवों के लिए सोम का सवन असुर करते थे। अतः सोम का वह हिरण्य या पण्यवस्तुओं वाला रूप ही ऐसा है जिसके निर्माण से त्वष्टा या उनकी बिरादरी का कुछ सम्बन्ध हो सकता है और जिससे ही वह इन्द्र या व्यापारी वर्ग को वंचित कर सकते थे और अन्ततः उन्हें पारिश्रमिक आदि के मामलों में झुकने को भी विवश कर सकते थे।

33. समुद्री मार्ग से व्यापार के लिए नौकाओं के आवागमन को ऋग्वेद में भी समुद्र-मन्थन कहा गया है और इन गतिविधियों वाले समुद्री क्षेत्र को देव-मथित कहा गया है। देखें ऋ. 3.9.5.

34. देवाः शृणुत मद्वाक्यं तत् तथैव निरूप्यताम्।
क्रियतां दानवै सार्धं सख्यं अत्राभिधीयताम्॥
क्रियतां अमृत उद्योगो मथ्यतां क्षीर-वारिधीम्।
सहायं वरुणं कृत्वा चक्रपाणि विबोध्यताम्॥ मत्स्य पु. 249. 13 व 14.

35. मन्दरः सर्व शैलानां अयुतायुत विस्तृतः। वही, 43.
दाधार अमृत मन्थानं मन्दरे चारु कन्दरम्। वही, 53.
...भ्राम्यमाणे ततः शैले योजनायुतशेखरे। वही, 58.
...श्वापदायत लक्षाणि तथा पुष्पफलद्रुमाः। वही, 59.
जगाम देवैः सहितो यत्रासौ मन्दराचलः।
वेष्ठितो भोगिभोगेन धृतश्चामर दानवैः॥ वही, 50.

36. तत् श्रुत्वा वचनं देवा जग्मुः दानव मन्दिरम्।
अलं विरोधेन वयं भृत्याः तव बलेऽधुना॥

क्रियतां अमृत उद्योगो व्रियतां शेषनेत्रकम् ।
त्वया चोत्पादिते दैत्य अमृते अमृत मन्थने ।।
भविष्याम: अमरा: सर्वे त्वत् प्रसादात् न संशय: ।
एवं उक्त: तदा देवै: परितुष्ट: स दानव: ।।
यथा वदत हे देवा: तथा कार्यं मयाऽधुना...। वही, 16.20. यहाँ यह तथ्य भी ध्यान देने योग्य है कि मन्थन के आयोजन से पूर्व देवता अपने को असुरों का भृत्य और अनुगत बनाते हुए उनसे सहायता का अनुरोध करते हैं और अपने स्वामियों के साथ अपने तनावपूर्ण सम्बन्ध के बावजूद असुर इस मनुहार पर पिघल जाते हैं ।

37. विषभीता: ततो देवा यत: पुच्छ तत: स्थिता: । मुखत: दैत्य-संघास्तु सैंहिकेय पुरःसरा: ।। वही, 51.
38. ततो देवासुरै: सर्वै: जय-शब्द पुर: सरम् । दिव्यं वर्षशतं साग्रं मथित: क्षीर-सागर: । वही, 54. पर रोचक बात यह है कि इन सौ दिव्य वर्षों के श्रम को केवल आरम्भिक श्रम के रूप में पेश किया गया है जिसके बाद देवता-दानव सभी थक जाते हैं और फिर इन्द्र मेघ-वृष्टि द्वारा इनकी थकान मिटाते हैं : तत: श्रान्तास्तु ते सर्वे देवा दैत्यपुर: सरा: । श्रान्तेषु तेषु देवेन्द्रो मेघो भूत्वाम्बुशीकरान् ।। पुन: थकने पर वारुणी से स्फूर्ति प्राप्त की जाती है : वारुणी गन्धं आघ्राय मुमुदु: देव दानवा: । तदास्वादेन बलिनो देवदैत्या-दयोऽभवन् । वही, 62. और इसके बाद फिर मन्थन चलता है ।
39. जग्राह कमलां विष्णु: कौस्तुभं च महामणिम् । गजेन्द्रं च सहस्राक्षो हयरत्नं च भास्कर: ।...छत्रं जग्राह वरुण: कुण्डले च शचीपति: ।। वही, 251.3-4.
40. अमृतार्थे महानादो मम इदं इति जल्पताम्...। वही, 251.7.
41. वही, 251.7-16.
42. वही, 251.21-33.
43. ततो महीं लवण जलं च सागरं महासुरा: प्रविविशु: अर्दिता: सुरै: । वही, 251.34.
44. मन्दराचल की गुफाओं को स्वर्ण, वैदूर्य मणियों से अलंकृत बताया गया है, मानो अफ़ग़ानिस्तान और मध्येशिया की उन खानों की, अफ़ग़ानिस्तान से लेकर मध्येशिया तक के उन ठिकानों की, अधबिसरी सम्पन्नता कुछ अति-रंजना के साथ याद की जा रही हो जिनसे हड़प्पा के व्यापारी अपने खनिज, रत्न और धातुएँ प्राप्त करते थे ।
मन्दरस्य गुहां हैमीं मुक्ता-मणि-विभूषिताम् ।
सुस्वच्छ-मणि-सोपानां वैदूर्य-स्तम्भ मण्डिताम् ।। मत्स्य पुराण, 250.26. तुलना करें, अस्थाना, 1982, 280; देखें प्रथम खण्ड, अध्याय छह भी ।

45. समुद्र-मन्थन में मूर्त वर्ग-संघर्ष की तुलना यदि इसके शताब्दियों या, कहें, लगभग एक हज़ार वर्ष बाद यूनान में हुई डोरियन क्रान्ति से करें जिसकी चर्चा हम पीछे कर आये हैं तो दोनों में काफ़ी समानता मिलेगी और यह हड़प्पा की दुर्गति को भी स्पष्ट करने में सहायक होगी। अन्तर केवल इतना ही है कि समुद्र-मन्थन की कथा से जहाँ इस जन-क्रान्ति को सत्ताधारी वर्ग ने अन्ततः कुचल दिया था, डोरियन क्रान्ति सफल हुई थी।
46. ए. एल. बैशम, पूर्व., 1967, 30.
47. देखें शीरीं रत्नागर, एन्काउंटर्स, 1981, 226.
48. पिगट, 1953, 217; बैशम, 1967, 27.
49. बैशम, वही।
50. वही।
51. मनु. 2.23 पर मेधातिथि।

परिशिष्ट-1

सरस्वती घाटी से पलायन

वैदिक रचना-काल को मोटे तौर पर तीन चरणों में विभाजित किया जा सकता है : ऋग्वेद के प्राचीन मण्डलों का रचना-काल, नवीन मण्डलों का रचना-काल और उत्तरवैदिक काल । हड़प्पा सभ्यता के सन्दर्भ में इसे आद्य हड़प्पा काल, परिपक्व हड़प्पा काल और परवर्ती हड़प्पा काल कहा जा सकता है। भौगोलिक दृष्टि से इसे सारस्वत काल, सैन्धव काल और गांगेय काल कहा जा सकता है। यहाँ हमारा यह आशय नहीं है कि सारस्वत काल में सभ्यता का प्रसार सरस्वती घाटी तक ही सीमित था, बल्कि यह कि इस दौर में सभ्यता का प्रमुख केन्द्र सारस्वत क्षेत्र था ।

सारस्वत क्षेत्र से केन्द्रों के हटने का प्रधान कारण था सरस्वती नदी का ह्रास और इस अंचल को प्रभावित करने वाले प्राकृतिक प्रकोप । इन प्राकृतिक प्रकोपों का एक प्रधान कारण तो भारतीय उपमहाद्वीप की विशिष्ट स्थिति है जहाँ भयंकर बाढ़ों और सूखों के प्रकोप प्रायः देखने में आते हैं, पर इसका एक कारण वैदिक जनों का अधिकाधिक भूमि प्राप्त करने का पागलपन भी था, जिसके चलते उन्होंने इस क्षेत्र के जंगलों को जला कर खत्म कर दिया था। जंगलों की सफ़ाई केवल मैदानी क्षेत्र तक सीमित नहीं रही थी। लगता है, सरस्वती और इसकी सहायिका नदियों के पर्वतीय क्षेत्रों के जगलों को भी अछूता नहीं छोड़ा गया था। इन क्षेत्रों की लकड़ी काटकर इमारती उपयोग के लिए नदियों के माध्यम से आसानी से बहा कर लायी जा सकती थी। इससे पहले इस बात का ज्ञान न होने के कारण कि जंगलों का जलवायु के सन्तुलन में कितना महत्त्वपूर्ण स्थान है, इस अन्धी दौड़ पर रोक नहीं लगायी जा सकी।

इस अविचारित भूमि-अधिग्रहण अभियान के कारण जलवायु का सन्तुलन बिगड़ गया : अतिवृष्टि और अनावृष्टि के दौर तेज़ हो गये। सरस्वती और इसकी सहायिका नदियों के पर्वतीय जलग्रहण क्षेत्रों में भूस्खलन और मैदानी क्षेत्र में भूक्षरण काफ़ी बढ़ गया। सरस्वती नदी का रंग लाल बताया जाता है। बाढ़ के दिनों में इसके पानी के भीतर गाद की बढ़ी हुई मात्रा के कारण इसका जल केरल की नदियों की तरह गेरुआ-सा रंग ले लेता रहा लगता है। इस कचरे का प्रभाव

सरस्वती के समूचे प्रवाह-क्षेत्र पर पड़ा। यह क्षेत्र क्रमशः मरुभूमि में परिणत होने लगा। इस कचरे के जमाव से इसका मुहाना भी किंचित् अवरुद्ध हो गया, जिसे आज हम कच्छ के रन के रूप में पाते हैं।[1] अपने ही बहाव में लायी गयी मिट्टी के पटाव से इसकी पेटी भर कर उथली होने लगी। इन अवरोधों को काट कर अपना निकास बनाती हुई यह नदी अधिक तेजी से अपनी धाराएँ बदलने लगी और इस तरह तटीय बस्तियों के लिए सर्वनाश का-सा दृश्य उपस्थित करने लगी। पर्वतीय क्षेत्रों के स्खलनों के कारण इसके ग्रहण क्षेत्र का जल अपने लिए नये रास्ते बनाने लगा और इसकी निकास-क्षमता घट जाने के कारण इसमें मिलने वाली नदियों को भी अवरोधों का सामना करना पड़ा और उनकी धारा में भी विचलन आने लगा। यमुना ने अपनी धारा बदलते हुए क्रमशः एक नया निकास चुन लिया। सरस्वती से अलग होने के क्रम में इसने अनेक बार अपनी धाराएँ बदलीं और इनमें से कुछ के चिन्ह आज भी पहचाने जा सकते हैं।[2] ठीक यही नियति सतलुज की भी हुई। इन दोनों के अलगाव से सरस्वती की जलसम्पदा और कम हो गयी और इस कमी ने इसके प्रवाह-मार्ग को और अवरुद्ध किया। नदियों के प्रवाह की गति में कमी आने के बाद इनके मैदानी ग्रहण-क्षेत्रों से कट कर आने वाली मिट्टी इस धारा को क्रमशः पाटने का ही काम करती है। इस तरह सरस्वती एक जीवन्त और आसमुद्र प्रवहमान नदी के स्थान पर एक मरणासन्न नदी का रूप लेती गयी। इसकी धारा नौगम्य नहीं रह गयी। पर अन्तिम घटना जिसने इस रही-सही कमी को भी पूरा कर दिया, इतिहास की अविस्मरणीय आपदाओं में से एक बन गयी। यह थी एक भयंकर बाढ़ जिसकी भयानकता का अनुमान इस बात से ही लगाया जा सकता है कि इसे जल-प्रलय के समान माना गया। एक बार को लगा कि केवल सरस्वती घाटी ही नहीं, अपितु समस्त सृष्टि ही जल-मग्न हो गयी है।

जल-प्रलय

अपनी विपुल जल-सम्पदा के कारण सरस्वती पहले भी बाढ़ के दिनों में भयंकर और विध्वंसकारी नदी बन जाती थी। हम यह देख आये हैं कि इसे घोरा या भयंकर, पारवतघ्नी या अपने कगारों को तोड़ने वाली नदी कहा गया है।[3] इसके पर्वतीय भूस्खलनों का चित्र प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि यह पर्वत-शिखरों को उसी तरह तोड़ देती है जैसे कोई कमल-नाल को तोड़े।[4] एक ऋचा में उससे अनुरोध किया गया है कि वह अपनी बाढ़ की चपेट से स्तोता के धन-धान्य का नाश न करे।[5] इस बात की आशंका प्रकट की गयी है कि कहीं उसे ऐसा दिन न देखना पड़े कि सरस्वती के क्षेत्र को छोड़ कर अन्यत्र जाने की विवशता उत्पन्न हो।[6] उससे पुनः

प्रार्थना की गयी है कि वह स्तोता के घर-परिवार को सलामत रखे।[7] इन सभी विवरणों से इस बात का आभास मिलता है कि सरस्वती का क्षेत्र इस नदी की बाढ़ों से बुरी तरह प्रभावित होने लगा था और इस क्षेत्र में जीवन अधिक कष्टकर बनता जा रहा था और लोग इसे छोड़ कर अधिक निरापद क्षेत्रों की ओर जाने लगे थे।

पर इसके अन्तिम दौर में आयी भयंकर बाढ़ की तुलना किसी अन्य बाढ़ से नहीं की जा सकती। यह एक युगान्तकारी घटना थी। भारत में प्रलयंकारी बाढ़ें तो अकसर आया करती हैं और कम-से-कम उत्तरी भारत से परिचित होना इन बाढ़ों से परिचित होना है। डी. एच. गोर्डन लिखते हैं :

"जिन लोगों ने इन भयानक बाढ़ों को देखा है केवल उन्हीं की कल्पना में यह बात आ सकती है कि इतने प्रखर वेग से कितना विशाल जलभण्डार एकत्र हो कर प्रवाहित होता है और यही बात किसी प्लावन से होने वाले विनाश के विषय में भी कही जा सकती है। बीस फुट या इससे भी अधिक उठी हुई पानी की एक दीवार एक धारा में जिसकी गहराई यत्र-तत्र ही एक फुट से अधिक हो, उमड़ी चली आ रही है। उदाहरण के लिए, उस स्थल पर झेलम नदी का वह दृश्य जहाँ रेलकी लाइन को सड़क का पुल झेलम शहर से बाहर काटता है, लिया जा सकता है। एक मील से अधिक चौड़ी, एक गर्जना करती हुई तेज़ धारा को, जिसमें पेड़ों के तने माचिस की तीलियों की तरह चक्कर खाते दिखायी देते हैं, देखकर मन में सवाल पैदा होता है कि जल-प्रलय की घटना के साथ जिस विनाश-लीला की बात की जाती है, क्या उसके लिए जल-प्रलय का दौर ज़रूरी है?

"जबलपुर से नव मील पश्चिम की ओर भेड़ा घाट के पास नर्मदा के बाढ़-सूचक विन्दु सामान्यतया भी स्वयं नदी की धारा से इतनी अधिक ऊँचाई पर और इतनी दूर हैं कि अविश्वसनीय-से लगते हैं और इसी जगह पर सिर्फ एक बाढ़ द्वारा लायी गयी मिट्टी की अठारह फुट मोटी तह को खोद कर निकाली गयी सड़क को देखकर मिट्टी के जमाव और कटाव के प्रमाणों के आधार पर निकाले गये किसी निष्कर्ष को मानने की हिम्मत नहीं होती।"[8]

और इन भयंकर बाढ़ों के देश में जब सबसे भयंकर, सबसे विशाल और तटबन्धों के कटाव के लिए सबसे कुख्यात नदी सरस्वती की बाढ़ों में से भी एक असाधारण रूप से भयंकर और प्रलयंकारी बाढ़ का वर्णन हो जिसकी याद बाढ़ों के इस देश में भी हज़ारों वर्षों तक बनी रह गयी हो, जिसने इसकी सृष्टि की अवधारणा और प्रलय की कल्पना को भी बहुत गहराई से प्रभावित किया हो, जिसके साथ मात्र बाढ़ का प्रकोप ही नहीं अपितु समुद्री तूफ़ान और भूस्खलन तथा भूकम्प का भी दुर्योग घटित हो गया हो तो हम सहज ही कल्पना कर सकते हैं कि उसकी भयंकरता और व्याप्ति क्या रही होगी। प्रलय के समय पंचभूतों के विखण्डन की जो कल्पना भारतीय चिन्तन में देखने में आती है वह इस जातीय अनुभव की ही

देन प्रतीत होती है।

इस घटना का कुछ सविस्तार उल्लेख, यद्यपि वह भी प्रसांगिक रूप में ही, शतपथ ब्राह्मण में आया है[9] और इसलिए जब-तब यह सोच लिया जाता है कि इस घटना का सम्बन्ध वैदिक काल से नहीं है और इसकी मूल कथा सम्भवतः पश्चिमी एशिया के स्रोतों से ली गयी है। पर शतपथ ब्राह्मण में भी यह एक बहुत प्राचीन घटना के रूप में ही दुहरायी गयी है। इसकी छाप केवल मनु की कथा में ही नहीं है, बल्कि इसे अन्य विवरणों में भी रूपकीय कलेवर में प्रस्तुत किया गया है।

ऋग्वेद में इस घटना का बहुत सांकेतिक उल्लेख अनेक रूपों में आया है। इनमें से एक इन्द्र की स्तुति में आयी ऋचा है जिसमें कहा गया है कि जिसने काँपती हुई धरती को स्थिर किया, क्षुब्ध पर्वतों को शान्त किया, आकाश को स्थिर किया और अन्तरिक्ष को मापा, वही इन्द्र है।[10] इसको मूल सृष्टि के विकास से जोड़ कर देखा जाता है और एक सीमा तक यह सही भी है। पर प्रत्यक्ष अनुभव के अभाव में पृथ्वी के काँपने और पहाड़ों के विकराल रूप धारण करने की कल्पना कोई भी नहीं कर सकता। कुछ विद्वान इस घटना का सम्बन्ध उस काल से जोड़ते हैं जब हिमालय पहाड़ अपने निर्माण की प्रक्रिया में था और उत्तर भारत की धरती में भूचालों का दौर बना हुआ था और वे जातीय स्मृति को भूगर्भीय कालों में खींच ले जाते हैं जो सर्वथा अकल्पनीय है। वस्तुतः इसका सम्बन्ध सारस्वत चरण की इसी भयंकर दुर्घटना से है।

इसकी अगली ऋचा में वृत्र का वध करके समस्त नदियों को प्रवाहित करने का उल्लेख किया गया है और साथ ही पत्थर में आग पैदा करने की बात की गयी है।[11] पत्थर के लिए अश्मन् शब्द का प्रयोग हुआ है और सायण ने इसका अर्थ बादल किया है जो अस्वाभाविक नहीं है, पर प्राकृतिक विप्लव में धरती के फटने और भीतर से आग निकल पड़ने की घटना भी इसकी प्रेरक बन सकती है।

ब्राह्मणों में मनु की कथा के अतिरिक्त वृत्र-वध के जो विवरण हैं उनमें जल के बीभत्स या भयंकर रूप धारण करने और भयानक तबाही लाने और फिर उस जल के तेज गति से समुद्र की ओर वापस लौटने की चर्चा बार-बार आती है और इसके संकेत ऋग्वेद में वृत्र-वध के उन विवरणों में पाये जाते हैं जिनका सम्बन्ध प्रकृति-लीला से है। इन विवरणों को सूखे से निस्तार और बादलों में बिजली की कौंध द्वारा बादलों पर प्रहार करके पानी बरसाने की इन्द्र की महिमा से जोड़ा जाता है। पर यहाँ यह स्मरण रखना होगा कि इसका उल्लेख प्राचीन काल में कभी एक बार असाधारण पराक्रम दिखाये जाने के रूप में ही किया जाता है। वर्षा के सन्दर्भ में इसमें भूतकालिक क्रिया के स्थान पर सामान्य वर्तमानकालिक क्रिया का प्रयोग अधिक उपयुक्त होता।

यूरोपीय कथाओं में जल-प्रलय की जो कथाएँ प्रचलित हैं उनमें से

आइसलैंड की एक कथा वृत्र-वध की रूपकात्मकता को समझने में कुछ सहायक हो सकती है। इसके अनुसार प्रलय की बाढ़ एक विशालकाय दैत्य के वध पर उसके शरीर से निकलने वाले खून से आयी थी। इस कथा के मूल में वृत्र-वध की कथा हो सकती है और इसलिए मनु की कथा को कुछ समय के लिए स्थगित रखकर हम वृत्र-वध के विवरण पर पुनर्विचार कर सकते हैं, जिसने सन्दर्भों के अनुसार विविध रूप ले लिये हैं।

वृत्रः ह वा इदं सर्वं वृत्वा शिश्ये। यत् इदं अन्तरेण द्यावा पृथ्वी स यत् इदं सर्वं वृत्वा शिश्ये तस्मात् वृत्रः नाम। तं इन्द्रः जघान। स हतः पूतिः सर्वत एव आपः अभि-प्र-सुस्राव सर्वत् एव हि अयं समुद्रः तस्मात् उ ह एका आपः बीभत्सान् चक्रिरे ता उपरि-उपरि अति पुप्रुविरे...।[12]

एगलिंग ने इसका जो अनुवाद किया है उसका हिन्दी रूपान्तर निम्न प्रकार होगा—"वृत्र ने पृथ्वी और आकाश के बीच के इस सारे अवकाश को घेर रखा था और चूंकि उसने समस्त अवकाश को घेर रखा था इसलिए उसका नाम वृत्र है। इन्द्र ने उसका वध किया। वध के बाद दुर्गन्ध देता हुआ यह सभी दिशाओं में समुद्र की ओर प्रवाहित हुआ, क्योंकि समुद्र चारों ओर है। और इसके परिणाम-स्वरूप जल ने भयंकर रूप धारण कर लिया और ऊपर बढ़ता हुआ वह चारों ओर बहने लगा...।" यहाँ "चारों ओर समुद्र है" के स्थान पर 'चारों ओर समुद्र का-सा दृश्य उपस्थित हो गया', अर्थ करना अधिक उपयुक्त होगा। वृत्र के वध की यह कथा यदि वृष्टि की कथा है तो यह एक असाधारण भयानक वृष्टि की कथा है जिसने बहुत बड़ी बर्बादी की थी। वृत्र की तुलना भयानक तूफ़ान और ड्रेगन से भी की गयी है। यह ऐसे विकट समुद्री तूफ़ान का रूपक है जिसमें नाभिकीय निर्वात के कारण तूफ़ान का केन्द्र तीव्र घर्षण से अग्निमुखी हो जाता है। वस्तुतः सामान्य वृष्टि से नहीं, अपितु इसी प्रकार की किसी असाधारण प्राकृतिक प्रकोप की घटना से इस कथा का और शतपथ ब्राह्मण में वर्णित वृत्र-वध और जलप्रलय के-से दृश्य का सम्बन्ध हो सकता है। इस बात को दुहराने की आवश्यकता नहीं कि ऋग्वैदिक कवि और उनके अनुवर्ती कवि और कथाकार एक ही रूपक का भौतिक-अति-भौतिक, इतने विविध रूपों में प्रयोग करते रहे हैं कि किसी एक ही व्यक्ति, देवता या असुर को[13] अनेक क्रियाओं और घटनाओं का प्रतीक बनाया गया है, और यही बात वृत्र पर भी लागू होती है।

इससे ऐसा लगता है कि मूल घटना के दो रूपकीय कथानक विकसित हुए थे—एक वृत्र-वध की कथा के रूप में और दूसरा मनु की कथा के रूप में। यदि इनका निर्गमन भारत से बाहर हुआ तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। इससे केवल इतना ही नतीजा निकाला जा सकता है कि उक्त घटना निर्गमन से पहले की है। आर्यों के विदेश-सम्पर्क की दिशाओं के विषय में हम पहले विचार कर आये हैं और

यहाँ उसकी आवृत्ति की आवश्यकता नहीं।

मनु की कथा में मनु एक महामत्स्य की सहायता से एक नौका में बैठकर हिमालय की ओर यात्रा करते हैं। इस कथा का नौका वाला पक्ष गिलगमेश काव्य और बाइबिल की प्रलय-कथा में सुरक्षित रहता है, पर यूनानी संस्करण का नायक द्युकालियन नाव के स्थान पर बहुत बड़े सन्दूक का निर्माण करता है और यह सन्दूक पार्नेसस पर्वत पर जाकर टिकता है। अन्य ब्यौरे इन सभी कथाओं में लगभग एक जैसे रहते हैं।

जल-प्रलय की कथाएँ यूरोप की अन्य भाषाओं में विरल ही पायी जाती हैं, पर इनकी एक विशेषता पर ध्यान अवश्य जाता है कि ये मेसोपोटामियाई कथा या बाइबिल की कथा पर आधारित न होकर मूल कथा से सीधे विकसित हुई हैं।

जल-प्रलय में प्रधान भूमिका नदियों की बाढ़ की न होकर समुद्री तूफ़ान की है, जिसकी पुष्टि अधिकांश कथाओं में होती है। मूल घटना का क्षेत्र क्या था, इस बात को लेकर तरह-तरह के अनुमान लगाये जाते रहे हैं। दुर्भाग्य के एकाधिकार की इस राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा के विषय में हमें कुछ नहीं कहना है। बाढ़ लगभग हर नदी में आती है और बड़ी नदियों की बाढ़ों से किसी भी क्षेत्र में काफ़ी तबाही आ सकती है, अतः किसी भी उपत्यका से भयंकर बाढ़ों के प्रमाण ढूँढ़े जा सकते हैं और इन्हें आधार बना कर यह कहा जा सकता है कि घटना-स्थल वही था। ऊर से कुछ इसी तरह के साक्ष्य वूली को मिले थे, यद्यपि इसके अन्य क्षेत्रों से प्राप्त स्तर को ध्यान में रखते हुए इसकी ऐतिहासिकता पर सन्देह व्यक्त किये गये हैं। वूली द्वारा जिस पहलू पर ध्यान नहीं दिया गया वह यह कि यह घटना नगर-सभ्यता के विकास के प्रथम चरण में ही मिलती है और इसके बाद उसी स्थल पर एक फूलता फलता नगर दिखायी देता है। यदि इस प्रकार की कोई भयानक आपदा का उस क्षेत्र से सम्बन्ध होता तो वहाँ के निवासियों की एकमात्र प्रतिक्रिया उस क्षेत्र से हट कर अन्यत्र जाने की और अधिक सुरक्षित स्थल पर अपनी बस्ती बसाने की होती। इसका दूसरा महत्वपूर्ण पहलू यह है कि दजला और फ़रात के क्षेत्र में बाढ़ तूफ़ानी प्रकोप और अतिवृष्टि से नहीं आती अपितु, इन नदियों के ग्रहण-क्षेत्रों में बर्फ़ के पिघलने से आती है, जब कि मेसोपोटामियाई और असीरियाई कथाओं में भी और इसके बाइबिल संस्करण में भी बाढ़ का प्रमुख कारण समुद्री प्रकोप माना गया है जिसके साथ भूगर्भीय उपद्रव भी जुड़ा हुआ था। इन सभी कहानियों में भी मोटे तौर पर जो समानताएँ पायी जाती हैं, उनके निम्न पहलू केन्द्रीय महत्व रखते हैं :

1. प्लावन का पूर्वाभास नायकको, या, कहें, उस जाति को जो इससे प्रभावित हुई थी, पहले ही मिल गया था और उसने इसकी अग्रिम तैयारी कर रखी थी। प्रकारान्तर से कहें तो, प्रभावित क्षेत्र में इस प्रलयंकर बाढ़ से पहले भी भयंकर बाढ़ें एक निश्चित मौसम में आती रहती थीं। (यह बात भारतीय भूभाग पर पूरी तरह

लागू होती है, यद्यपि दजला-फ़रात का क्षेत्र भी इसका अपवाद नहीं है।)

2. बाढ़ समुद्री तूफ़ान से आयी थी और ऐसा लगता था कि कहीं कोई बस्ती या कोई अंचल इससे अछूता नहीं बचा है। (यह बात केवल भारतीय क्षेत्र पर लागू होती है, पश्चिमी एशिया पर कदापि नहीं। दजला-फ़रात के क्षेत्र में जब बहुत बड़े पैमाने पर बाढ़ आती है तो भी यह स्पष्ट पता रहता है कि इसका प्रसार-क्षेत्र क्या है और उससे परे शरण लेने की बात बहुत आसानी से सोची जा सकती है। भारतीय क्षेत्र में जब बरसात में अनिश्चित अवधि और अनिश्चित गुरुता की बाढ़ें आती हैं तब पूरे-के-पूरे अंचल जलमग्न हो जाते हैं और यह पता नहीं चल पाता कि इसका कोई ओर-छोर भी है।)

3. इससे भयानक बर्बादी तो हुई ही थी, पर्वत-पर्यन्त धरती जलमग्न हो गयी थी। (यह निश्चित ही कुछ अतिशयोक्तिपूर्ण कथन है पर यह भी भारतीय भूभाग पर ही लागू होता है जहाँ तराई के क्षेत्र से लेकर नदियों के मुहाने तक लगभग एक जैसी भयानक स्थिति पैदा हो जाती है।)

4. बाढ़ का झटका जैसे आरम्भ हुआ था वैसे ही गुज़र नहीं गया था, अपितु पानी लम्बे समय तक ठहरा रहा था। वृत्र वाले विवरण के अनुसार तो यह सड़ने लगा था। (यह बात भी पश्चिमी एशिया की बाढ़ों पर लागू नहीं होती, केवल भारतीय बाढ़ों पर लागू होती है।)

5. नौका धारा की उलटी दिशा में अर्थात् पर्वत की ओर बह चली थी। (यह पहलू दोनों ही क्षेत्रों के लिए किंचित अतिशयोक्तिपूर्ण है। पर मनु की कथा में इसे महामत्स्य खींचकर ले जाता है।)

6. स्थल का पता लगाने के लिए बेबीलोनी कथा के अनुसार पहले कबूतर, फिर अबाबील और अन्तिम बार कौआ छोड़ा गया था। बाइबिल की कथा के अनुसार तीनों बार कबूतर ही छोड़ा गया था। (कबूतर और अबाबील का उपयोग कभी तट या स्थल का पता लगाने के लिए नहीं किया जाता था। कारण, कबूतर की उड़ान इतनी लम्बी होती है कि यदि एक बार छूट गया तो जब-तब हज़ारों मील की उड़ान भर सकता है। अभी तीन वर्ष पूर्व एक कबूतर के यूरोप से उड़कर अटलांटिक पार करने की कहानी समाचार-पत्रों में प्रकाशित थी। दो-चार सौ मील की उड़ान इसके लिए कोई कठिन बात नहीं है। अतः कबूतरों का उपयोग सन्देश ले जाने के लिए तो किया जा रहा है और इस दृष्टि से ऐसे कबूतरों की भी हम कल्पना कर सकते हैं जिनका उपयोग नौचालक आफ़त में पड़ने पर सूचना भेजने के लिए करते रहे होंगे, पर स्थल का पता लगने के लिए नहीं। दूसरी बात यह कि यदि कबूतर हालतू हुआ तो वह अन्यथा भी उड़ान भरकर अपने पालक के पास आ सकता है। आबाबील का भी कभी स्थल का पता लगाने के लिए उपयोग नहीं किया जाता रहा है। वास्तव में बेबीलोनी और बाइबिल की कहानियों से यह नहीं

लगता कि वे इस बात से परिचित भी थे कि नौचालन में पक्षियों का उपयोग कैसे किया जाता है, उनके लिए ये सुनी-सुनायी बातें ही थीं। स्थल का पता लगाने के लिए वैदिक काल में भी भारतीय व्यापारी कौओं का प्रयोग किया करते थे। अपनी जंगली प्रकृति और अधिक न उड़ पाने की विवशता के कारण यह यदि स्थल न दिखायी दे तो लौटकर जहाज़ पर ही आ जाता था और यदि स्थल दीख गया तो उड़कर उस दिशा में चला जाता था। इससे स्थल की निकटता और दिशा दोनों का पता चल जाता था ; पश्चिमी जगत ने यह तरीका बाद में सीखा और यह तरीका कोलंबस के समय तक प्रयोग में आता रहा। पश्चिमी एशिया में कौआ एक अपरिचित-सा पक्षी था और जैसा कि बलहस्स जातक से प्रकट होता है, इसे अजूबा माना जाता था। भारतीय नाविकों ने ही इसका पहली बार प्रयोग आरम्भ किया था। अतः इस कथा के मूल में ही इस बात की सूचना मिलती है कि कथा की रचना से पहले या कथा को ग्रहण करने से पहले पश्चिमी एशिया के लेखक को भारतीय नाविकों और नौचालन की विधि का एक अधूरा-सा ज्ञान था। यह उक्त क्षेत्र में भारतीय प्रभावों की उपस्थिति का सूचक है और यह कथा इसी सम्पर्क की देन है जिसे बेबीलोनी और मेसोपोटामियाई परम्पराओं में तथा बाइबिल में कुछ अटपटेपन से एक और नयी रंगत देते हुए पेश किया गया है।)

7. स्थल पर पहुँचने पर कथानायक ने देवताओं के लिए यज्ञ किया या बलि दी थी। (यह भारतीय रीति का द्योतक है। यद्यपि बेबीलोन आदि में भी पशु बलि का चलन रहा हो सकता है।)[14]

8. इस घटना से इतनी बड़ी तबाही हुई थी कि इसके समाप्त होने के बाद लगा था, हर चीज़ नये सिरे से शुरू हो रही है।

ऊपर के इन कतिपय निर्णायक पहलुओं पर ध्यान न देने के कारण अधिकांश विद्वान यह मानते रहे हैं कि यह घटना भारत में न घटित होकर सुमेरिया में घटित हुई थी और इसने एक कथाबद्ध रूप लेने के बाद आर्यों के साथ भारत में प्रवेश किया। रोमिला थापर भारतीय सन्दर्भ में इस बाढ़ का सम्बन्ध सिन्धु की बाढ़ से जोड़ने का प्रयत्न करती हैं जिसकी तिथि लगभग 2000 ई. पू. और मस्का संशोधन के बाद 2400 ई. पू. से पहले नहीं जाती। अतः 3102 ई. पू. के पौराणिक काल से इसकी दूरी को ध्यान में रखते हुए वह इसे मूलतः मिथकीय और सम्भवतः सुमेरियाई क्षेत्र से आयत्त मानती हैं जहाँ उनके अनुसार इसकी पुष्टि पुरातत्व से भी होती है।[15] सरस्वती की बाढ़ को सिन्धु नदी में पहुँचा कर उसकी तिथि नियत करने का औचित्य और फिर इसके अनुपयुक्त होने पर इसे छोड़ देने और भारतीय कथा को सुमेरिया से आयी हुई बताने के पीछे जो भी तर्क हो, इसे समझने में हमें कठिनाई होती है।

चूँकि इस उपद्रव में समुद्री तूफ़ान का प्रमुख हाथ था, अतः इस पहलू को लेकर

भी कुछ विद्वानों ने इस समस्या पर विचार किया है।[16] सोलेस के कथनानुसार इस प्रकार के महाप्लावन के लिए जिस उग्रता के समुद्री तूफ़ान की ज़रूरत है वह फ़ारस की खाड़ी में यदि पहुँच भी सकता है तो अंडमान से शुरू होकर ही। पर यहाँ तक पहुँचने पर इसकी उग्रता वही नहीं रह जायेगी। वह लिखते हैं, "पूर्वी भारत में अंडमान द्वीप-समूह के पास एक ऐसा केन्द्र है जहाँ से विश्व के कुछ सबसे भयंकर तूफ़ान उठा करते हैं। कमोबेश उत्तर-पश्चिम की ओर बढ़ते हुए ये तूफ़ानी चक्रवात बंगाल की खाड़ी को रौंदते हुए समुद्र में पहाड़ों जैसी ऊँची लहरें पैदा करते हैं जो अकसर निम्न अंचलों के हज़ारों बाशिन्दों को अपनी चपेट में ले लेती हैं। 14 अक्तूबर 1737 को इसी तरह की एक लहर ने जिसकी ऊँचाई 40 फुट थी गंगा के कछार में बसे लोगों को अपनी चपेट में ले लिया था और इसमें 1,00,000 लोगों की जान गयी थी।

"सामान्यतः ये तूफ़ान फ़ारस की खाड़ी की ओर नहीं बढ़ते और उत्तरी अरब सागर इनसे अछूता रहता है। पर सूस ने 24 अक्तूबर 1842 को आये ऐसे ही एक तूफ़ान को नज़र में रखते हुए सुझाव दिया था कि जल-प्रलय के मामले में पूर्वी भारत से उठा एक तूफ़ान अपने रास्ते से भटक गया होगा और ग़लती से फ़ारस की खाड़ी में पहुँच गया होगा। 1842 के तूफ़ान का मार्ग निम्न प्रकार था : 24 अक्तूबर को पाँच बजे यह पांडिचेरी पहुँचा। इसके बाद इसने अपना रास्ता बदल लिया और दक्षिण-पश्चिम को मुड़ गया और 25 को दोपहर के समय इसने पश्चिमी घाट को पार किया और दो हिस्सों में बँट गया। दक्षिण वाली शाखा से हमारा कोई सरोकार नहीं। उत्तरी केन्द्र उत्तर-पश्चिम की ओर फ़ारस की खाड़ी की ओर बढ़ा और इसका असर अदन की खाड़ी तक अनुभव किया गया। रास्ते में इसने कई जहाज़ों को नष्ट कर दिया।

"इन तूफ़ानी लहरों की अधिकतम ऊँचाई 40-45 फुट हुआ करती है और जैसा कि सूस ने संकेत किया है, निज़िर की पहाड़ियों तक समूचे मेसोपोटामिया को जलमग्न करने के लिए हमें बहुत बड़ी लहर की आवश्यकता होगी...हमें जिन समुद्री तूफ़ानों या भूचालों का विवरण प्राप्त है उनमें से कोई, या इन दोनों का सम्मिलित प्रभाव भी, समुद्र के पानी को इतनी ऊँचाई तक नहीं पहुँचा सकता कि उसकी लहर बग़दाद तक भी पहुँच सके।...यदि यह मान भी लें कि फ़रात की घाटी यहाँ (निज़िर की पहाड़ियों) तक डूब गयी थी और फिर चौदह दिनों के बाद अपनी पहली अवस्था को लौट आयी थी तो हमारे सामने एक ऐसी आपदा उपस्थित होती है जो उग्रता की दृष्टि से ही विकराल नहीं थी बल्कि इसकी प्रकृति की व्याख्या करना हमारी मौजूदा शक्ति से बाहर है।"[17]

इसलिए सोलेस मानते हैं कि यह कथा 'मिथक के भीतर एक मिथक' है जिसमें दिये गये विवरण सर्वथा अविश्वसनीय हैं।[18]

मिथक को मिथक होने के लिए हम दोष नहीं दे सकते, न ही दोष दे सकते हैं इसे अपने भीतर एक और मिथक छिपाए रखने के लिए। हमारे लिए महत्वपूर्ण बात यह है कि यदि प्रकृति की किसी विडम्बना से इस तरह के उपद्रव का कोई असर मेसोपोटामिया पर हो सकता था तो वह भी बंगाल की खाड़ी में उठे तूफ़ान के ही कारण। इस तरह के तूफ़ान और इनसे पैदा होने वाली बर्बादी का शिकार भारत को प्रायः होना पड़ता है। पर तटीय क्षेत्र को छोड़कर शेष भारत में इसका असर भयानक झंझावात और इससे जुड़ी हुई हफ्तों चलने वाली मूसलाधार बरसात और इससे उत्पन्न भयंकर बाढ़ों के रूप में ही होता है। इन तूफ़ानों से अरब सागर का उत्तरी भाग तो सुरक्षित रहता है, पर वह इस कारण कि प्रायः ये अरब सागर को छूकर फिर भारत की ओर लौट पड़ते हैं और सामान्यतः महाराष्ट्र या गुजरात के आस-पास फिर भारतीय भूभाग में प्रवेश करते हैं और इस वापसी में भी तटीय क्षेत्रों में भारी बर्बादी और देश के भीतरी हिस्से में भारी वृष्टि करते हैं। जहाँ तक सरस्वती क्षेत्र का सवाल है यह बंगाल की खाड़ी से उड़ीसा या बंगाल के पास से भारतीय भूभाग पर प्रहार करने वाले तूफ़ानों से भी प्रभावित हो सकता है और गुजरात के आस-पास से इसकी उलटी चपेट से भी। 1984 में केवल एक दिन के अभ्रपात(क्लाउड बर्स्ट) से रोहतक नगर में नौकाएँ चलने की स्थिति पैदा हो गयी थी।

अतः यदि इस उपद्रव की सम्भावना मेसोपोटामिया में नगण्य है तो भारत में इसके गम्भीर प्रभाव की हर सम्भावना दिखाई देती है। इस विशेष दृष्टि से इसको या तो पश्चिमी एशिया में ढूँढ़ने या कोरी कल्पना कहने के दो विकल्पों से अलग एक तीसरे विकल्प की बात अवश्य सोची जानी चाहिए थी और वह था भारत में इसके घटित होने की सम्भावना।

मेसोपोटामियाई और बेबीलोनी व इतर कहानियों के कुछ अन्य पहलुओं पर यदि कुछ बारीकी से विचार करें तो इनकी मिथकीय निर्मिति के भीतर जो सूत्र छिपे हैं वे भारत की ओर संकेत करते हैं।[19] उदाहरण के लिए, गिलगमेश काव्य का नायक जिस क्षेत्र का निवासी है, यह घटना उस क्षेत्र की नहीं है। यह कथा उसे लम्बी यात्रा के बाद, जब वह उत्नापिष्टिम के देश में पहुँचता है तब उनसे सुनने को मिलती है। उत्नापिष्टिम का नाम स्वतः आर्यभाषा का शब्द प्रतीत होता है— उत्तानपृष्ठ (तु. उत्तानपाद)। संक्षेप में कहें तो, अमरता का रहस्य जानने के लिए गिलगमेश को एक लम्बी, कष्ट और जोखिम-भरी यात्रा पर जाना होता है। उत्नापिष्टिम, जिनको अमरता का रहस्य मालूम है, उसी सुदूर देश में रहते हैं। अपनी कष्टकर यात्रा के बाद नायक पासू (फ़ारस ?) की ऊँची पर्वत-शृंखला के पास पहुँचता है जहाँ वह दरवाजा है जिससे सूरज अपनी दैनिक यात्रा पर निकलता है। यह द्वार, ज़ाहिर है, नायक के निवास-क्षेत्र से पूर्व की ओर ही हो सकता है। इस

दरवाज़े पर बिच्छू या वृश्चिक(बलूच ?)जाति के दो पहरेदार पहरा देते हैं जिनकी आँखों से मौत झाँकती है, और जिनकी गरिमा पूरे पहाड़ पर छायी है। फिर दो दिनों की यात्रा के बाद वह अँधेरी सुरंग को पार करता है जिसमें से होकर गुज़रते समय उसे कुछ दिखायी नहीं देता। (यह भारत के पश्चिमोत्तर के दर्रों को पार करने की सुनी हुई कहानी पर आधारित विवरण है। अब यदि पासू के ऊँचे पहाड़ और उस दरवाज़े पर, जिससे होकर सूरज अपनी यात्रा पर निकला करता है, ध्यान दें तो स्पष्ट हो जायेगा कि पासू वास्तव में पारस या फ़ारस है और यहाँ उससे पूर्व की ओर खुलने वाले दरवाज़े या भारत की ओर जाने वाले दर्रे का संकेत है और पुनः दर्रों की यात्रा को सुरंग की यात्रा के रूप में पेश किया गया है। जिस ज़माने की यह घटना और इसका विवरण है उस ज़माने में सुरंग जैसी किसी अन्य चीज़ की ओर वह भी दो दिनों की यात्रा वाली सुरंग की कल्पना की ही नहीं जा सकती।) इस सुरंग को पार करने के बाद वह सुन्दर पेड़ों, कीमती पत्थरों, रमणीक लताओं और फलों के देश में पहुँचता है। (यहाँ पुनः भारत का उल्लेख बहुत स्पष्ट है और यदि हम सातवीं-आठवीं शताब्दी के अरब व्यापारियों के भारत-विषयक विवरणों पर ध्यान दें तो इन दोनों में असाधारण समानता मिलेगी।)[20] फिर वह दूर समुद्र की कोर पर देवी परिचारिका सीदूरी को देखता है और उससे उत्ना-पिष्टिम से मिलने की इच्छा व्यक्त करता है। उसके वर्जित करने पर भी जब वह नहीं मानता तो वह उसकी सहायता के लिए एक मल्लाह देती है। एक बहुत भयानक यात्रा के बाद दोनों समुद्र के पार पहुँचते हैं, उत्नापिष्टिम के देश में। (यहाँ भारत को आने वाले समुद्र-मार्ग का स्थल-मार्ग पर आरोपण हो गया लगता है जो मिथकीय विवरणों के सर्वथा उपयुक्त ही है, जिनकी रचना-प्रक्रिया जातीय स्मृति में आने वाले विपर्ययों के कारण स्वप्न-प्रक्रिया से काफ़ी मिलती-जुलती होती है।)

बूढ़े उत्नापिष्टिम की काया अत्यन्त कृश है (जो पुनः भारतीय तपस्वियों की याद दिलाती है और इस तरह की साधना हड़प्पा काल में भी प्रचलित थी इसे पशुपति की उस आकृति को सामने रखकर समझा जा सकता है जिसका अंकन हड़प्पा की मुद्राओं पर हुआ है)। इनसे गिलगमेश अमरता का रहस्य पूछता है। (जो कठोपनिषद के नचिकेता की उत्सुकता की याद दिलाता है। यह स्मरण रखना होगा कि कठोपनिषद का कथाधार अत्यन्त पुराना है। नचिकेता उशनस् का पुत्र है, जिसके नाम का साम्य सुमेरी क्षेत्र में पहुँचने वाले और वहाँ सभ्यता का आरम्भ करने वाले नेता 'ओएनस' से मिलता-जुलता है। उशना का उल्लेख ऋग्वेद में भी बार-बार आता है।)[21]

गिलगमेश की उत्सुकता को देखकर उसके प्रश्नों का उत्तर देते हुए ही उत्ना-पिष्टिम उसे जल-प्रलय की कहानी सुनाते हैं। प्रकारान्तर से कहें तो, यह घटना

उस क्षेत्र में नहीं घटित हुई थी जिसके निवासी गिलगमेश हैं, अपितु वहाँ घटित हुई है जहाँ के निवासी उत्नापिष्टिम हैं और इस तरह गिलगमेश की कथा से भी घटनास्थल भारत ही सिद्ध होता है।

यहाँ हम जिस तथ्य पर बल देना चाहते हैं वह यह कि इस घटना से सरस्वती क्षेत्र का सम्बन्ध था और जिस घटना का दुष्प्रभाव इतना गहरा पड़ा हो कि इसकी तुलना समस्त सृष्टि के संहार से की गयी हो उसकी वास्तविक भयावहता निश्चय ही इतनी उग्र तो रही ही होगी कि सरस्वती क्षेत्र के भुक्तभोगियों में से बहुत-से लोग इस क्षेत्र को सदा के लिए छोड़कर अधिक सुरक्षित क्षेत्रों की ओर पलायन करने को बाध्य हुए होंगे। यूनानी, रोमन, आयरी और आइसलैंडी कथाओं से यह प्रकट होता है कि इनमें जिन स्रोतों से ये कहानियाँ पहुँचीं वे भारत से इस घटना के बाद बाहर गये होंगे। फ़ीनीशियनों की यह दन्तकथा भी इस दृष्टि से कुछ कम रोचक नहीं है जिसके अनुसार फ़ीनीशियन अपने मूल देश को भूकम्पों के प्रकोप के कारण छोड़ने पर मजबूर हुए थे और वे अपने भूमध्य सागरीय क्षेत्र में 2500 ई. पू. में पहुँचे बताये जाते हैं।[22] इन सभी विवरणों से हम इस घटना का काल 3000 ई. पू. के आस-पास पाते हैं।

जहाँ तक पुरातात्विक साक्ष्यों का प्रश्न है, भारतीय भूभाग में इस घटना की सम्भावना पर विचार करते हुए विद्वानों का ध्यान उन भयंकर बाढ़ों की ओर गया जिनका सामना मोहनजोदड़ो को अपने आरंभिक दौरों में करना पड़ा था, पर इन्हें काल-क्रम को ध्यान में रखते हुए स्वीकार्य नहीं पाया गया।[23] परन्तु क्या इसे इस बात का प्रमाण नहीं माना जा सकता कि कुछ शताब्दियों तक पश्चिम भारतीय भूभाग भूगर्भीय अस्थिरता से प्रभावित रहा था?[24]

वैदिक व्यापारी जो अभी मुख्य रूप से सरस्वती के क्षेत्र में हीं बसे हुए थे इन घटनाओं से अप्रभावित नहीं रह सकते थे। हमारे सामने सरस्वती क्षेत्र से नगर और व्यापार केन्द्रों के पश्चिम की ओर हटने का यदि कोई संगत कारण दिखायी देता है तो उनमें से यह प्रमुख कारण है। इस भयानक बाढ़ ने सम्भवतः सरस्वती की धारा को और दूसरी ओर इसके उद्गम-क्षेत्र को—भूस्खलनों के कारण—इस तरह प्रभावित किया कि इसके ग्रहण-क्षेत्र और निकास बदल गये। इसमें बहकर आने वाला पानी यमुना और गंगा की ओर मुड़ गया। वस्तुतः महाभारत में तो इस घटना को भी गंगा-तट से जोड़ दिया गया है। पौराणिक कल्पना के अनुसार सरस्वती धरती के नीचे बहती हुई प्रयाग में आकर उस विन्दु पर गंगा और यमुना से मिलती है जिसे त्रिवेणी कहा जाता है। इस रूपकीय कल्पना के पीछे यह सच्चाई है कि सरस्वती के ग्रहण-क्षेत्र की जल-सम्पदा ने गंगा और यमुना के निकास-मार्ग अपना लिये। पुराणकारों की अपनी भौगोलिक सीमा न रही होती तो शायद इतने ही औचित्य से वे यह भी कह सकते थे कि सरस्वती अदृश्य रूप में सिन्धु में भी जा

मिलती है। कारण, एक ओर तो यमुना ने सरस्वती से हट कर बेतवा के मार्ग को पकड़कर गंगा का रास्ता अपनाया और दूसरी ओर सतलज ने सरस्वती से हटकर सिन्धु का रास्ता।

भयंकर बाढ़ों के दो उलटे परिणाम हुआ करते हैं। एक ओर तो ये नदी की धारा को और गहरी कर देती हैं, पर इसके विपरीत जब बाढ़ अधिक भयावनी हो और इसकी जलराशि के कारण जल-थल का भेद मिटाता हुआ पानी बहुत बड़े पाट के साथ बहने लगे तो इसके ठीक विपरीत मुख्य धारा नदी की बाढ़ में लायी हुई रेत और मिट्टी से पट जाती है। यह पटाव जब-तब नदी-द्वीपों की शक्ल ले लेता है, पर यदा-कदा पूरे पाट में बिखरी मिट्टी इसकी धारा को पाट कर इसे निरर्थक बना देती है और यदि इसका ग्रहण-क्षेत्र भी प्रभावित हो, उसका जल अन्य दिशाएँ ले ले तो कम जल ग्रहण के साथ नदी मरने लगती है। यह केवल बरसाती नदी बनकर रह जाती है और क्रमशः लुप्त होती जाती है। सरस्वती के साथ भी यही हुआ। यद्यपि इसका आरम्भ इस महाप्लावन की घटना के साथ ही हुआ लगता है, पर इसे अपनी अन्तिम परिणति तक पहुँचने में हज़ारों वर्ष का समय लगा होगा।

नदी के मरने में जितना भी समय लगा हो, पर इसकी व्यापारिक उपयोगिता समाप्त होने में अधिक समय नहीं लगा होगा। और अब सारस्वत व्यापारियों की नये केंद्रों की तलाश किसी ऐसी नदी के तट पर आरम्भ हुई जिसका प्रवाह अजस्र और समुद्र-पर्यन्त हो। यही चरण है जब सरस्वती घाटी के केन्द्र सिन्धु और इसकी सहायिका नदियों के तटों पर बनने लगते हैं। चूंकि इन नगरों की स्थापना विकास के एक निश्चित स्तर पर पहुँचने के बाद सोच-विचार के बाद की जाती है, अतः इनकी स्थापना के समय से ही एक सुनियोजित नगर-योजना दिखायी देती है।

महादुर्भिक्ष

जल-प्लावन की घटना पर विचार करते समय इसे आबादी के स्थानान्तरण से जोड़ने का प्रयास नहीं किया गया। जहाँ इसकी ऐतिहासिकता को ही सन्दिग्ध बना दिया गया हो, या इसे एक भिन्न क्षेत्र से सम्बद्ध माना जाता रहा हो वहाँ इसकी आशा भी नहीं की जा सकती। आश्चर्य तब होता है जब सुमेरिया में भी इसके साथ किसी प्रव्रजन की सम्भावना की तरफ़ ध्यान देने की ज़रूरत नहीं समझी गयी। कारण स्पष्टतः यह था कि जिस क्षेत्र से बाढ़ के प्रमाण जुटाये गये वहीं पर इसके अविच्छिन्न क्रम में सभ्यता के जारी रहने के प्रमाण मौजूद थे, अतः स्थानीय आबादी को डुबा भी दिया गया और सकुशल बचा भी लिया गया।

पर एक अन्य घटना का सम्बन्ध आर्यों के सरस्वती घाटी से हटकर मगध में पहुँचने से जोड़ा जाता रहा है। यह अग्नि वैश्वानर के प्रकोप से विदेघ माथव का अपने पुरोहित राहूगण के साथ पूर्व की दिशा में अभियान है। इस घटना की व्याख्या कुछ इस प्रकार की गयी है मानो यह कोई आक्रमण रहा हो और वैदिक जन अपने रास्ते में आने वाली बस्तियों को जलाते हुए आगे बढ़े हों।

शतपथ ब्राह्मण की इस कथा पर टिप्पणी करते हुए एगलिंग लिखते हैं, "इस महत्वपूर्ण कथा की ओर सबसे पहले प्रो. वेबर (इंडि. स्टू. I, 170 और आगे; देखें इंडि. स्ट्रा. 1, पृ. 13; जे. म्योर संस्कृत टेक्स्ट्स 2, पृ. 402 भी) ने ध्यान आकृष्ट किया था। वेबर ने इस बात का संकेत किया था कि इस कथा से ब्राह्मण-वादी भारतीयों के पूर्व की दिशा में प्रव्रजन के तीन क्रमिक चरणों का बिलगाव हो जाता है। पहली बार आर्यों की बस्ती पंजाब से (जहाँ वे ऋग्वेद के रचना-काल में बसे हुए थे) सरस्वती घाटी तक फैल चुकी थी। हमारी इस कथा के अनुसार वहाँ से वे विदेघ माथव और उनके पुरोहित के नेतृत्व में पूर्व की ओर सदानीरा तक (अर्थात् वह जो सदा जल से भरी रहती है) बढ़ गये थे, जो सायण के अनुसार कर-तोया (आधुनिक कुरत्ती, जिस पर बोगरा स्थित है) है, जो विदेह की पूर्वी सीमा थी (देखें ब्रा. 17)। हमारी इस कथा से ऐसा लगेगा कि कुछ समय तक आर्यों का साहस इस नदी को पार करने का नहीं हुआ था, पर इस कथा के लेखक के समय से बहुत पहले से यह क्षेत्र उनके अधिकार में आ गया था। सायण इस कथा के नायक को माधव या मधु का पुत्र मानते हैं, पर विदेघ, जो विदेह का प्राचीनतर रूप है, ही (जैसा कि वेबर मानते हैं) शायद यहाँ इष्ट है, जो उस क्षेत्र (जो आधु-निक तिरहुत से मिलता-जुलता है) और इसके निवासियों के लिए प्रयुक्त हुआ है। अग्नि वैश्वानर (वह अग्नि जो सार्वजनिक है) को इस आख्यान में वेबर ब्राह्मण-वादी आराधना और सभ्यता का और इसके विनाशकारी प्रभावों का मूर्त रूप मानते हैं।"[25]

इसके बाद विभिन्न अध्येताओं ने[26] इसी मान्यता को मामूली हेर-फेर के साथ दुहराया है। कोसम्बी इसे जंगल जलाकर दलदली ज़मीन को खेती के उप-युक्त बनाने के अभियान से जोड़ते हैं और मानते हैं कि यह यात्रा तराई के क्षेत्र से होकर की गयी थी।[27] गोविंदन्चन्द्र पाण्डे इसकी तुलना महाभारत के खाण्डव वन-दहन से करते हैं।[28]

इस कथा में तिरहुत क्षेत्र में वैदिकों के प्रवेश का विवरण बहुत स्पष्ट है। इस विषय में भी कोई सन्देह नहीं रहने दिया गया है कि इस क्षेत्र में आकर बसने वाले सरस्वती क्षेत्र से आये थे। परन्तु इसके दो पहलुओं पर समुचित ध्यान नहीं दिया गया है। ये हैं प्रव्रजन का काल और कारण।

इस कथा का आरम्भ यज्ञ प्रक्रिया में 'हिं', 'प्र', आदि के उच्चार का और

इनकी उच्चारण की पद्धति का महत्व समझाते हुए होता है और इसका सम्बन्ध सम्भवतः वाजपेय यज्ञ से है। इस यज्ञ का लक्ष्य है अन्न की प्राप्ति।[29] इसी प्रसंग में विदेघ माथव की यात्रा का उल्लेख एक दृष्टान्त रूप में आया है :

विदेघ माथव (कभी प्राचीन काल में वीतिहोत्र या वाजपेय यज्ञ कर रहे थे और उस समय) अपने मुख में अग्नि वैश्वानर को धारण किये हुए थे। गौतम राहूगण उनके पुरोहित थे। उन्होंने विदेघ को मन्त्र बोलने को कहा, पर विदेघ ने इस भय से कि कहीं अग्नि उसके मुख से गिर न जायें, कोई जवाब नहीं दिया। अब उन्होंने ऋग्वेद का एक मन्त्र पढ़ते हुए विदेघ का आह्वान किया, "वीतिहोत्रं त्वा कवे द्युमन्तं समिधीमहि। अग्ने बृहन्तं अध्वरम्। ओ विदेघ!" उसने फिर कोई जवाब नहीं दिया। पुरोहित ने पुनः मन्त्र पढ़ा, "उत् अग्ने शुचयः तव शुक्रा भ्राजन्त ईरते। तव ज्योतींषि अर्चयः। ओ विदेघ!" उसने फिर जवाब नहीं दिया। पुरोहित ने आगे मंत्र पढ़ा, "तं त्वा घृतस्नवीमह..." अभी उसने इतना ही कहा था कि अग्नि वैश्वानर राजा के मुँह से फूट पड़े : वह उन्हें रोक नहीं पाया; उसके मुँह से निकलकर वह धरती पर आ गिरे। उस समय विदेघ माथव सरस्वती के तट पर थे। (या सायण के अनुसार वह अग्नि द्वारा उत्पन्न दाह को शान्त करने के लिए सरस्वती में कूद पड़े थे और उसी में थे। पाद-टिप्पणी।) इसके बाद वह जलते हुए पूर्व की ओर बढ़े और गौतम राहूगण तथा विदेघ उनके पीछे-पीछे चले। उसने सारी नदियों को जला दिया। अब चूँकि वह नदी जिसे सदानीरा कहते हैं, उत्तर-गिरि (हिमालय) से निकलती है, इसलिए इसे उसने नहीं जलाया। उसे ब्राह्मण पहले पार नहीं करते थे। सोचते थे कि इसे अग्नि वैश्वानर ने अभी जलाया नहीं है। पर आजकल बहुत-से ब्राह्मण इससे पूर्व की ओर हैं। उस समय यह (सदा-नीरा से पूर्व का भाग) बहुत बंजर, बहुत दलदल-भरा था; कारण, अग्नि वैश्वानर ने इसका स्वाद नहीं लिया था। पर आजकल यह बहुत कर्षित है, क्योंकि ब्राह्मणों ने यज्ञ द्वारा इसे अग्नि को चखा दिया है। कड़कती गर्मी में भी जब अन्य क्षेत्र सभी की तरह झुलसते रहते हैं यह तीव्र गति से प्रवाहित होती है। यह इतनी ठण्डी है, क्योंकि इसे अग्नि वैश्वानर ने बहुत अधिक नहीं जलाया है। अब विदेघ माथव ने अग्नि से पूछा, "मैं कहाँ निवास करूँ?' उसने कहा, 'तुम्हारा निवास इस नदी से पूर्व की ओर हो।' आज भी यह नदी कोशल और विदेह की सीमा-रेखा है, क्योंकि ये माथव हैं।[30]

इससे आगे राहूगण विदेघ से पूछते हैं कि उन्होंने आह्वान करने पर जवाब क्यों नही दिया और वह इसका कारण बतलाते हैं और फिर कहते हैं कि जब पुरोहित ने 'घृतस्नवी' वाला मन्त्र पढ़ा तो क्या हुआ और अग्नि कैसे उनके मुँह से फूट पड़े और इसके बाद ब्राह्मण का रचनाकार कर्मकाण्डीय व्याख्या पर आ जाता है। वह ,अग्न आ याहि वीतये...' पढ़ने का महत्व समझाते हुए एक अन्य आख्यान सुनाता

है, "वह ऐसा इसलिए कहता है कि पहले ये लोक एक-दूसरे से मिले हुए थे और आकाश को तो कोई यूँ छू सकता था। फिर देवताओं ने इच्छा की कि इन लोकों को एक-दूसरे से अलग कैसे किया जाये ? हमारे लिए जगह कैसे बने ? फिर उन्होंने इन्हीं तीन शब्दों के मन्त्र 'अग्ने आ-याहि वीतये' को पढ़कर उच्छ्वास लिया और ये लोक एक-दूसरे से अलग हो गये और देवताओं के लिए बहुत सारी जगह तैयार हो गयी और इसीलिए जो व्यक्ति इस बात को जानते हुए यह मन्त्र पढ़ेगा उसे प्रचुर भूमि मिलेगी।" इत्यादि।

इस कथा का घटना काल बहुत पुराना है। इतना पुराना कि स्वयं ब्राह्मणकार ने जहाँ से इस कथा को लिया है, उसका अर्थ वह अच्छी तरह नहीं समझ पाया है और उसने अपनी ओर से नयी कहानी गढ़ ली है। कुछ पहलुओं को समझने में एगलिंग से भी ग़लती हुई है।

पहली बात तो सन्दर्भ की है। प्रसंग यज्ञ का है। यज्ञ के समय अग्नि को सम्मुख तो रखा जाता है जिससे अग्नि के लिए पुरोहित या आगे रखा हुआ सम्बोधन भी प्राप्त है, पर मुख में अग्नि को रखना असम्भव है। अतः मूल विवरण में 'मुखे' का अभिप्राय सम्मुखे रहा है, जिसे यहाँ ब्राह्मणकार ने वाचिक अर्थ दे दिया है। यह अर्थभ्रम इस बात का सूचक है कि यह विवरण परम्परालब्ध एक अन्य विवरण की ग़लत समझ पर आधारित है, और इससे यह प्रकट होता है कि मूल घटना का सम्बन्ध सुदूर अतीत से है।

इसकी पुष्टि इसी ब्राह्मण में दिये गये दूसरे अन्तर्वृत्त से भी होती है जो आदिम कृषि के चरण से सम्बन्ध रखता है जब जंगलों की सघनता के कारण ऐसा लगता था कि धरती और आकाश के बीच दूरी बहुत कम है और अपने लिए जगह बनाने या खेती के लिए ज़मीन तैयार करने के लिए आग लगाकर जंगलों की सफ़ाई की गयी और इस प्रकार देवों द्वारा अपने लिए धरती का या कृषि-योग्य भूमि का विस्तार किया गया और इस तरह के खुले मैदान से देखने पर आकाश और धरती एक-दूसरे से बहुत दूर हटे प्रतीत होने लगे। भूमि की सफ़ाई कृषि के लिए आग से जंगलों को जलाकर की गयी थी, अतः 'अग्न आ-याहि वीतये'—अग्नि अन्नवृद्धि के लिए हमारे पास आओ, की उक्ति इस सन्दर्भ में सार्थक थी, भले ही इस प्रकार का कोई मन्त्र पढ़ा गया हो या यह बाद के पुरोहितों की अपनी कल्पना रही हो। यदि इतनी प्राचीन घटना का हवाला ब्राह्मणों में यज्ञ में प्रयुक्त मन्त्रों का महत्व प्रकट करने के लिए आ सकता था, तो यह सोचना युक्ति-संगत नहीं होगा कि यदि कोई दृष्टान्त पहली बार ब्राह्मणों में पढ़ने को मिलता है तो यह अनिवार्य रूप से ऋग्वेदोत्तर काल का ही होगा। इस प्रकार का पूर्वाग्रह तब और निराधार लगता है जब स्वयं इस ब्राह्मण में ही मूल घटना की प्राचीनता का उल्लेख है और इसकी पुष्टि अर्थभ्रम से भी हो रही है।

एगलिंग के अनुसार 'वीत्रिहोत्रं त्वा कवे...' मन्त्र द्वारा विदेघ के पुरोहित ने राजा को सम्बोधित किया। वस्तुतः इस मन्त्र को पढ़कर वह इस बात की अपेक्षा करता है कि राजा इस मन्त्र को दुहराये। मन्त्र स्वयं अग्नि की स्तुति में है और उसे ही सम्बोधित है।

'घृतस्नवी' का अर्थ है जल-वर्षक।[31] अग्नि वैश्वानर मुख्यतः सूर्य के लिए प्रयोग में आता है।[32] जिस प्राचीन प्रसंग को ब्राह्मण में स्थान दिया गया है वह वर्षा के लिए किये जा रहे यज्ञ का है। सामान्य विश्वास यह रहा है कि सूर्य अपनी किरणों से वायु की सहायता से जल का शोषण करता है और यह जल द्युलोक में संचित रहता है और जब यज्ञ द्वारा इन्द्र—सूर्य—को प्रसन्न किया जाता है तब वृष्टि होती है।[33] विदेघ इसी आशा में यज्ञ कर रहे थे और सम्भवतः यज्ञ लम्बे समय से चल रहा था और सारे मन्त्र और उपचार व्यर्थ जा रहे थे। वह इतने बेहाल और निराश हो चले थे कि अब उनके कण्ठ से शब्द भी नहीं फूट रहे थे और अन्ततः वह अपना धीरज छोड़ बैठते हैं और यज्ञ से वृष्टि की आशा छोड़कर पूर्व की दिशा में जान बचाने के लिए चल पड़ते हैं। 'नशशाक धारयितुं' में अग्नि को मुँह में धारण न कर पाने से अधिक सार्थक है अपना धीरज न कायम रख पाना। यदि यज्ञ सामान्य स्थिति में राज्य-विस्तार के लिए था तो आरम्भ में ही विजयकामी राजा का धीरज खो बैठना कैसे उचित ठहराया जायेगा? पर यज्ञ की विफलताओं का भी ब्राह्मण किस तरह यज्ञ के महत्व को सिद्ध करने के लिए प्रयोग में ला सकते थे, इसकी यह एक अच्छी मिसाल है।

जो भी हो, दृष्टान्त में अग्नि वैश्वानर मुख से धरती पर गिरते हैं तो स्वयं वहाँ की धरती को जलाना आरम्भ कर देते हैं। क्या विजय पर चलने वालों ने सबसे पहले अपने घर में ही आग लगायी थी?

पूर्व की दिशा में बढ़ते हुए वे पाते हैं कि अग्नि वैश्वानर ने सभी नदियों को जला या सुखा डाला है, 'स इमाः सर्वा नदीः अतिददाह।' पानी में आग लगाना असम्भव को सम्भव सिद्ध करने के लिए प्रयुक्त एक मुहावरा है। वेबर आदि ने इसे भी सच्चा सिद्ध कर दिया। इस बात पर ध्यान दिया जाना चाहिए था कि इस पूरे विवरण में न तो किसी बस्ती को जलाने का उल्लेख है, न किसी को जीतने का का और सबसे पहले यह दाह सरस्वती क्षेत्र में ही अनुभव किया गया है और वहीं से अन्यत्र फैलता है, 'सरस्वत्यां स ततऽएव प्राक् दहन् अभि इयाय', और ये शरणार्थी जहाँ-जहाँ जाते हैं वहीं सूखे से झुलसा और उजड़ा हुआ इलाक़ा मिलता है। पर पाश्चात्य अध्येता आर्यों के आक्रमण और इनके बर्बर कारनामों को दिखाने की इतनी जल्दी में थे कि उन्हें इस पहलू पर विचार करने का अवकाश नहीं था।

सदानीरा के तट पर उन्हें पहली बार कुछ राहत मिलती है और इसका कारण यह बताया गया है कि यह सीधे हिमालय से निकलती है और दूसरा कारण यह कि

इसे अग्नि वैश्वानर ने अधिक नहीं जलाया था। यह उल्लेख पुन: यह स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त था कि यहाँ सन्दर्भ प्राकृतिक प्रकोप का है, न कि आगजनी का। अन्यथा यदि ये आक्रमणकारी नदियों में आग लगाते हुए बढ़ रहे थे तो फिर इसमें किसी नदी का हिमालय से निकलना क्या अर्थ रखता है ? उत्तर भारत की तो लगभग सारी प्रधान नदियाँ हिमालय से ही निकलती हैं। वास्तव में यह यात्रा सीधे पूर्व की ओर न होकर उत्तर-पूर्व की ओर है और यहाँ सदानीरा के उस विन्दु का उल्लेख है जहाँ उसकी धारा पहाड़ से निकल कर मैदान में प्रवेश करती है और इसलिए ऊपर की बर्फ़ के पिघलने से इसमें आया हुआ पानी तेज़ी से बह रहा है जो सूखा-ग्रस्त क्षेत्र की नदियों में बिलकुल सूख गया था। इस नदी के भी नीचे क्षेत्र में क्या स्थिति रही होगी, यह कहना कठिन है।

यदि किसी ने पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार का तराई क्षेत्र देखा है तो वह आसानी से समझ सकता है कि यह क्षेत्र सामान्य स्थितियों में निवास के योग्य नहीं रहा और इसका बहुत बड़ा हिस्सा इस शताब्दी के आरम्भ तक भी वीरान, कृषि के अनुपयुक्त, दलदल, घास, जंगल और मच्छरों और मलेरिया तथा फीलपाँव और गलगंड का क्षेत्र माना जाता रहा है। इस क्षेत्र को, तराई के इस हिस्से को, इस दुर्घटना से पहले कभी बसाने का प्रयत्न नहीं किया गया था। इससे पहले ब्राह्मण या वैदिक कृषिकर्मी तो इधर कदम रखते ही नहीं थे, मुमकिन है कुछ जंगली जातियाँ रहती रही हों, पर कथा में किन्हीं को हराने या जीतने का आभास तक नहीं है। अन्य सन्दर्भ भी केवल सूखे और अकाल के ही हैं कि 'जब दूसरे क्षेत्र जघन्य निदाघ में समी की तरह दहकते रहते हैं तब भी यह क्षेत्र शीतल बना रहता है और गर्मी और लू का यहाँ असर नहीं होता।' यदि आप विदेह की राजधानी जनकपुर, जो अब नेपाल में पड़ता है, पर दृष्टि डालें और पहाड़ से सीधे निकलने वाली सदानीरा के ऊपर ध्यान दें और उसके पार के क्षेत्र के पौराणिक महत्व पर ध्यान दें—ठीक इससे परे का क्षेत्र वाल्मीकि का आश्रम बताया जाता है और इससे कुछ ही आगे जनकपुर है—तो स्पष्ट हो जायेगा कि यहाँ लेखक का तात्पर्य किस इलाके से है। पुन: विदेघ जब पूछते हैं कि उनका निवास कहाँ हो तो उत्तर मिलता है, सदा-नीरा के पार। ध्यान देने की बात यह थी की यदि आगजनी से या जैसे भी केवल सदानीरा के आर का ही क्षेत्र जीता गया और सदानीरा के पार का क्षेत्र अप्रभावित रह गया तो फिर उस अविजित क्षेत्र में इनके जा कर बसने की क्या आवश्यकता थी ?

स्पष्टत: यह एक महान दुर्भिक्ष का वर्णन है जिसका विजय से कोई सम्बन्ध नहीं। दुर्भिक्ष इतना विकट है कि सरस्वती क्षेत्र में बसे हुए लोगों को, यहाँ तक कि साधन-सम्पन्न लोगों को भी आश्रय के लिए अन्य क्षेत्रों में भागने को मजबूर होना पड़ता है। इसकी भयावहता का कुछ अनुमान इस बात से लगाया जा सकता

है कि इससे उत्तर प्रदेश तक का पूरा उत्तरी भारत प्रभावित हुआ लगता है। प्रश्न केवल सारवस्त क्षेत्र का नहीं है। स्वयं सदानीरा के पार के अंचल की भी स्थिति भिन्न नहीं है। कारण, इस लम्बी अनावृष्टि का ही परिणाम है कि पहली बार इस क्षेत्र के दलदल तक सूख जाते हैं। इसके ठीक हिमालय की तराई में होने के कारण ही यह अनतिदग्ध रह गया है। पर जल के स्रोत के रूप में यहाँ भी वर्षा का नहीं, अपितु हिमालय से निकलने वाली इस नदी का ही गुण गाया गया है। इसी ब्राह्मण में यह उल्लेख आया है कि यह नदी ही अब कोसलों और विदेहों की सीमा-रेखा है। ज़रूरी नहीं कि कोसल जन इस क्षेत्र में विदेह के प्रयाण से पहले से बसे रहे हों। सम्भव है, वे भी इसी प्रकोप से ग्रस्त होकर इस क्षेत्र में आये हों और इनका प्रसार मुख्य रूप से सरयू के पार के क्षेत्र में ही रहा हो जो आगे चलकर सरयू-पारीण ब्राह्मणों की प्राचीनता और श्रेष्ठता का कारण बना हो। यदि ध्यान से देखें तो सरयू पार का क्षेत्र—बहराइच, गोंडा, बस्ती गोरखपुर और देवरिया का तराई क्षेत्र दलदल और मच्छरों तथा इनसे फैलने वाली बीमारियों तथा कतिपय आवश्यक खनिज तत्वों से रहित जल के लिए उतना ही बदनाम रहा है जितना सदानीरा का तराई क्षेत्र। अतः यदि सयानीरा को इस घटना से पहले पार करके इस व्याधिग्रस्त क्षेत्र में बसने का साहस नहीं किया जाता था तो इसको धार्मिक कारणों से जोड़ना उचित नहीं है। अथर्ववेद में सम्भवतः इसी क्षेत्र को तक्म का घर, महावृष और मूजवात, सोम —गन्ने—का क्षेत्र बताया गया है।

इस महादुर्भिक्ष के कारण जो सारस्वत केन्द्रों को अन्तिम कठोर आघात पहुँचता है, सरस्वती क्षेत्र की अर्थव्यवस्था एक लम्बे समय के लिए बिलकुल नष्ट हो जाती है। बाढ़ों की तरह दुर्भिक्ष भारत में प्रायः आते रहते हैं और इसलिए यह कह सकना कठिन है कि इस भयंकर और लम्बे दौर के दुर्भिक्ष का समय क्या हो सकता है, पर जैसा कि हम ऊपर संकेत कर आये हैं, यह सम्भवतः वैदिक काल की घटना है जो परवर्ती अर्थभ्रम से प्रकट होता है। ऋग्वेद के प्राचीन मण्डलों या सारस्वत क्षेत्र में रचे गये मण्डलों में चतुर्थ मण्डल सबसे बाद का मण्डल बताया जाता है। इस मण्डल की रचना का श्रेय गौतम वामदेव को दिया गया है। विदेघ माथव के पुरोहित गौतम राहूगण हैं। इन दोनों में गौतम नाम का होना कुछ रोचक है। महत्वपूर्ण बात यह है कि इसी मण्डल की एक ऋचा में एक भयंकर अकाल का वर्णन आया है जिसके भुक्तभोगी स्वयं वामदेव गौतम भी हुए थे। ऋचा निम्न प्रकार है :

> अवर्त्या शुनि आन्त्राणि पेचे न देवेषु विविदे मर्डितारम्।
> अपश्यं जायां अमहीयमानां अधा मे श्येनः मधु आ जभार॥
>
> ऋ. 4.18.13.

इस ऋचा का रूपान्तर निम्न प्रकार होगा : मैंने धर्म-विचार त्याग कर कुत्ते की अँतड़ी पकाकर खायी, अपनी पत्नी को अपनी आँखों के सामने अपमानित होते

देखा। उस समय देवों में से किसी ने कोई राहत नहीं दी। अन्ततः हे श्येन (इन्द्र), तुम्हीं ने जल प्रदान किया।

यहाँ हमारा आशय इन दोनों विवरणों में प्रयुक्त 'मधु' और 'माधव' के साम्य पर बल देने का नहीं है। जल की प्राप्ति कब और कैसे हुई, इस विषय में इस ऋचा में कोई संकेत नहीं है। महत्वपूर्ण बात यह कि अकाल इतना भयंकर था कि जान बचाने के लिए कुलीन परिवारों की स्त्रियाँ तक अपना सम्मान बेचने को बाध्य हो गयी थीं और धर्म-अधर्म का विचार छोड़ कर ऋषि गौतम वामदेव को कुत्ते की अँतड़ियाँ पकाकर खानी पड़ी थीं।

महाभारत में सम्भवतः इसी अकाल की कथा दुहरायी गयी है, जिसमें वामदेव गौतम के स्थान पर विश्वामित्र का नाम आया है, पर कुत्ते का मांस एक चाण्डाल के यहाँ से चुरा कर खाने का उल्लेख वहाँ भी आया है। कम-से-कम इतना तो उस कथा से भी जाहिर है कि इस अकाल का सम्बन्ध वैदिक काल से ही था। इस अकाल की भयंकरता इस बात से ही प्रकट होती है कि इसे युगसन्धि पर घटित होने वाला बताया गया है।[34] इसके कारण नदियों के संक्षिप्त-तोया होने और किन्हीं नदियों के पूरी तरह सूख जाने[35], तालाबों, कुओं, धाराओं के सूख जाने[36], सभाओं संस्थाओं और आश्रमों के समाप्त होने[37], कृषि और गोपालन, वाणिज्य और बाजार सभी के परित्याग, नगरों के उजड़ने और जीवन-रक्षा के लिए इधर-उधर पलायन करने का[38] और अपनी प्राणरक्षा की चिन्ता में विकल होकर एक-दूसरे को खा जाने[39] का वर्णन है और भयावहता की दृष्टि से इन तीनों विवरणों में एक संगति है।

और इस भयंकर अकाल ने, जिसका समय सारस्वत चरण का अवसान-काल प्रतीत होता है, सरस्वती घाटी को कुछ समय के लिए पूरी तरह से बर्बाद कर दिया। इस प्रकार इन दो प्राकृतिक विपर्ययों—जलप्लावन और दुर्भिक्ष—ने सरस्वती घाटी के केन्द्रों को पूरी तरह नष्ट कर दिया और सम्भवतः इसी चरण से वह दौर आरम्भ होता है जिसे परिपक्व हड़प्पा का दौर कहा जाता है। इस दौर की प्रधान नदी सरस्वती न रह कर सिन्धु हो जाती है। सरस्वती का उल्लेख नाममात्र के लिए और प्राचीन परम्परा के निर्वाह के लिए मात्र एक देवी के रूप में—वस्तुतः वाग्देवी के रूप में रह जाता है। पर यह सोचना युक्तिसंगत न होगा कि यह प्रसार केवल पश्चिम की ओर हुआ था। ग्राम संस्कृतियों का प्रसार पूर्व की ओर कम-से-कम पश्चिमोत्तर बिहार तक होता है। पर चूंकि व्यापारियों को जिनके व्यापारिक सम्पर्क पश्चिमी और मध्य एशिया से थे, अधिक उपयुक्त अंचल सिन्धु और उसकी सहायिका नदियों का ही प्रतीत हुआ था और चूंकि वैदिक साहित्य के मुख्य संरक्षक व्यापारी ही थे, अतः वैदिक साहित्य में इस क्षेत्र और इसकी गतिविधियों का ही मुख्य रूप से उल्लेख मिलता है। परिपक्व हड़प्पा के अवशेषों का

भी इसी अंचल तक सीमित रह जाने का यही कारण प्रतीत होता है।

इस चरण के बाद ही वैदिक परम्परा और पौराणिक परम्पराओं का एक क्षीण अलगाव हो जाता है, यद्यपि पुराण बहुत बाद तक लिखे जाते रहे हैं इसलिए उनमें वैदिक परम्परा को भी यथासाध्य समेटने का प्रयत्न किया गया है, पर यहाँ भी यह देखा जा सकता है कि इनका सम्बन्ध मुख्य रूप से ऋग्वेद के प्राचीन मण्डलों से जुड़ता है।

सन्दर्भ व टिप्पणियाँ

1. होल्डिच, टी. एच., 'फ़ीजिकल एस्पेक्ट्स', इंपी. गजै.; ब्रि. इं. I,30.
2. अग्रवाल और सूद, 'इकोलॉजिकल फैक्टर्स ऐंड दि हड़प्पा सिविलाइजेशन', हसि, सं. पोसेल, 1982, 223-29.
3. ऋ. 6.61.7.
4. ऋ. 6.61.2.
5. मा आपः स्फरी पयसा मा न आ धक्। ऋ. 6.61.14.
6. मा त्वत् क्षेत्राणि अरणानि गन्म। ऋ. 6.61.14.
7. जुषस्व नः सख्या वेश्या च। ऋ. 6.61.14.
8. डी. एच. गोर्डन, दि प्री-हिस्टॉरिक बैकग्राउंड ऑफ़ इंडियन कल्चर, 1960, 2-3.
9. शतब्रा. 1.8.1.
10. यः पृथ्वीं व्यथमानां अदृंहत् यः पर्वतान् प्रकुपितान् अरम्णात्।
    यः अन्तरिक्षं विममे वरीयः यः द्यां अस्तभ्नात् स जन आस इन्द्रः। ऋ. 2.12.2.
11. यः हत्वा अहिं अरिणात् सप्त सिन्धून् यः गाः उत् आजत् अपधा वलस्य। यः अश्मनोः अन्तः अग्निं जजान सं-वृक् समत्सु सः जनास इन्द्रः॥ ऋ. 2.12.3.
12. शतब्रा. 1.1.3.4-5.
13. उदाहरण के लिए नदी के तट वृत्र हैं, सोम या गन्ना पत्तियों में लिपटा होने के कारण वृत्र है, दस्युदल वृत्र है, आकाश को घेरने वाला बादल वृत्र है, आदि।
14. कीथ, कुप्पूस्वामी शास्त्री कमे. वा., 67-70.
15. रोमिला थापर, 1978, 255.

16. सोलेस, एज़ ऑफ़ दि अर्थ, 1905, 303-22.
17. वही 315-16.
18. वही, 320.
19. देखें, क्रैमर, 'दिलमुन : क्वेस्ट फ़ॉर पैराडाइज़', ऐंटीक्विटी, 37, 1963, 111-15, तथा 'दि इंड्स वैली सिविलाइजेशन ऐंड दिलमुन, दि सुमेरियन पैराडाइज़ लैंड', एक्सपेडीशन, 6,3,1964, 44-52.
20. देखें, सैयद सुलेमान नदवी, भारत और अरब के सम्बन्ध, 1930, 50-55.
21. ऋ. 1.51.10; 4.26.1; 5.29.9; 8.7.26; 9.87.3; 10.22.6, आदि ।
22. विल डुरांट, पूर्व., 294.
23. देखें रोमिला थापर, ऐंश्येंट इंडियन सोशल हिस्ट्री, 1978, 255.
24. डेल्स, 'सिविलाइज़ेशन ऐंड फ्लड्स इन दि इंड्स वैली', एक्सपेडीशन, 7,4, 1965, 36-43; राइक्स, 1965, 'मोहनजोदड़ो फ्लड्स', ऐंटीक्विटी, 39, 196-203, 'मोहनजोदड़ो फ्लड्स रिकंसिडर्ड', जर्नसोइं, 20,251-60; 'मोहनजोदड़ो इन्वायर्नमेंट', फ्रंइंसि, 455-60.
25. सैबुईसी., 12, 104.
26. कनिंघम, ऐंश्येंट इंडियन ज्याग्रफी, 1924, 40;कोसम्बी, पूर्व. 1946, 37; गोविन्दचन्द्र पाण्डे, स्टडीज़ इन दि ओरिजिन्स ऑफ़ बुद्धिज्म, 1957, 257; बैशम, दि वंडर दैट वाज़ इंडिया, 1967, 41, आदि ।
27. ऊपर ।
28. ऊपर ।
29. शतब्रा. 1.4.1.9.
30. एगलिंग के अनुवाद (सैबुईसी., 12, 104-6) का हिन्दी रूपान्तर ।
31. घृतं इति उदक नाम जिघर्न्तेः सिंचति कर्मणः । नि. 7.24; घृतं उदक नाम, नि. 1.12. घृत शब्द मूल संकल्पना घृ—क्षरण से निकला है । द्रव पदार्थों के लिए प्रयुक्त सभी शब्द मूलतः जलवाची है और इनका प्रयोग वैदिक काल में इस रूप में होता था । पाश्चात्य अनुवादकों ने प्रायः इनका इकहरा अर्थ लिया है ।
32. वैश्वानर शब्द को लेकर प्राचीन आचार्यों में भी खास विवाद रहा है, देखें, नि. 7.21-23. पर प्रमुख रूप से इसे सूर्य माना गया है, "तत् कः वैश्वानरः ? मध्यम इति आचार्याः...अथ असौ आदित्य इति पूर्वे याज्ञिकाः...अथ अपि निवित् सौर्य वैश्वानरी भवति । नि. 7.22-23
33. बृहद्देवता 1.68-69.
गीता 3.14.

34. प्रजानां अतिवृद्धानां युगान्ते समुपस्थिते ।
त्रेता निर्मोक्ष समये द्वापर प्रतिपादने ।। शान्तिपर्व, 139.14.
35. नद्यः संक्षिप्त तोयौघाः कश्चिद् अन्तर्गताभवन् । 139.16
36. सरांशि सरितश्चैव कूपा प्रस्रवणानि च...।139.17.
37. उपशुष्क जलस्थाया विनिवृत्त सभा-प्रपा ।
निवृत्त यज्ञ स्वाध्यायाः निर् वषट्कार मंगला ।। 139.18.
38. उत्सन्न कृषि गोरक्ष्या निवृत्त विपणापणा ।
निवृत्त पूग समया संप्रनष्ट महोत्सवा ।।
अस्थिकंकाल संकीर्णा हाहाभूत जनाकुला ।
शून्य भूयिष्ठ नगरा दग्ध ग्राम निवेशना ।।
क्वचित् चौरैः कचित् शस्त्रैः क्वचित् राजभिः आतुरैः ।
परस्पर भयात् चैव शून्य भूयिष्ठ निर्जना ।।
ऋषयो नियमान् त्यक्त्वा परि त्यक्ताग्निदैवताः ।
आश्रमान् संपरित्यज्य पर्यधावन् इतस्ततः ।। 139. 19-21 व 26.
39. बभ्रमुः क्षुधिता मर्त्याः खादन्तः च परस्परम् ।। 139.25.

परिशिष्ट-2

वैदिक समाज का पुनर्समायोजन

ऋग्वेद के बाद हम भारतीय साहित्य में लम्बे सन्नाटे का दौर देखते हैं। यहाँ हम उस सदमे की छाप देख सकते हैं जो हड़प्पा सभ्यता के पतन के बाद वैदिक समाज को झेलना पड़ता है। इस बीच क्या कुछ घटित होता है, इसकी जानकारी हमें परवर्ती साहित्य में नहीं मिलती, या यदि मिलती है तो कुछ असम्बद्ध उद्गारों के रूप में ही। अपनी जान बचाने और अपने को जैसे-तैसे नयी परिस्थितियों के अनुरूप ढालने के प्रयत्न में पूरा समाज इस तरह व्यस्त और आशंकाग्रस्त है कि उसे अपनी प्राचीन परम्पराओं को भी पूरी तरह सँजोने का अवकाश नहीं मिलता। जिन लोगों द्वारा इन परम्पराओं की रक्षा की जा रही थी उन्हें आश्रय देने वाला वर्ग स्वयं आपदा से ग्रस्त है, अतः इन निराश्रित या दुराश्रित लोगों ने भी उन संस्थाओं के प्रति उदासीनता का-सा रुख़ अपना लिया है। कुछ समय के लिए समाज विश्रृंखल-सा बना रहता है।

परवर्ती साहित्य में यह बात प्रायः दुहरायी जाती है कि एक ऐसा समय आया था जब वेद नष्ट हो गया था, श्रुतियाँ लुप्त हो गयी थीं, योग नष्ट हो गया था और फिर उनका संग्रह किया गया।[1] वेदव्यास को इस बात का श्रेय दिया जाता है कि उन्होंने अपने विभिन्न शिष्यों को वेदों की बिखरी हुई शाखाओं को संकलित करने का कार्यभार सौंपा और इनका सम्पादन किया, जो उनके नाम में भी स्पष्टतः प्रतिबिम्बित है।[2] जब-तब इस बात का उल्लेख पाया जाता है कि भगवान ने मीन अवतार धारण करके लुप्त वेदों का समुद्रतल से उद्धार किया, जहाँ एक राक्षस उन्हें चुरा ले गया था। इस वदन्ती में यदि कोई सार है तो यह मानना होगा कि संकलन के इस प्रयत्न में उन भारतीय मूल के पुरोहितों और पण्डितों का भी सहयोग लिया गया जो हड़प्पा काल में सुदूर समुद्र-पार के देशों में जाकर बस गये थे और अब वहाँ के स्थायी निवासी बन गये थे।

जो भी हो, जब हम वेदों से हटकर ब्राह्मणों पर आते हैं तो इनमें याजिकीय आयोजनों का औचित्य सिद्ध करने के लिए पुरानी कथाओं और वैदिक ऋचाओं को समझने का, यज्ञ-विधानों में बरती जाने वाली विधियों की छानबीन का वही

प्रयत्न पाते हैं जो किसी टूटी हुई कड़ी को जोड़ने वाले लोगों में पाया जाता है। हम कह आये हैं कि ब्राह्मणों के रचनाकारों को लिखित रूप में कुछ पुरानी गाथाएँ और पुराणवृत्त उपलब्ध थे जिनमें से कुछ ऋग्वेद की रचना से पूर्व के रहे हो सकते हैं और कुछ इसके बाद के, जिनके आधार पर वे अपना मत स्थिर कर रहे थे। इन गाथाओं का जब-तब वे उद्धरण भी देते दिखायी देते हैं। वैदिकयुग इन रचनाकारों के लिए एक अतीत गौरव की चीज़ बन गया है। उस खोये हुए गौरव को कैसे प्राप्त किया जाये, इसकी चिन्ता न केवल ब्राह्मणों में दिखायी देती है अपितु बाद की समूची भारतीय परम्परा में भी देखी जा सकती है। आख़िर वैदिक काल की वे कौन सी उपलब्धियाँ थीं जिनके कारण वेद एक ऐसी आप्तता प्राप्त कर लेते हैं जिनके समक्ष अपने प्रत्यक्ष अनुभवों को भी नकारा जा सकता है? वेद सर्वोपरि प्रमाण क्यों हैं? दूसरे सभी प्रमाण इसके बाद क्यों आते हैं? वेद-वाक्य का अर्थ ही 'अकाट्य' क्यों हो जाता है? इसे केवल अतीत का मोह कहकर टाला नहीं जा सकता। आख़िर वैदिक अतीत ही क्यों? अतीत का मोह नहीं, इसे सफलता के एक ऊर्ध्व आदर्श-विन्दु पर समाज की मनोबद्धता ही माना जा सकता है। बहुत लम्बे अरसे तक इस परम्परा के हिमायतियों को लगता रहा कि वैदिक मार्ग से हट जाने और तत्कालीन आदर्शों से च्युत हो जाने के कारण ही समाज को उस अधः-पतन का मुँह देखना पड़ा जिसमें वे अब पड़े हुए थे। 'यदि उन नियमों और आदर्शों को पुनः प्रतिष्ठित किया जा सके तो सम्भव है, उस युग को पुनः प्राप्त किया जा सके। उस गरिमा तक पुनः पहुँचा जा सके।'

कुछ दूर तक यह बात सही भी थी। अपने ही बनाये हुए नियमों का अपनी समृद्धि के कारण उल्लंघन करते हुए, उद्योग और जोखिम का रास्ता छोड़कर विलासिता का मार्ग अपनाने के कारण और अपने ही श्रमिक और शिल्पियों का शोषण करने के कारण वैदिक समाज को अपने अन्तिम दिनों में पराभव का मुँह देखना पड़ा था।। यदि तटस्थ ढंग से विचार किया गया होता और पुनः अध्यव-साय और श्रम को उचित महत्व दिया गया होता तो तुलनात्मक दृष्टि से वैदिक-कालीन ऊर्ध्व-विन्दु पर न सही, एक ऐसी ऊँचाई पर पुनः पहुँचा जा सकता था जिसमें समाज फिर से अपनी काया पलट सकता था। पर निहित स्वार्थ, जो वैदिक काल में ही सामाजिक व्याधि का रूप ले चुके थे, इस काल में पहले की अपेक्षा अधिक प्रबल रूप में प्रकट होते हैं। यह एक रोचक बात है कि अपने पुनरुद्धार की चिन्ता से कातर इस समाज ने वैदिक काल से उसके स्वस्थ पक्षों के स्थान पर इसकी रुग्णताओं को ही चुना और इसलिए स्थिति में सुधार आने की अपेक्षा और गिरावट ही आयी।

जिसे परवर्ती हड़प्पा का दौर कहा जाता है उसका अध्ययन यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद और ब्राह्मणों, कल्पसूत्रों और धर्मशास्त्रों, पुराणों, आदि के

सन्दर्भ में ही किया जा सकता है।[3] सिन्धु और उससे पश्चिम के भाग से वैदिक समाज का पलायन, पुनः ग्राम संस्कृतियों का महत्व, पूर्व और कुछ मामलों में दक्षिण की ओर—कारण, दक्षिण का शेष भाग और पूर्व की ओर भी मध्यप्रदेश का क्षेत्र मुख्यतः पठारी होने के कारण कृषि के उपयुक्त नहीं था—बढ़ता हुआ यह समाज इन क्षेत्रों के अवशिष्ट जंगली इलाकों को जलाकर पुनः खेती के लिए ज़मीन तैयार करता है। ब्राह्मणों में पुरानी गाथाओं के आधार पर भरत दौष्वन्ति अर्थात् दुष्यन्त के पुत्र भरत द्वारा यमुना और गंगा के तटों पर वृत्रघ्न इन्द्र के लिए पचपन घोड़े, सौद्युम्नि या सुद्युम्न के पुत्र द्वारा एक सौ पैंतीस घोड़े बाँधने और इस प्रकार यज्ञ से भरतों के अधिकार-क्षेत्र का विस्तार करने के उल्लेख आते हैं। वहीं पुनः भरत द्वारा सारी धरती जीतने और इन्द्र की सेवा में एक हज़ार से अधिक घोड़े लाने का उल्लेख भी आता है।[4] ऋषभ यातातुर[5], पांचाल राजा सात्रासाह[6], सतनीक सात्राजित[7], आदि द्वारा भी इसी प्रकार के यज्ञ करने और अपना साम्राज्य-विस्तार करने के उल्लेख मिलते हैं। पांचाल राजा सोण सात्रासाह के मामले में तो छः हज़ार घोड़ों और उतने ही कवचधारी सैनिकों के साथ भू-विस्तार का उल्लेख है। ये सारे विस्तार-प्रयास पूर्व की दिशा में हो रहे हैं। यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि इस अभियान से पहले तक उत्तर प्रदेश का क्षेत्र अवैदिकों के प्रभाव में था या इसमें वैदिक जन पहले भी बसे हुए थे? पहले हम इस बात का उल्लेख कर आये हैं कि सारस्वत क्षेत्र में बहुते पहले अकाल पड़ने पर विदेघ माथव ने पूर्व की दिशा में सदानीरा के पार जाकर शरण ली थी और वहाँ खेती आदि का आरम्भ किया था। उस विवरण के अनुसार सदानीरा से पश्चिम का भाग कोसलों के अधिकार में पहले से था और सदानीरा अब इन दोनों राज्यों की सीमा बन गयी। पुरानी गाथाओं पर आधारित ब्राह्मणों के इन विवरणों से भी यही लगता है कि भरत दौष्वन्ति और सोण सात्राजित आदि द्वारा साम्राज्य-विस्तार के समय उनका सामना जिन शक्तियों से हुआ वे भी आर्य ही थे। सतानीक धृतराष्ट्र के अश्वमेध के घोड़े को पकड़ लेता है। वही काशी के राजा का घोड़ा छीन लेता है और शतपथ ब्राह्मण के अनुसार उसके बाद से काशी के राजा यज्ञ का त्याग कर देते हैं। इन विजयों में घोड़ों को जीत कर लाने के उल्लेख भी इस बात के सूचक हैं कि इनका सामना संगठित शक्तियों से हो रहा था।

ऐसा लगता है कि वैदिक प्रभाव को मानने वाले या कृषि-कर्म करने वाले लोग गंगा और यमुना से पूर्व के क्षेत्रों में भी बसे हुए थे, पर इनकी गतिविधियाँ केवल कृषि तक सीमित थीं, अतः यह क्षेत्र ऋग्वैदिक काल में उस महत्व के साथ याद नहीं किया गया है जैसे पश्चिम का क्षेत्र। इस उदासीनता का कारण भी, जैसा कि हम उल्लेख कर आये हैं, यह है कि वैदिक रचनाकारों का संरक्षक वर्ग व्यापारिक गतिविधियों में लगा हुआ प्रमुख वर्ग था और इसलिए उनकी रचनाओं

में मुख्यत: उन्हीं की गतिविधियों में दिलचस्पी ली गयी है। यही कारण है कि ऋग्वेद में भौगोलिक क्षेत्रों या राज्यों का, यहाँ तक कि स्थानों का भी नाम नहीं आता है। नाम आता है केवल नदियों का जो इन व्यापारियों के जलपथ के सन्दर्भ में महत्व रखती हैं और उन दिनों जब स्थल-मार्ग सुगम्य नहीं थे और इनके साथ मार्ग की विषमता, संकीर्णता, मौसमी बाधाओं आदि के अतिरिक्त जंगली जानवरों और लुटेरों का अधिक भय बना रहता था और इसके बावजूद जगह-जगह नदियों के अवरोध के कारण नाव का सहारा लेने की मजबूरी थी, नदी-मार्ग सबसे निरापद और हिमालय से लेकर समुद्रपर्यन्त सुगम्य थे, उनका ऐसा करना स्वाभाविक था। अत: ऋग्वेद में नदियों के उल्लेखों में यदि यह मान भी लें कि सरयू और गोमती, राप्ती (आर्जीका) आदि का उल्लेख नहीं आया है और इनसे साम्य रखने वाले नदी-नाम पश्चिमी भारत की नदियों के ही हैं, तो भी इससे किसी खास तरह की असुविधा नहीं होनी चाहिए। ऐसी स्थिति में इस तथ्य पर ध्यान देना उचित होगा कि हड़प्पा काल का सारा व्यापार पश्चिमी और पश्चिमोत्तर एशिया से ही चल रहा था और इसलिए विशेष उल्लेख उन्हीं नदियों का हुआ है जिनकी इस उपक्रम में विशेष भूमिका थी। पुन: बौद्ध काल से कुछ पहले जब समुद्र-मार्ग से पश्चिम एशिया और दक्षिण पूर्व एशिया से सम्बन्ध जुड़ता है तो बवेरू (बेबीलोन) तथा पूर्वी उत्तर प्रदेश की नदियों के उल्लेख मिलने लगते हैं, पर सिन्धु आदि का जिक्र नहीं आता, यद्यपि इस काल में भी पश्चिमी भारत तक आर्य संस्कृति का विस्तार था।

जब ब्राह्मण और उपनिषद् काल का आर्थिक आधार केवल कृषि तक सिमट कर रह जाता है तब नदियों की अपेक्षा भौगोलिक क्षेत्रों—कुरु, पांचाल, कोशल, काशी, मगध आदि के उल्लेख आने लगते हैं। नदियाँ इस काल में भी हैं और यत्र-तत्र इनके हवाले भी आते हैं, पर उस महत्व के साथ नहीं जैसे क्षेत्रीय नामों के।

जो भी हो, एक ओर इस समाज को अपने प्रभाव-विस्तार की और पुनर्वास की समस्या से जूझते पाते हैं और इस तरह मुख्य रूप से उत्तर प्रदेश और बिहार में जहाँ आबादी अधिक घनी नहीं थी और जिसका बहुत बड़ा हिस्सा अभी जंगलों से घिरा था, जंगलों की सफ़ाई करके इसे कृषि भूमि में परिवर्तित करने का प्रयत्न करते पाते हैं वहाँ दूसरी ओर निहित स्वार्थों के कारण ब्राह्मणों को यज्ञ के द्वारा ही सब कुछ प्राप्त करने और कराने का दावा करते भी पाते हैं। यज्ञ से ही क्षेत्र-विस्तार किया जा सकता है। यज्ञ से ही शत्रुओं का नाश किया जा सकता है। यज्ञ से ही धन और अन्न प्राप्त किया जा सकता है। यज्ञ से भौतिक ही नहीं, स्वर्गीय सुखों को भी प्राप्त किया जा सकता है। इस विश्वास की एक कड़ी, जैसा कि हम देख आये हैं, पूर्व-वैदिक काल से चली आ रही है, पर इस दौर में यह अधिक उग्र रूप ले लेता है।

इस काल में अन्तर यह आता है कि यज्ञ की पेचीदगी बढ़ जाती है। यज्ञ की निष्फलता निराशा का कारण नहीं बनती। उलटे यह कहकर इसका समाधान कर दिया जाता है कि यज्ञ-निष्पादन में कोई त्रुटि रह गयी होगी। अतः इस बात को लेकर खासा विवाद होता है कि यज्ञ की सही विधि क्या है। एक सम्प्रदाय एक मत प्रकट करता है और दूसरा उससे ठीक विपरीत सुझाव देता है। यदि सफलता मिल गयी तो श्रेय यज्ञ को जाता है और प्रयत्न व्यर्थ गया तो यज्ञ-सम्पादन में त्रुटि का दोष है, अतः पुरोधा बदलकर काम चलाया जा सकता है। यज्ञ का कर्मकाण्ड, जो पहले भी कम जटिल नहीं था, अब इतना जटिल हो जाता है कि विद्वान और यज्ञ-निष्पादन में पारंगत पुरोधा दुर्लभ हो जाते हैं। दुर्लभ होने का सीधा अर्थ है कि यज्ञ की विफलता सामने आ रही थी, पर इस विफलता का भी लाभ उठाकर शेष पुरोहितों को निकम्मा और अज्ञानी बताकर अपनी साख जमाने वाले और कम-से-कम एक बार के लिए यजमान को नये सिरे से मूर्ख बनाने का प्रयत्न करने वाले धूर्तों की बन आयी थी। इस धूर्तता का बेजोड़ नमूना उषस्ति चाक्रायण की वह प्रसिद्ध कथा है जिसका जिक्र छान्दोग्य उपनिषद में आया है। इस कथा के कुछ अंशों को यथावत् रखना अप्रासंगिक न होगा।

ओले और पत्थर पड़ने से कुरु देश की खेती चौपट हो जाने पर वहाँ इभ्य ग्राम के भीतर 'आटिकी' (अल्पवयस्का) पत्नी के साथ चक्र का पुत्र उषस्ति दुर्गति की अवस्था में रहता था।

उसने घुने हुए उड़द खाने वाले एक महावत से याचना की। तब उसने कहा, 'इन जूठे उड़दों के सिवा मेरे पास और नहीं है। जो कुछ एकत्र थे वे सब-के-सब ये मैंने (अपने भोजनपात्र में) रख लिये हैं।'

'तू मुझे इन्हें ही दे दे' — ऐसा उषस्ति ने कहा। तब महावत ने उड़द उसे दे दिये और कहा, 'यह अनुपान भी ले लो।' इस पर वह बोला—'इसे लेने से मेरे द्वारा निश्चय ही उच्छिष्ट जल पिया जाएगा।'

'क्या ये उड़द भी उच्छिष्ट नहीं हैं?' उसने कहा—'इन्हें बिना खाए तो मैं जीवित नहीं रह सकता था, जलपान तो मुझे यथेष्ट मात्रा में मिलता है।'

उन्हें खाकर वह बचे हुए उड़दों को अपनी पत्नी के लिए ले आया। वह पहले ही खूब भिक्षा प्राप्त कर चुकी थी। अतः उसने उन्हें लेकर रख दिया।

उसने प्रातःकाल शयन त्याग करने के अनन्तर कहा—'यदि हमें कुछ अन्न मिल जाता तो हम कुछ धन प्राप्त कर लेते, क्योंकि वह राजा यज्ञ करने वाला है, वह समस्त ऋत्विक कर्मों के लिए मेरा वरण कर लेगा।'

उससे उसकी पत्नी ने कहा—'स्वामिन्, (आपके दिये हुए) वे उड़द ही ये मौजूद हैं।' उषस्ति उन्हें खाकर ऋत्विजों द्वारा विस्तारपूर्वक किये जाने वाले उस यज्ञ में गया।

वहाँ आस्ताव के स्थान में स्तुति करते हुए उद्गाताओं के समीप बैठ गया और उसने प्रस्तोता से कहा : 'हे प्रस्तोता ! जो देवता प्रस्ताव भक्ति में अनुगत है यदि तू उसे जाने बिना प्रस्तवन करेगा तो तेरा मस्तक गिर जायेगा।'

इसी प्रकार उसने उद्गाता से भी कहा—'हे उद्गाता ! जो देवता उद्गीथ में अनुगत है यदि तू उसे बिना जाने उद्गान करेगा तो तेरा मस्तक गिर जायेगा।' इसी प्रकार प्रतिहर्ता से भी कहा —'हे प्रतिहर्ता ! जो देवता प्रतिहार में अनुगत है यदि तू उसे जाने बिना प्रतिहरण करेगा तो तेरा मस्तक गिर जायेगा।' तब वे प्रस्तोता आदि अपने-अपने कर्मों से उपरत हो मौन होकर बैठ गये।

तब उससे यजमान ने कहा—'मैं आप पूज्यपाद को जानना चाहता हूँ।' इस पर उसने कहा—'मैं चक्र का पुत्र उषस्ति हूँ।'

'मैंने इन समस्त ऋत्विक कर्मों के लिए श्रीमान् को खोजा था। श्रीमान् के न मिलने पर ही मैंने दूसरे ऋत्विकों का वरण किया था। मेरे समस्त ऋत्विक कर्मों के लिए श्रीमान् ही रहें।' ऐसा सुनकर उषस्ति ने कहा,'अच्छा, मेरे द्वारा प्रसन्नता से आज्ञा दिये हुए ये ही लोग स्तुति करें; और तुम जितना धन इन्हें दो उतना ही मुझे देना।' तब यजमान ने 'ऐसा ही होगा' यह कहा...।[8]

कोसम्बी ने प्राचीन उत्तर भारत में जाति व्यवस्था का अध्ययन करते हुए यह निष्कर्ष निकाला था कि ब्राह्मणों की आर्थिक स्थिति खासी दयनीय थी।[9] उन्होंने जिस काल के साक्ष्यों पर भरोसा करते हुए अपने निष्कर्ष निकाले हैं वे इस काल के ही हैं जिसे हम ब्राह्मण और उत्तर-वैदिक काल या परवर्ती हड़प्पा का काल मान रहे हैं। वैदिक काल के बाद यदि समाज की आर्थिक स्थिति में पहले की अपेक्षा सुधार आया था तो इसका प्रतिबिम्बन इसके उपजीवी बौद्धिक वर्ग की आर्थिक दशा में भी मिलना चाहिए। जहाँ वैदिक काल में छल, धौंस, अनुनय और स्तुति के बल पर हम ब्राह्मणों को बहुत उदारतापूर्वक पुरस्कृत होते देखते हैं वहाँ उत्तर-वैदिक काल में उनकी इस दीनता का क्या कारण था कि वे जैसे-तैसे जीवित रहने के लिए किसी के भी साथ और यहाँ तक की स्वजनों के साथ भी सीधे धोखाधड़ी पर उतर आते हैं और इसके बावजूद कृच्छता से छुटकारा नहीं मिलता ? ज़ाहिर है कि यह आर्थिक सुधार का नहीं, अपितु वैदिक काल की तुलना में आर्थिक गिरावट का दौर था और ऐसे दौर में सबसे तीखी चोट उस उपजीवी वर्ग पर पड़ती है जिसका उत्पादन और आहरण तन्त्र से बहुत दूर का ही सम्बन्ध होता है। सम्भवतः इसी दौर में अनेक ब्राह्मणों को अपने वर्ण-धर्म का त्याग करके दूसरे पेशे भी अपनाने पड़ते हैं जिसका एक उदाहरण द्रोणाचार्य और परशुराम आदि के पौराणिक वृत्तों में देखा जा सकता है और जिसकी कुछ छाया आगे मनु आदि के विधानों में देखी जा सकती है जिसमें कठिन आर्थिक अभाव का सामना होने की स्थिति में ब्राह्मणों के लिए क्षत्रिय और वैश्य आदि के वर्ण-धर्मों

का आश्रय लेने की अनुमति दी गयी है।[10] जहाँ वे अपने वर्ण-धर्म से जुड़े रहते हैं वहाँ या तो अपनी लाचारी में यज्ञ आदि के कर्मकाण्डीय पक्ष को एक पाखण्ड में बदल देते हैं और इसके साथ ही क्षत्रियों के साथ चोली-दामन का सम्बन्ध कायम करते हुए अपनी स्थिति सुधारने का प्रयत्न करते हैं और इस तरह शोषण और उत्पीड़न का नैतिक समर्थन करते हैं।

अतः इस दौर में इस समाज में अनेक ऐसी नयी बुराइयाँ पैदा होती हैं जिनका अस्तित्व ऋग्वैदिक काल में नहीं था। उदाहरण के लिए, शौच और आरोग्य का समुचित ध्यान रखने के बावजूद वैदिक समाज ने इसे उस पराकाष्ठा पर नहीं पहुँचाया था जिसकी झलक परवर्ती काल में आने वाली अस्पृश्यता में दिखायी देती है। इस बात की पूरी सम्भावना है कि वर्णव्यवस्था ऋग्वैदिक काल से पहले ही कायम हो चुकी थी, पर अस्पृश्यता जैसी चीज का अस्तित्व नहीं था। चमड़े को उस काल में अपवित्र नहीं समझा जाता था। गाय के चमड़े पर सवन फलक रख कर सोम निकालना और उसका पान करना, चमड़े के पात्रों में सोम और सुरा रखना और यहाँ तक कि दही रखना भी ब्राह्मण काल तक चलन में था। अन्य वस्त्रों के साथ चर्म-वस्त्र(कृत्तिवास), जो आगे चलकर केवल सन्यासियों के मामले में मृगचर्म और बाघम्बर तक सीमित रह गया, भी प्रचलित रहा लगता है। पर काल-क्रम से चमड़ा अपवित्र माना जाने लगता है और चमड़े के पात्र में रखा तो दूर, चमड़े का स्पर्श करने वाले का भी स्पर्श-वर्जित हो जाता है। इसी तरह अनेक पेशों से जुड़े लोग क्रमशः अस्पृश्यों में बदलते जाते हैं।

अस्पृश्यता की यह व्याधि कैसे आरम्भ हुई, यह स्वयं में एक रोचक अध्ययन का विषय है जिस पर अधिकारी विद्वानों ने विचार भी किया है। पर ऐसा लगता है कि आरम्भ में इसका कारण क़बीलाई सुरक्षा की प्रवृत्ति थी जिसने क्रमशः बढ़ते हुए उन समस्त सम्भावनाओं को दूर करने का रूप ले लिया जिनमें किसी प्रकार की व्याधि और संक्रमण आदि फैल सकते थे और अन्ततः स्वच्छता और शुद्धता के नाम पर इसने जातिगत घृणा और ऐसे लोगों की छाया से भी दूर रहने की कुत्सा को जन्म देते हुए एक स्थाई रूप ले लिया जो भारतीय समाज में आज तक जीवित है। दूसरे शब्दों में कहें तो, अस्पृश्यता का मूल वन्य क़बीलाई जीवन में भी मौजूद था।[11] अपने क़बीले को छोड़कर शेष सभी क़बीले अविश्वास के पात्र थे। इनमें से कुछ क़बीलों का परस्पर सनातन वैर-सा चलता रहता था। ऐसे किसी क़बीले के किसी भी व्यक्ति का विश्वास किसी भी दशा में नहीं किया जा सकता था और इसलिए यदि वह ऐसा कोई भी खाद्य या पेय दे जिसमें मिलावट की सम्भावना हो तो उसे खाना या पीना अपनी जान जोखिम में डालने जैसा था। कारण, प्रेम-भाव दिखाते हुए वह इसमें ज़हर मिला सकता था। मिलावट की यह सम्भावना पके भोजन और पेय जल आदि में ही हो सकती थी, अतः ऐसे क़बीलों

के सदस्यों का यदि पके भोजन और जल आदि में हाथ भी लग जाये तो उसे खाना वर्जित था। यह एक टैबू या अन्धनिषेध का रूप ले चुका था। पर फल, साक और कन्द आदि में यह मिलावट सम्भव नहीं थी। दूध ऐसी मिलावट से विकृत हो सकता है, किन्तु इसमें मिलावट की पहचान आसान थी। अतः इसे लेना वर्जित नहीं था। हड़प्पा काल में या वैदिक सभ्यता के दौर में देश-देशान्तर की व्यापारिक यात्राओं ने इस बन्धन को किंचित् शिथिल ही बनाया था; बढ़ाया तो कदापि नहीं था। पर इसके पतन के बाद अपनी रक्षा के बिषय में चिन्तित और किंचित् भयभीत यह समाज उन क्षेत्रों पर क़ब्जा जमाने वाले आततायियों के प्रति उसी पुराने क़बीलाई प्रतिरोध को प्रकट करता है और फिर इसका विस्तार उन समस्त क्षेत्रों के प्रति हो जाता है जो वैदिक प्रभाव से बाहर हैं। वे हमसे भिन्न हैं, हमारे शत्रु हैं, हमारा अहित कर सकते हैं, इसलिए उनके साथ किसी प्रकार का सम्पर्क और विशेषतः खानपान निरापद नहीं है और यदि कोई व्यक्ति उनके सम्पर्क में आये तो वह भी उन्हीं की तरह अविश्वनीय हो जायेगा। यह भी बढ़कर शुद्धि और अशुद्धि की चेतना का रूप ले लेता है और इस कठोर नियम के कारण इस बात की सम्भावना भी पैदा हो जाती है कि स्वयं अपने समाज में, अपने ही भौगोलिक क्षेत्र में बसने वालों के प्रति भी अस्पृश्यता का वही व्यवहार किया जा सके जो इन इतर क्षेत्रों के व्यक्तियों के साथ किया जाता है।

इसका एक दूसरा कारण यह भी था कि हड़प्पा सभ्यता के पतन के साथ प्रशासन-तन्त्र शिथिल होने के कारण अपराधियों को दण्ड देने के अवसर कम हो गये और अपराधों को रोकने का एकमात्र कारगर उपाय रह गया था नियमों का उल्लंघन करने वाले को सामाजिक रूप में दण्डित करना। इसका सरल उपाय तो यह निकाला गया कि अपराध के अनुरूप यदि वह व्यक्ति हर्जाना देकर पंचों-पुरोहितों को खुश कर लेता है, जिसका आभास विशेष प्रकार के यज्ञ करके कतिपय महान पापों से मुक्त होने के विधानों में पाया जा सकता है, तो उसे अपने अपराध से मुक्त समझा जायेगा, अन्यथा नियम उल्लंघन करने वाले को तब तक के लिए जाति से बहिष्कृत कर देना जब तक वह प्रायश्चित के अपमानजनक और साथ ही पीड़ादायक दौर से गुजर कर अपने को शुद्ध नहीं कर लेता, या अक्षम्य अपराधों के मामले में उसे सदा-सदा के लिए समस्त सामाजिक सम्पर्क से काट कर अलग कर देना और उसके साथ विवाह-सम्बन्ध से लेकर खान-पान आदि सभी का परहेज करना एक आम व्यवस्था बन जाती है। अपराध का मार्जन होने तक हुक्का-पानी बन्द करने या टाट से बाहर करने—जाति-बहिष्कृत करने का यह नुस्खा अनेक तथाकथित छोटी जातियों में आज तक प्रचलित है। अतः अस्पृश्यता को केवल ब्राह्मणों की हेकड़ी की देन मानना एकांगी है। जिन जातियों को अस्पृश्य माना जाता है उनकी अपनी बिरादरी पंचायतों में भी टाट से या पंक्ति से बाहर

करने और इसके लिए सामाजिक दण्ड वसूल करने के बाद उन्हें मुक्त करने का चलन इस दृष्टि से काफ़ी रोचक है। अतः स्मृतियों आदि में जब इस बात के उल्लेख आते हैं कि समाज-स्वीकृत वैवाहिक नियमों आदि का उल्लंघन करके वर्जित जातियों से उत्पन्न संतानों ने अनेक अस्पृश्य जातियों का रूप लिया तो इसमें सचाई का एक अंश अवश्य है। यहाँ कमी यदि है तो यह कि इसमें अन्य अपराधों के कारण अस्पृश्य बनने वालों का कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता जो भी इस सचाई का ही एक पहलू है। पूरी सचाई यह है कि इन अनेक कारणों से जाति-बहिष्कृत होने वालों को उन समस्त साधनों और सुविधाओं से वंचित कर दिये जाने के कारण, जो कि उन्हें अपनी बिरादरी की सदस्यता के कारण जन्म-जात रूप से उपलब्ध थीं, और साथ ही प्रायः पैतृक दाय से भी वंचित कर दिये जाने के कारण इनकी सामाजिक स्थिति के साथ-ही-साथ आर्थिक स्थिति भी बिगड़ती जाती है और इनके लिए कतिपय ऐसे ही पेशे बचे रहते हैं जिनको ओछा और दण्डात्मक समझा जाता है, जिनमें श्रम के अनुरूप पारिश्रमिक नहीं मिलता और जिन्हें सामान्यतः वर्ज्य माना जाता है। इस तरह यह सामाजिक-आर्थिक विकृति का रूप ले लेती है और इसे वंश-परम्परा से जोड़ देने के कारण यह एक ऐसा स्थायित्व प्राप्त कर लेती है कि इसे उखाड़ फेंकने के अब तक के अनेकानेक प्रयत्न व्यर्थ होते गये हैं।

सुरक्षा की भावना ने ही अस्थायी अस्पृश्यता को जन्म दिया। कोई ऐसी स्थिति जिसमें संक्रमण की सम्भावना हो उसमें संसर्ग को तब तक के लिए स्थगित रखना। मृत्यु के बाद—जाने मरने वाले को कौन-सी बीमारी रही हो!—शव के साथ जाने वाला प्रत्येक व्यक्ति तब तक दूसरों के लिए अस्पृश्य रहता है जब तक वह स्नानादि से अपने को शुद्ध नहीं कर लेता। अन्त्येष्टि करने वाला व्यक्ति लगभग दस दिनों तक पूरी तरह और एक वर्ष तक आंशिक रूप से अस्पृश्य बना रहता है। श्मशान से सम्बन्धित कर्मी अस्पृश्य हैं। दस दिन की अवधि तक मृत व्यक्ति के पूरे परिवार का बाहर जाना, सामाजिक खान-पान में शरीक होना या उस परिवार में किसी अन्य का जल अन्नग्रहण वर्जित रहता है। प्रसूता स्त्री गृह में अस्पृश्य की सी स्थिति में रहती है और इसके अतिरिक्त ऋतुकाल में प्रत्येक स्त्री अस्पृश्य बनी रहती है। चेचक आदि बीमारियों के दौरान परिवार अस्पृश्य बना रहता है। धोबी जो रुग्ण-स्वस्थ सभी के कपड़े धोता है, अस्पृश्य मान लिया जाता है। इस तरह अस्पृश्यता एक सुरक्षात्मक, आरोग्यपरक और दण्डपरक संस्था के रूप में उदित होकर भारत में जाति का रूप लेकर स्थायी बनती है। ब्राह्मण काल तक शूद्र शब्द अस्पृश्यता का बोधक नहीं था। शूद्र वर्ण-व्यवस्था में सबसे निम्न वर्ण के रूप में ही सही, एक स्थान रखते थे। अन्त्यज या अस्पृश्य शब्द वर्ण-व्यवस्था से बाहर के या इससे निष्कासितों के लिए प्रयोग में आता रहा, अतः यह बाद में पैदा

हुए किसी भ्रम की देन प्रतीत होता है जिसमें समस्त श्रमजीवी वर्ग को उनकी आर्थिक अवस्था के कारण हीन और अस्पृश्य माना जाने लगा। अस्पृश्यता की समस्या का अध्ययन करते हुए अस्थायी, स्थायी, आनुवंशिक, आंशिक (जल और पक्वान्न ग्रहण करना, पर सादा भोजन नहीं) अस्पृश्यताओं का और इनकी व्याप्ति का ध्यान रखते हुए ही इसकी जड़ों को समझा जा सकता है और शिक्षा, आर्थिक दशा में परिवर्तन, आरोग्य और चिकित्सा, गन्दे कामों के लिए आज की स्थिति में यन्त्रों के उपयोग और सामाजिक सौमनस्य आदि के विविध उपायों को एक साथ लागू करके ही इसे दूर किया जा सकता है। केवल नारा या इनमें से केवल एक पक्ष में प्रयत्न कारगर नहीं हो सकता।

पुरोहित वर्ग द्वारा प्रचारित और उनके द्वारा अपनी रोजी की चिन्ता से बड़े यत्नपूर्वक सुरक्षित साहित्य से उभरने वाला चित्र ही वैदिक काल का और स्वयं वैदिक समाज का समग्र चित्र नहीं है। न तो पूरा समाज केवल पुरोहितों का समाज था और न ही इसका चिन्तन और अध्ययन केवल वेदाध्ययन तक सीमित रह सकता था। इसी तरह शहरी केन्द्रों के नष्ट होने से समूचे समाज का पतन नहीं हो जाता और न ही सभी केवल यज्ञ और तन्त्र के भरोसे अपने आर्थिक उद्यमों और अध्यवसायों को छोड़ सकते थे। भाववादी चिन्तन में भी सारा चिन्तन केवल यज्ञ आदि तक सीमित नहीं रह सकता था। वैदिक काल में भी यज्ञ के समर्थकों और इन्द्र के उपासकों के समानान्तर ही ऐसे बौद्धिकों का अस्तित्व था जो यज्ञ आदि की सार्थकता पर सन्देह करते थे।[12] उत्तरवैदिक काल में भी ऐसे विचारक इसी समाज के भीतर दिखायी देते हैं जो वैदिक रूढ़ियों और वर्जनाओं को अधिक कठोरता से लागू करने की अपेक्षा उन कारणों पर पुनर्विचार करते हैं जिनसे इस समाज का आर्थिक आधार और भौतिक जीवन प्रभावित हुआ था।

यह विश्व कैसे अस्तित्व में आया? जीवन की सार्थकता क्या है? मरने के बाद हमारी क्या गति होती है? इस तरह के प्रश्नों पर मनुष्य अपने बौद्धिक स्तर के अनुसार बहुत पहले से सोचता आ रहा था, परन्तु यह चिन्ता उत्तर-वैदिक काल में अधिक प्रखर हो जाती है। कुछ चिन्तक अधिक अन्तर्मुखी होकर इन समस्याओं पर गहरी छान-बीन आरम्भ करते हैं और पुरोधा वर्ग भी इसमें पीछे नहीं रहता। पर यह कहना कुछ अतिरंजनापूर्ण है कि वैदिक समाज केवल भौतिकवादी, बहिर्मुख और गतिशील था जबकि औपनिषद काल तक आते-आते पूरा समाज अन्तर्मुखी, अध्यात्मवादी और निराशावादी हो जाता है।[13] इसमें कुछ सचाई है अवश्य, पर पूरा सच यही नहीं है। यदि हम इन दोनों कालों के जीवन, आर्थिक उपक्रमों, सामाजिक संस्थाओं आदि को सामने रखकर देखने का प्रयत्न करें तो इसका कारण समझ में आ जायेगा। उत्तर-वैदिक समाज एक पराजित समाज है। यह डरा हुआ और आत्मरक्षा की चिन्ता से कातर समाज है। इसकी सारी गतिविधियाँ अपने भौगोलिक दायरे में सिमट गयी हैं, व्यापार

आदि के क्रम में बाहरी जगत से जो सम्पर्क बना हुआ था वह कुछ समय के लिए कट चुका है और इसी के अनुरूप उसकी निराशा, अन्तर्मुखता, रूढ़िवादिता, सामाजिक विधि-निषेध आदि हैं।

एक ओर तो यह समाज वैदिककालीन भौतिक परिस्थितियों से भिन्न परिस्थितियों में रुग्ण वैदिक मूल्यों की बछिया की पूँछ पकड़कर अपनी समस्याओं की वैतरणी को पार करने का प्रयत्न करता और पुन: वैदिककालीन वैभव को प्राप्त करने के स्वप्न देखता है; दूसरी ओर, सफलता के शिखरों पर पहुँचने वाले उन पूर्वजों की सन्तान होने का दम्भ लेकर दूसरों से अपने को श्रेष्ठ समझता है और तीसरी ओर समकालीन दबावों में अपने को अनिच्छापूर्वक नये सिरे से समायोजित करते हुए यत्किंचित् फेर-बदल करता है, जिनमें कुछ को प्रगतिशील और शेष को प्रतिगामी माना जा सकता है। वैदिक काल में शतायु होने और अमर होने की आकांक्षा से भरा मनुष्य क्रमश: जीवन की नि:सारता और जगत की दुखशीलता का अहसास करने लगता है और इस दुख-जाल से मुक्ति के भाववादी हल ढूँढ़ने लगता है। वैदिक भोगवादी, प्रतिकारवादी, अग्रधर्षी और संग्रहकामी व्यक्ति इस नये दौर में संयम, संतोष, अपरिग्रह, क्षमा, दया और यहाँ तक कि अक्रियता के मूल्य विकसित करने लगता है।

और दूसरी ओर, ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में नये सिरे से काम आरम्भ होता है। वैदिक साहित्य का अर्थ निर्धारण करने का प्रयत्न उस गहरी भाषा-वैज्ञानिक छानबीन को जन्म देता है जिसकी परिणति आपिशलि, काश्यप, गार्ग्य, गालव, चाक्रवर्मण, भारद्वाज, शाकटायन, शाकल्य, सेनक, स्फोटायन, यास्क और पाणिनि आदि की रचनाएँ थीं जिनमें से अन्तिम दो को छोड़कर शेष काल-कवलित हो गयीं। ज्योतिष का जो आरम्भ फ़सलों के लिए उपयुक्त ऋतुकाल का निश्चय करने और प्राथमिक विकास व्यापारिक यात्राओं के लिए मौसमी हवाओं का पूर्वानुमान करने और नौचालन आदि के सन्दर्भ में हुआ था, यज्ञों की जटिलता के कारण इनके लिए उपयुक्त लग्नों का निश्चय करने के क्रम में आगे बढ़ा और ईसा के बाद की शताब्दियों तक यह विकास जारी रहा है। चिकित्सा के क्षेत्र में पुरोहिती दृष्टिकोण स्वस्थ नहीं था, फिर भी इसका स्वतंत्र विकास जारी रहा और इसकी परिणति चरक और सुश्रुत की कृतियाँ हैं जिन्हें अपने समय को देखते हुए महान उपलब्धियाँ कहा जा सकता है। इसी तरह गणित का विकास द्रव्य और मात्रा की गणना और मापन से आगे बढ़कर ज्योतिष के साहचर्य में अन्य देशों के लिए अनुकरणीय स्तर तक पहुँचा। सृष्टि के उद्भव और विकास की प्राथमिक जिज्ञासाओं ने सांख्य और वैशेषिक को जन्म दिया।

हड़प्पा और वैदिक सभ्यताओं को परस्पर असम्बद्ध मान कर चलने के कारण और हड़प्पा सभ्यता के बाद अक्षय सामग्री पर अभिलेखों के अभाव को ध्यान में

रखते हुए अधिकांश विद्वानों को ब्राह्मी का उद्भव एक पहेली प्रतीत होता रहा है। कुछ के विचार से लेखन की आवश्यकता जिन व्यापारिक कारणों से पड़ती थी उनमें व्यवधान पड़ने के कारण लेखन भी लुप्त हो गया। पर जब हम इन दोनों सभ्यताओं की अभिन्नता को देखते हैं तो ये दोनों मान्यताएँ कुछ इकहरी प्रतीत होती हैं। हड़प्पा काल में भी मुख्य लेखन-सामग्री क्षयिष्णु ही थी, यह बात अनेक विद्वानों ने स्वीकार की है और एक मामले में तो स्याही के प्रयोग की पुष्टि भी पुरातात्विक साक्ष्यों से हड़प्पा काल में भी होती है। ऐसी स्थिति में हड़प्पा की मुहरों आदि का जो भी व्यापारिक महत्व रहा हो, इनका प्रचलन व्यापारिक गति-रोध के साथ ही समाप्त हो जाता है। यदि शेष रह जाती हैं तो कुछ रस्मी आवृत्तियाँ जो भी अनगढ़ हाथों की और रामनामी टुपट्टे की तरह प्रयोजनहीन प्रतीत होती हैं और इनसे यह विश्वास नहीं पैदा होता कि ये किसी भी प्रकार का संचार मूल्य रखती है।

हड़प्पा लिपि आज तक अपाठ्य बनी हुई है, पर अपनी समकालीन लिपियों की तुलना में इसे उतना ही विकसित पाया जा सकता है जितनी विकसित ब्राह्मी लिपि अपनी समकालीन लिपियों में है और इन दोनों को काटकर नहीं देखा जा सकता। वस्तुतः साहित्यिक प्रयोजनों से अति प्राचीन काल से क्षयिष्णु सामग्री का प्रयोग होता आया था और ज्ञान-विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में एक विशाल साहित्य का निर्माण स्वयं वैदिक काल में हुआ लगता है। ऋग्वेद में आये काव्यात्मक अंश स्वल्प हैं, पर उनका स्तर ऐसा है जो एक स्वस्थ और व्यापक साहित्यिक परम्परा का अंग प्रतीत होता है। इसी तरह पाणिनि ने अपने जिन पूर्ववर्ती वैयाकरणों का जिक्र किया है उनकी व्याकरणिक कृतियाँ अलिखित रूप में नहीं रहीं हो सकतीं। उनके अपने-अपने मत का उल्लेख खास तौर से महत्व रखता है। ठीक यही बात राजशास्त्र के प्राचीन अधिकारी विद्वानों पर भी लागू होती है जिनका नामोल्लेख और जिनकी मान्यताओं की चर्चा चाणक्य ने की है। ब्राह्मणों और स्मृतियों में प्राचीन गाथाओं के उद्धरण आते हैं। यदि मात्र वेदों को कण्ठस्थ करने का प्रश्न होता तो यह बात कुछ सार्थकता भी रखती कि इन्हें कण्ठस्थ कर लिया जाता रहा होगा, पर जहाँ साहित्य के विपुल भण्डार का प्रश्न है, क्या-क्या कण्ठस्थ किया जा सकता है? ये सभी रचनाएँ लिखित रूप में अस्तित्व में थीं। यही बात वेदों के लुप्त होने के उल्लेख से भी सिद्ध होती है। किसी आकस्मिक आपदा में अभिलेखबद्ध सामग्री ही नष्ट हो सकती है, कण्ठस्थ सामग्री ऐसी स्थितियों में अपेक्षाकृत अधिक टिकाऊ होती है। इसका यह आशय कदापि नहीं कि प्राचीन काल में कृतियों को कण्ठस्थ करने का चलन नही था। कहें, भौतिक साधनों की सीमाओं को ध्यान में रखते हुए इसके अतिरिक्त कोई उपाय व्यापक शिक्षा के लिए हो भी नहीं सकता था और मुमकिन है, किन्हीं कृतियों की पाण्डुलियाँ नष्ट हो जाने की दशा में

विभिन्न व्यक्तियों के यथाकण्ठस्थ पाठ को लिपिबद्ध करके ही इसका पुनरुद्धार सम्भव हो पाता रहा हो, जैसाकि ऋग्वेद के बारे में परवर्ती कालों के हवालों से प्रतीत होता है। हमारा आशय केवल इतना ही है कि इस अन्तर्वर्ती दौर में भी न तो लेखन लुप्त हुआ, न ही इसका विकास अवरुद्ध हुआ और अशोक के अभिलेखों में पहली बार हम शिलालिखित रूप में जिस ब्राह्मी को देखते हैं वह इस अन्तरिम काल के दौरान हुए विकासों को ही प्रस्तुत करती है। न केवल यह, बल्कि यह सुझाव भी रखा जा सकता है कि उस काल में भी लेखन-सामग्री के अनुरूप इसके कुछ स्थानीय भेद रहे हो सकते हैं।

प्रकारान्तर से कहें तो नगर सभ्यता के नष्ट हो जाने के बाद विकास की गति अवरुद्ध कभी नहीं हुई। पर वैदिक काल में भारतीय समाज अपने समकालीन जगत की तुलना में भौतिक विकास के जिस ऊर्ध्व-विन्दु पर पहुँचा था उसे वह फिर कभी हासिल नहीं कर सका और इस लिए वैदिक काल एक टूटे हुए सुहावने सपने की तरह भारतीय मानस पर और विशेषतः पुरोधाओं के मस्तिष्क पर निरन्तर छाया रहा। वे बार-बार वेदों को अकाट्य प्रमाण के रूप में उद्धृत करते रहे और वैदिक मनीषियों और चिन्तकों के परम ज्ञान का राग अलापते रहे, जैसे कोई बूढ़ा हतदर्प व्यक्ति जवानी और पुरुषार्थ के दिनों की याद करे।

जब कोई व्यक्ति या समाज अतीत की बात अधिक गौरव से करता है तो इसका सीधा मतलब है कि यह चुका, हारा और पिटा हुआ व्यक्ति या समाज है जो विकास की दौड़ में कभी भले आगे रहा हो, पर अब पिछड़ गया है। अतीत-ग्रस्तता वर्तमान की दुर्दशा का अकाट्य प्रमाण तो है ही, यह वर्तमान दुर्गति से उद्धार के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा भी है। बढ़ते हुए समाज को मुड़ कर देखने की फुरसत नहीं होती और अतीत की उपलब्धियों को वह एक नम्र ऋण के रूप में स्वीकार तो करता है, पर उनकी चमक को वह इतना फीका कर चुका होता है कि उस पर गर्व करने का उसे कोई कारण नहीं दिखाई देता। अतः हम पाते हैं कि न केवल भारत अपितु विश्व की वे सभी प्राचीन सभ्यताएँ जो पुनः अपने अतीत गौरव-शिखर पर नहीं पहुँच पायीं, यद्यपि बाद के कालों में उनका विकास सदा के लिए कुण्ठित ही हो गया हो ऐसी बात भी नहीं, वे अपनी अतीत-ग्रस्तता के कारण उससे अधिक पिछड़ती गयी हैं, जितना अन्यथा उन्हें पिछड़ना चाहिए था और आज भी उनके गतिरोध का एक प्रधान कारण यही है। अपने को जगत्-गुरु मानने वालों को यह सबक सीखना चाहिए था कि जिन्हें उन्होंने सिखाया वे आगे बढ़ते गये और इसीलिए विकास के मामले में गुरुडम से भी अधिक महत्व शिष्यत्व का है, अपने गुरु होने पर गर्व करना हास्यास्पद है और अपने भीतर शिष्यत्व का अभाव, दूसरों से जो कुछ भी सीखा और जाना जा सकता है उसे सीखने-जानने की रुचि और लगन का अभाव, जिज्ञासा और कुतूहल का अभाव,

कालीबंगा—पूर्व-हड़प्पाकालीन आवास-योजना

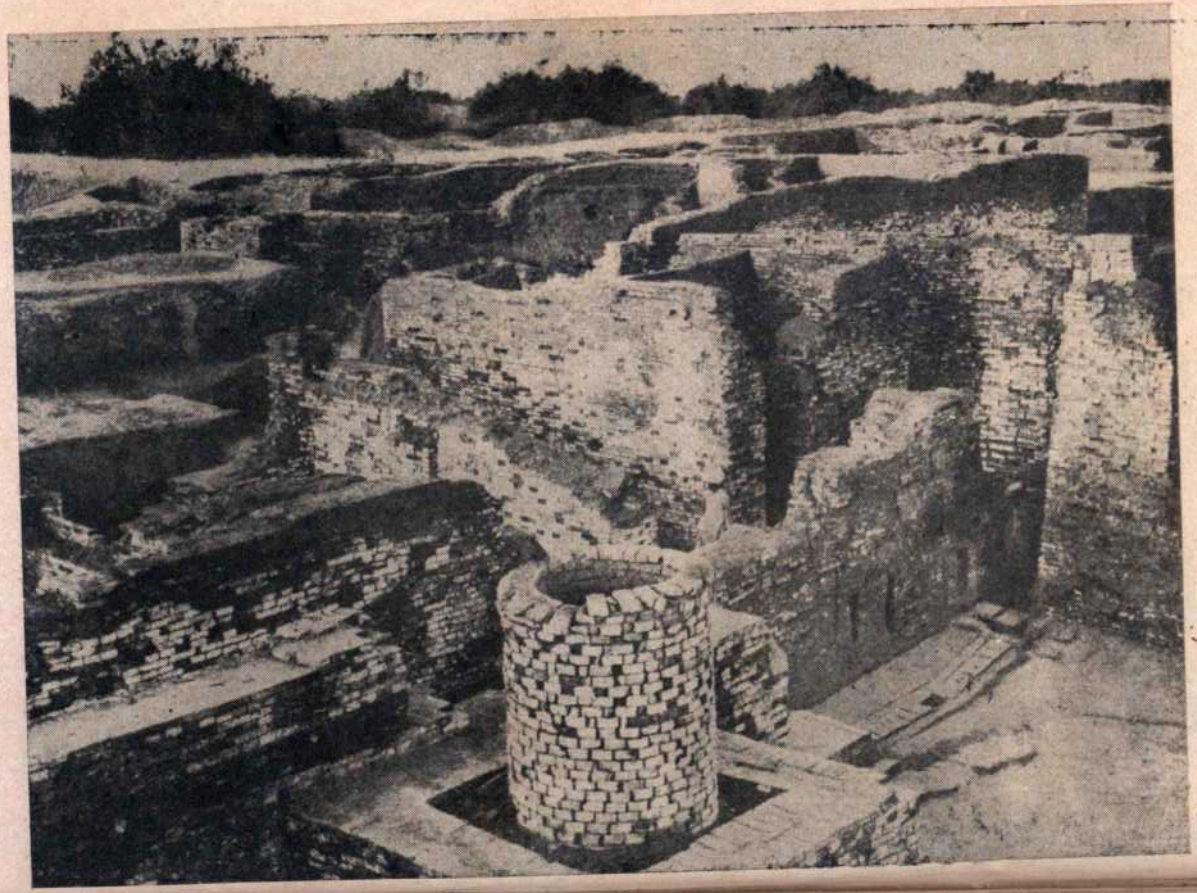

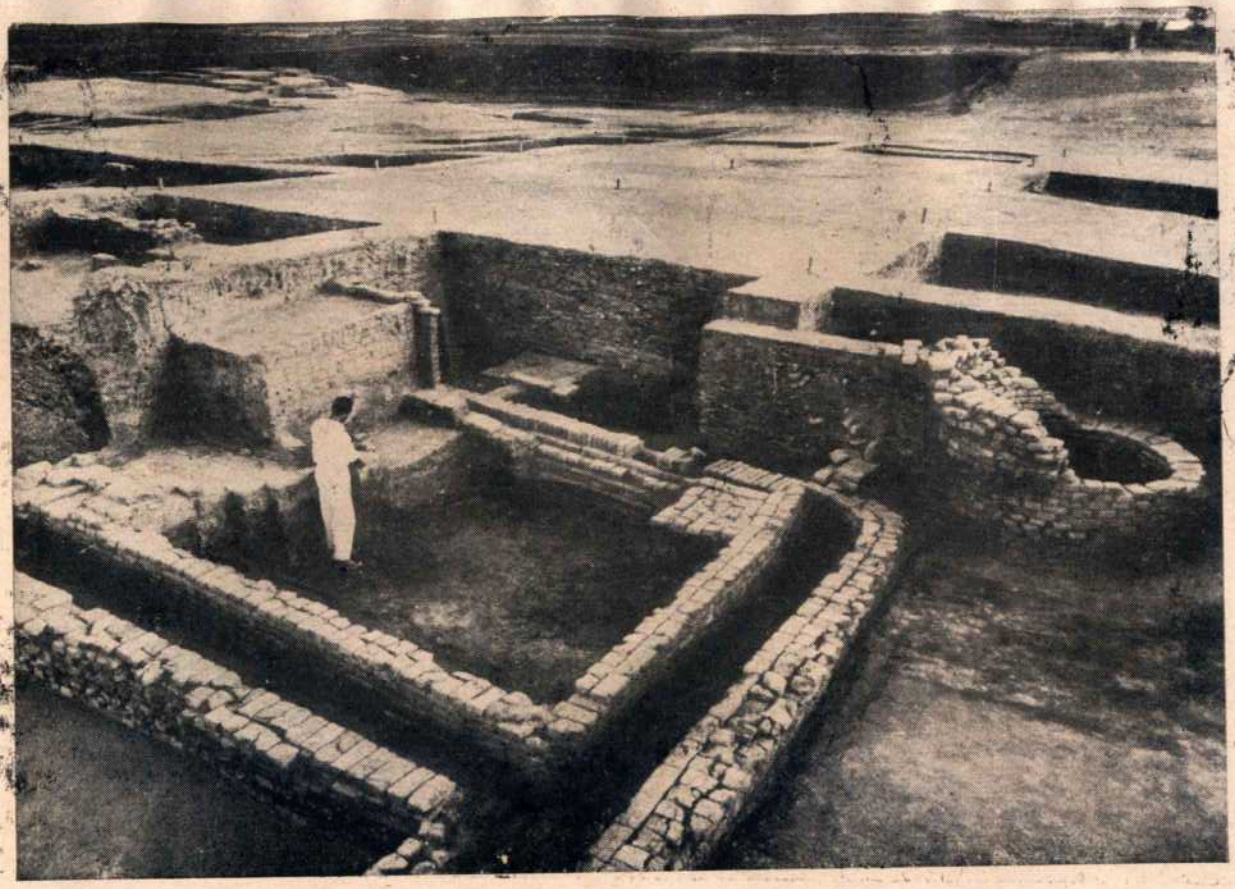

लोथल—जल-निकास प्रणाली

मोहन जोदड़ो से प्राप्त मृद्भाण्ड

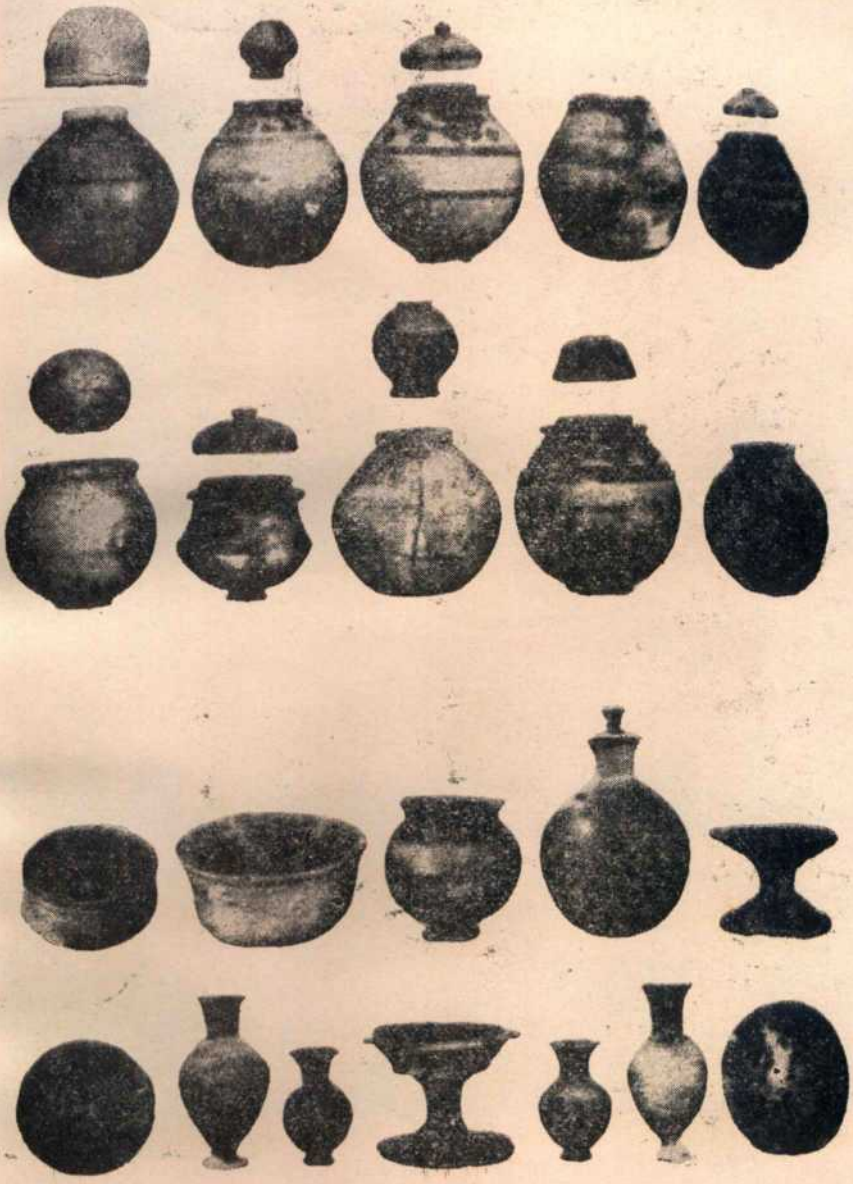

हड़प्पा से प्राप्त विविध प्रकार के भाण्ड

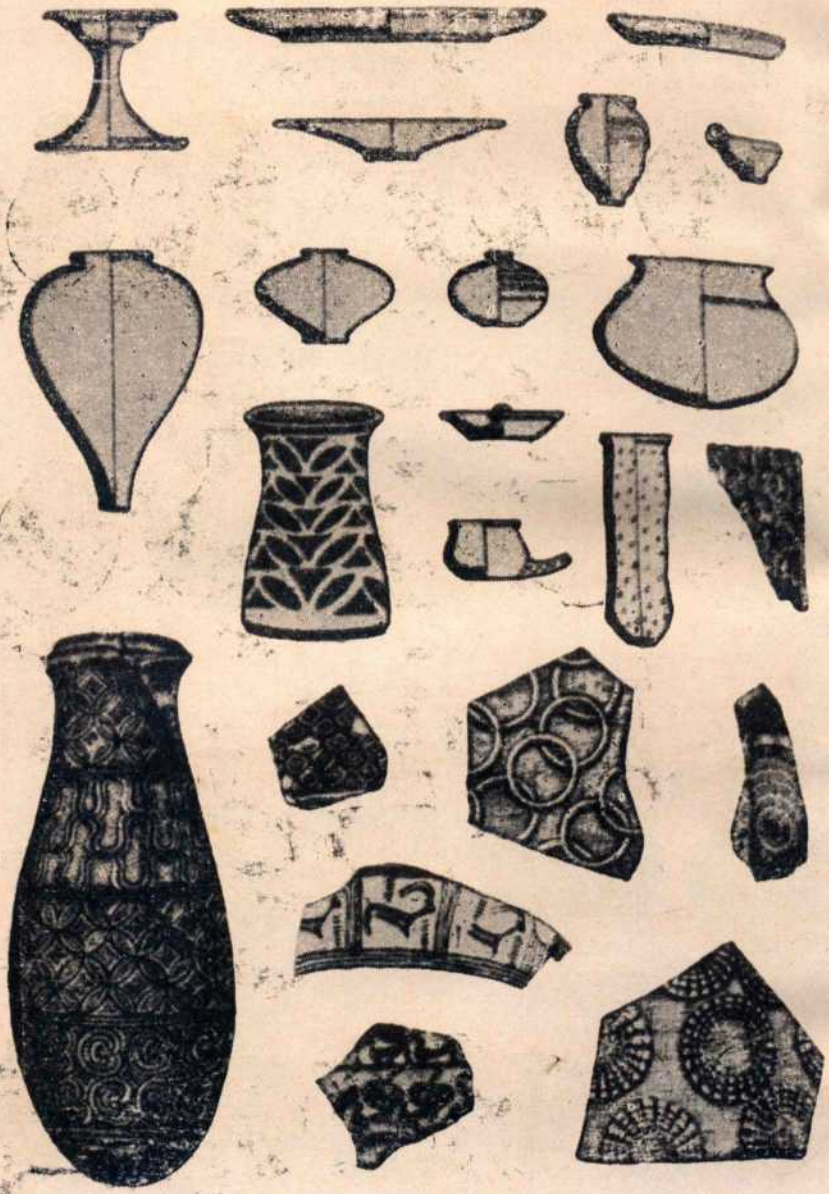

मृद्भाण्डों पर अंकित आशय

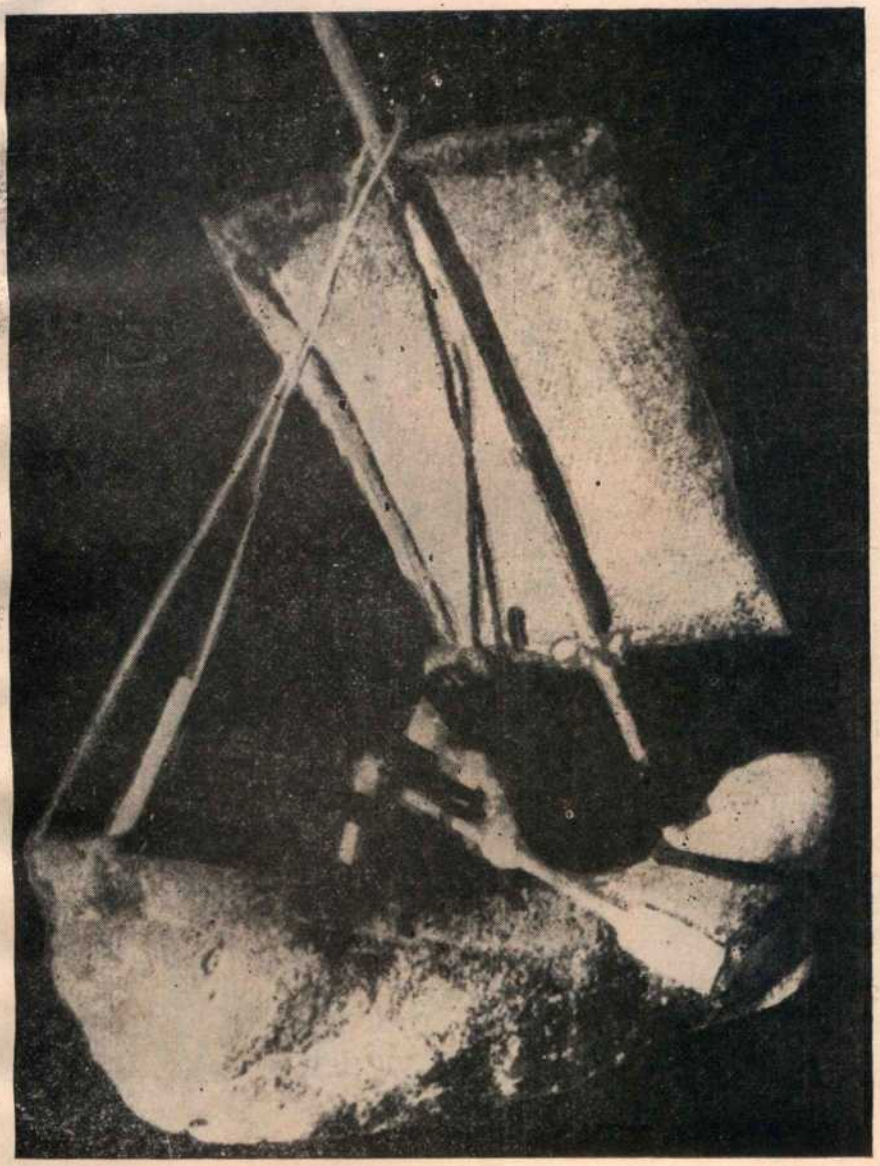

मिट्टी की बनी नाव

मोहनजोदड़ो से प्राप्त मुद्राएँ

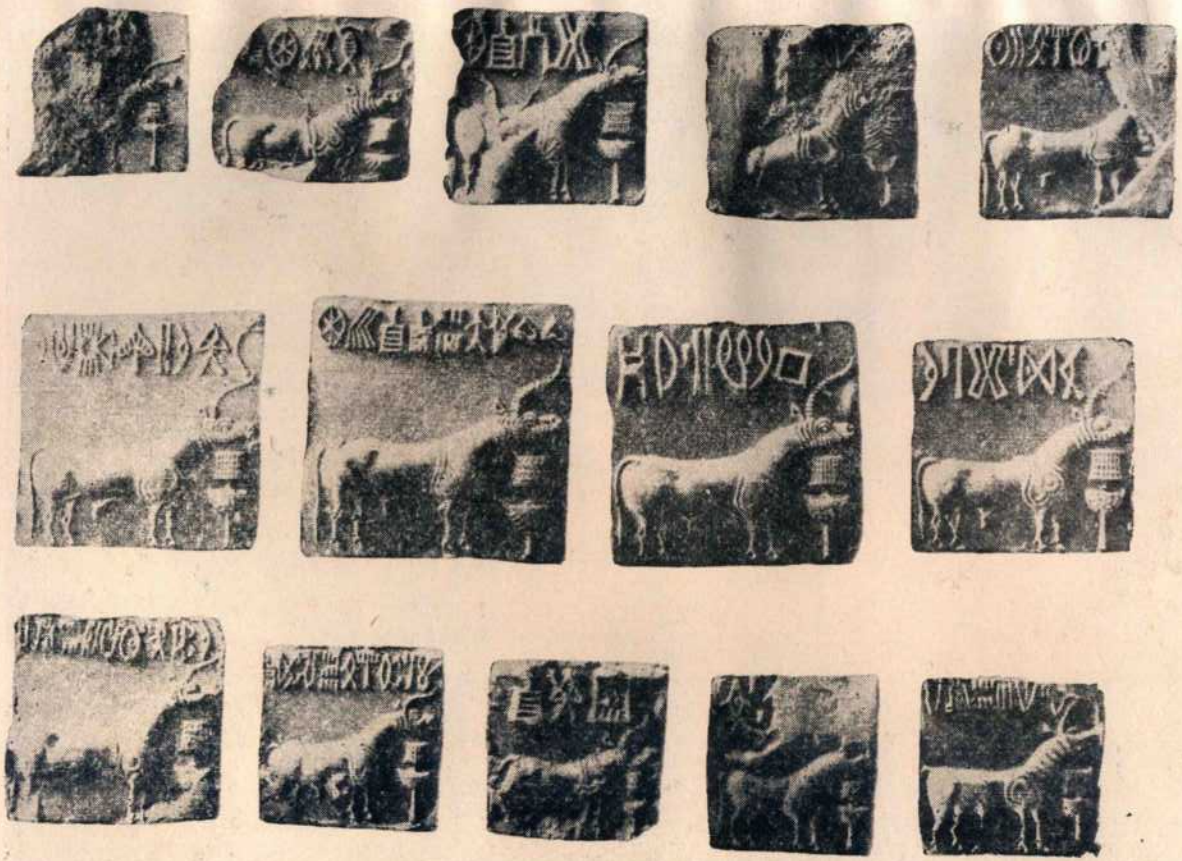

हड़प्पा से प्राप्त मुद्राओं की छाप

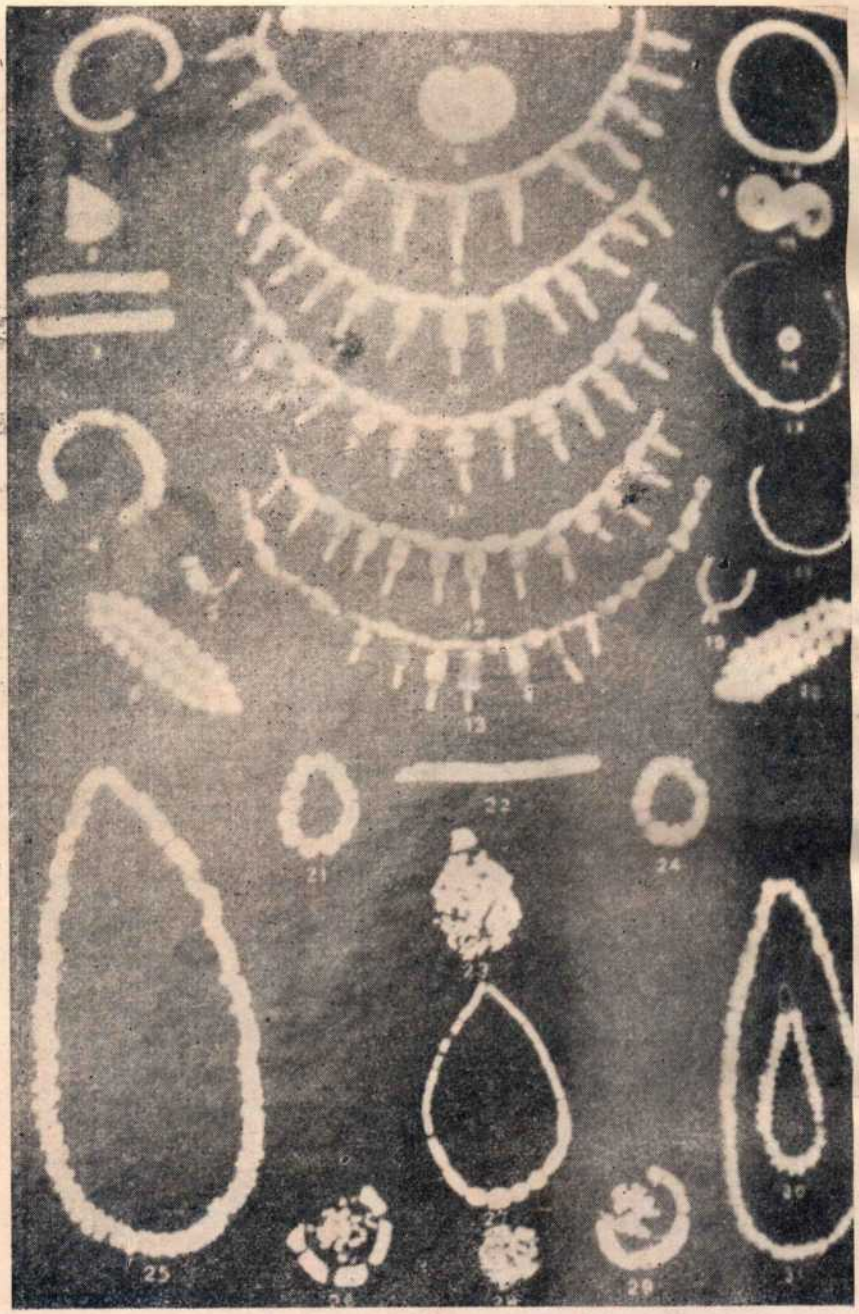

हड़प्पाकालीन अलंकार

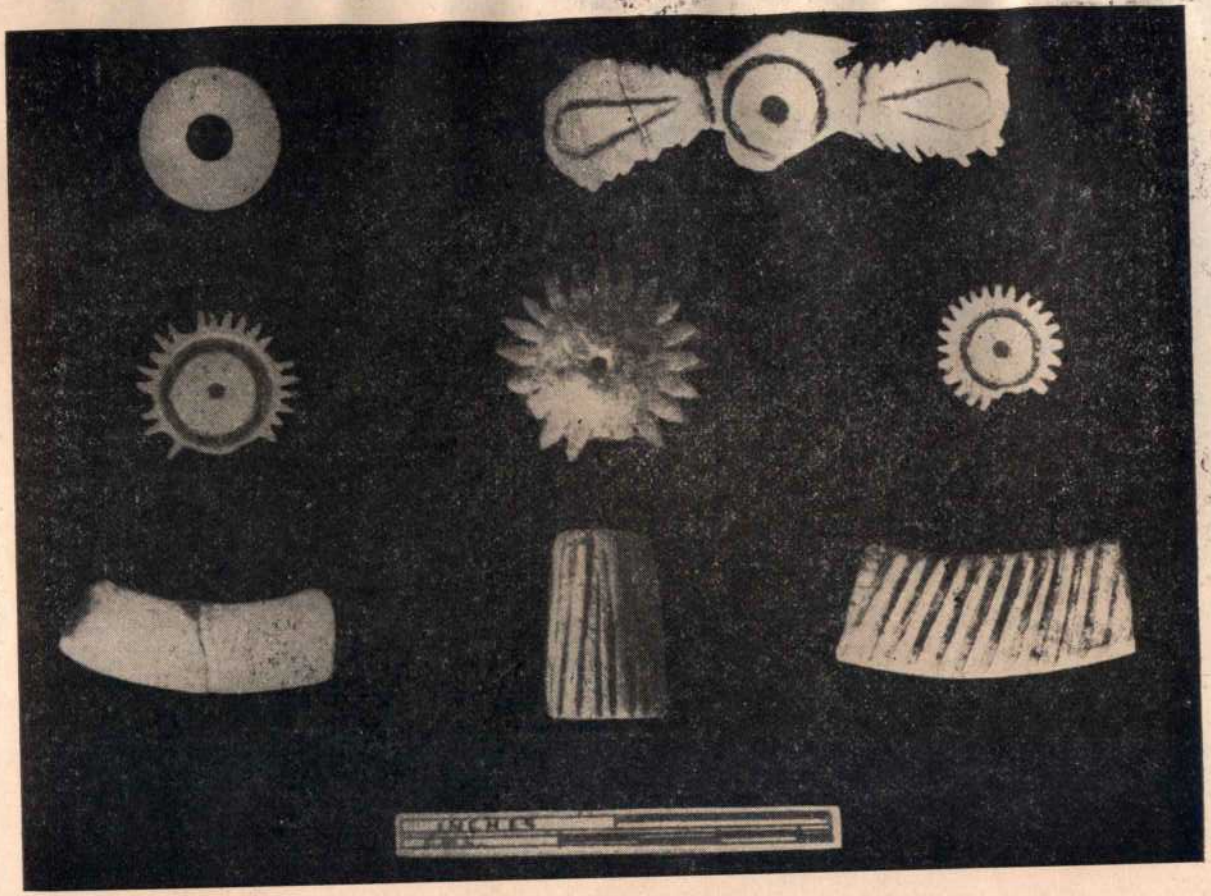

लोथल से प्राप्त सेलखडी के अलंकार

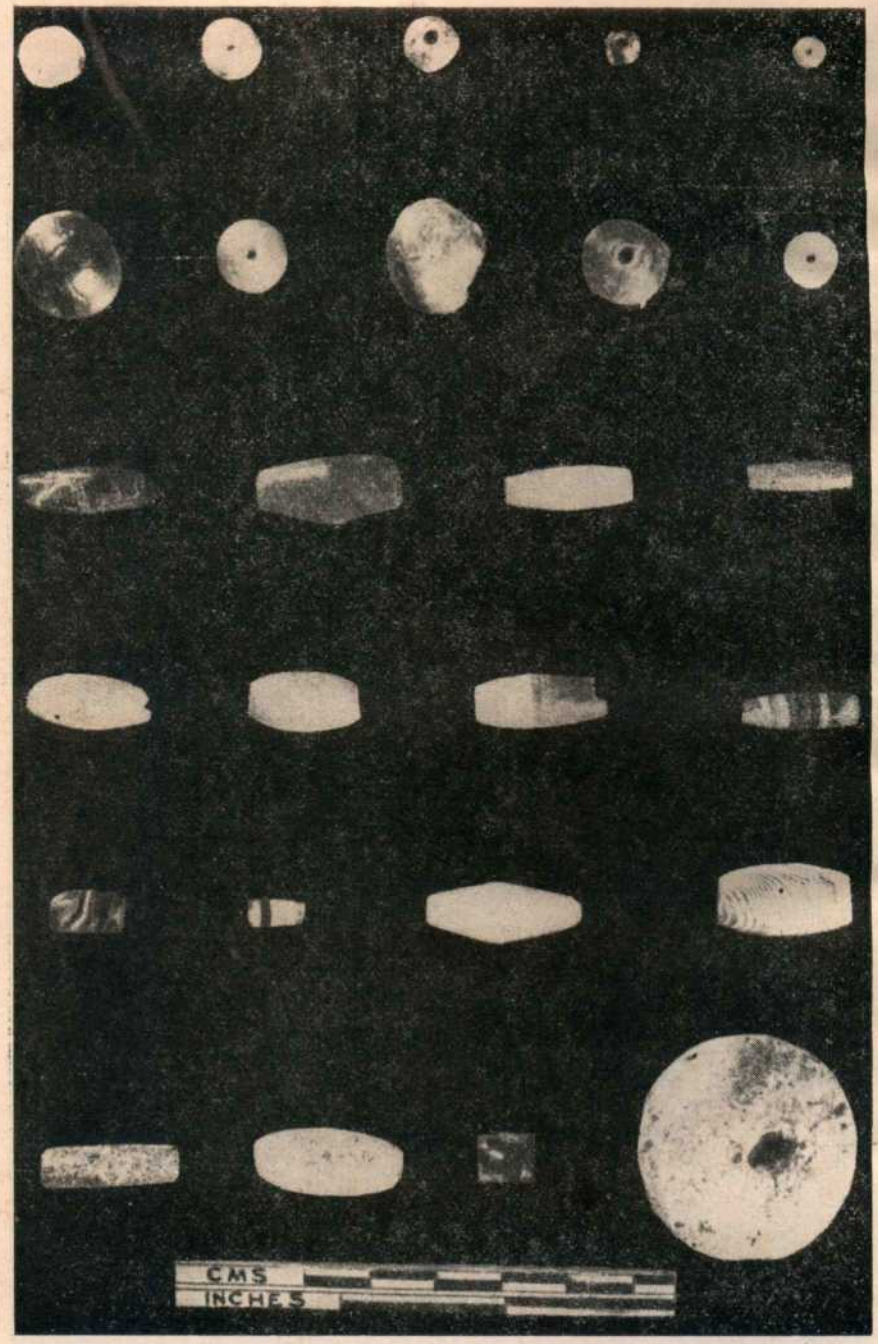

दायमाबाद की खुदाई से प्राप्त मनके

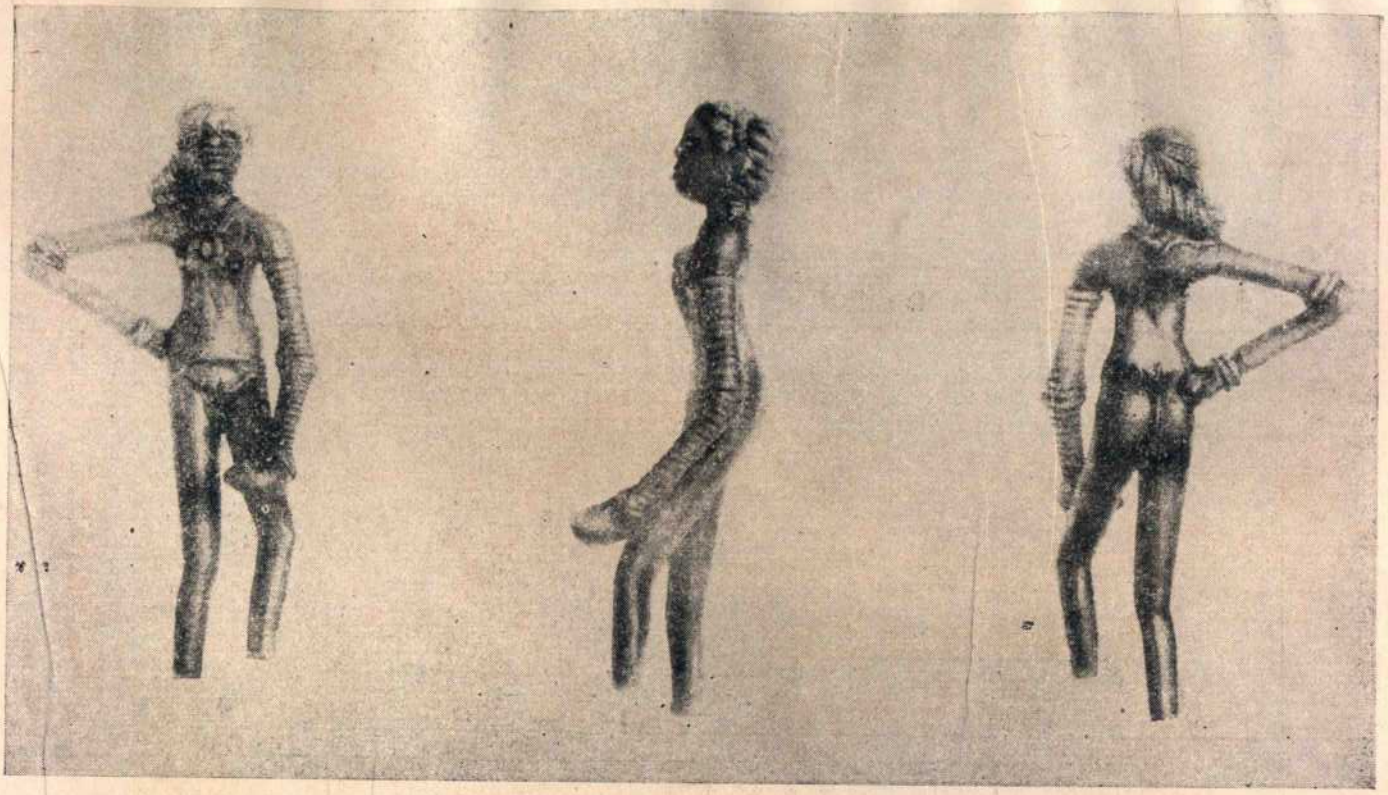

मोहनजोदड़ो से प्राप्त कांस्य-नर्तकी

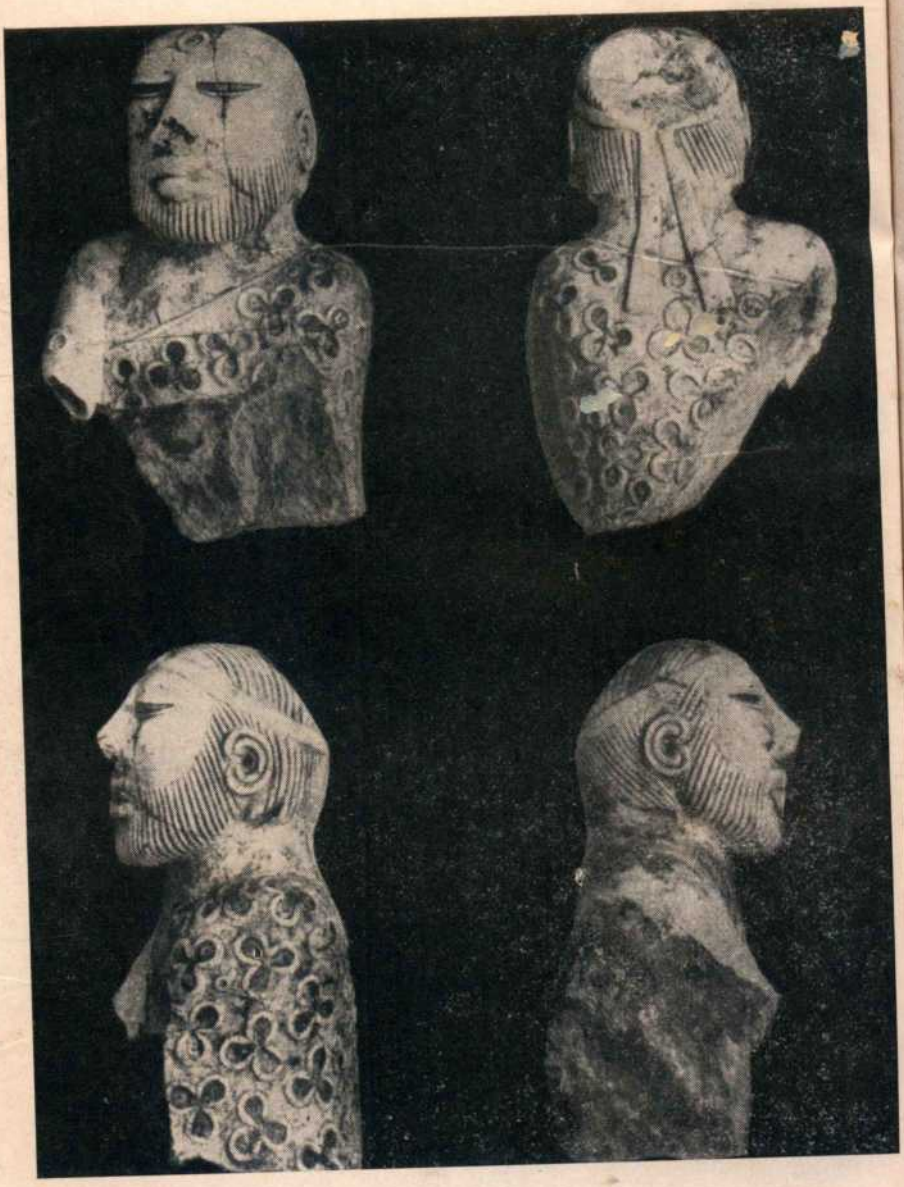

मोहनजोदड़ो से प्राप्त मानवाकृति

कुल्ली-मेही से प्राप्त मानवाकृतियाँ

मोहनजोदड़ो से प्राप्त पशुपति की मुद्रा

निश्चित रूप से व्यक्ति या समाज के अधः-पतन का एक प्रधान कारण है जिसका मूल्य सभी प्राचीन सभ्यताओं को चुकाना पड़ा है, और आज भी चुकाना पड़ रहा है।

सन्दर्भ तथा टिप्पणियाँ

1. एवं परम्परा-प्राप्तं इमं राजर्षयो विदुः ।
   स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप ।। गीता, 4.2.
   अहं तां आनयिष्यामि नष्टा वेद श्रुतीन इव । रामा. 4.6.5.
   युगान्ते अन्तर्हितान वेदान्-स इतिहासान् महर्षयः ।
   लेभिरे तपसा पूर्व अनुज्ञाताः स्वयंभुवा ।। सायण द्वारा उद्धृत, ऋभाभू में ।
2. व्यास को मात्र वेदों का ही सम्पादक नहीं माना जाता है, जिसके कारण उनका नाम ही वेदव्यास पड़ा, अपितु उन्हें आख्यान, उपाख्यान, गाथा और कल्पशुद्धियों के आधार पर पुराणों की रचना का श्रेय भी दिया जाता है : "आख्यानैः चाप्युपाख्यानैः गाथाभिः कल्पशुद्धिभिः । पुराण-संहिता चक्रे पुराणार्थ विशारदः...।।विष्णु पु. 3.6.16.
3. एन. एन. ला, 1965 सं., 76 और आगे, शतपथ ब्रह्मण के लिए ज्योतिष-गणना के आधार पर 1800 ई. पू. का समय निर्धारित करते हैं जो परवर्ती हड़प्पा से मिलता है। काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, 1, द्वितीय सं., 14वाँ, वैदिक संहिताओं, ब्राह्मणों और कुछ उपनिषदों को 4000-1000 की एक स्थूल कालसीमा में रखते हैं। कोलब्रुक ने वेदांग ज्योतिष के आधार पर इसके लिए 14वीं शताब्दी की तिथि निकाली थी (एशियाटिक रिसर्चेज, 471; मिसलीनियस एसेज, 1, 108)। इसकी आलोचना में मैक्समूलर ने ऋग्वेद संहिता, खंड 4, प्रथम सं., आमुख 21वाँ और आगे, जो तर्क दिये थे, वे ऋग्वेद के लिए उनके द्वारा निर्धारित काल-सीमा के तर्क और तज्जन्य दोषों से मुक्त नहीं हैं, जिन्हें स्वयं उन्होंने आगे चलकर संदिग्ध माना था और अल्पतम सीमा ही स्वीकार किया था।
4. शतब्रा. 13.5.4.11-14.
5. वही, 15.
6. वही, 16-19.
7. वही, 21-22.
8. मटचीहतेषु कुरुषु आटिक्या सह जायया उषस्तिः ह चाक्रायण इभ्यग्रामे प्रद्रा-

णक उवास ।।

स ह इभ्यं कुल्माषान् खादन्तं विभिक्षे तं ह उवाच । न इतो अन्ये विद्यन्ते यच्च ये म इम उपनिहिता इति ।।

एतेषां मे देहि इति ह उवाच तान् अस्मै प्रददौ हन्त अनुपानं इति उच्छिष्टं वै मे पीतं स्यात् इति ह उवाच ।।

न स्वित् एते अपि उच्छिष्टा इति, न वा अजीविष्यम् इमान् अखादन् इति ह उवाच, कामो म उदक-पानं इति ।

स ह खादित्वा अतिशेषान् जायाया आजहार सा अग्र एव सुभिक्षा बभूव तान् प्रतिगृह्य निदधौ ।

स ह प्रातः संजिहान उवाच यत् बत अन्नस्य लभेमहि धनमात्रां राजा असौ यक्ष्यते स मा सर्वैः आर्त्विज्यैः तृणीत इति ।

तं जाया उवाच हंत पत इम एव कुल्माषा इति, तान् खादित्वा अमुं यज्ञं विततं इयाय ।

तत्र उद्गातृन् आस्तावे स्तोष्यमाणान् उप-उप विवेश स ह प्रस्तोतारं उवाच ।। प्रस्तोतः या देवता प्रस्तावं अनु आयत्ता तां चेत् अविद्वान् प्रस्तोष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यति इति ।

एवं एव उद्गातारं उवाच, उद्गातः या देवता उद्गीथं अनु आयत्ता तां चेत् अविद्वान् उद्गास्यसि मूर्धा ते विपतिष्यति इति ।

एवं एव प्रतिहर्तारं उवाच प्रतिहर्तः या देवता प्रतिहारं अनु आयत्ता तां चेत् अविद्वान् प्रतिहरिष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यति इति ते ह समारताः तूष्णीं आसां चक्रिरे ।

अथ ह एनं यजमान उवाच भगवन्तं वा अहं विदिषाण इति, उषस्तिः अस्मि चाक्रायण इति ह उवाच ।

स ह उवाच भगवंतं वा अहं एभिः सर्वैः आर्त्विज्यैः पर्येषिषं भगवतो वा अहं अवित्त्य अन्यान् अवृषि ।

भगवान् त्व एव मे सर्वैः आर्विज्यैः इति, तथा इति, अथ तर्हि एत एव समति-सृष्टाः स्तुवतां यावत् त्व एभ्यः धनं दद्याः तावत् मम दद्या इति, तथा इति ह यजमान उवाच ।। छान्दोग्य उपनिषद् 1.10.1-11 व 1.11.1-3.

9. कोसम्बी, पूर्व., 1946, 38.
10. मनु, 10.83-93.
11. देखें, रोमिला थापर, पूर्व., 1978, 219-20.
12. ऋ. 10.86.1.
13. देखें डांगे, इंडिया फ्रॉम प्रिमिटिव कम्यूनिज्म टु स्लेवरी, 1927,52.

सहायक ग्रन्थ तथा निबन्ध

अर्थववेद संहिता	सं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी।
अवेस्ता	सं. सोनटक्के, पूना।
ईषादि नौ उपनिषद	गीताप्रेस, गोरखपुर।
ऋग्वेद संहिता	सं. एस. एन. सोनटक्के व सी. जी. काशीकर, 5 खण्डों में, वैदिक संशोधन मण्डल, पूना।
ऋग्वेद संहिता	सं. सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी।
ऋग्वेद का सुबोध भाष्य	सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी।
ऐतरेय ब्राह्मण	2 खण्डों में, आनन्दाश्रम, पूना।
काठक संहिता	सं. सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी।
गोपथ ब्राह्मण	भाष्य. क्षेमकरण शास्त्री, अथर्ववेद भाष्य कार्यालय, इलाहाबाद।
छान्दोग्य ब्राह्मण	कलकत्ता संस्कृत कॉलेज, कलकत्ता।
छान्दोग्योपनिषद्	गीताप्रेस, गोरखपुर।
जैमिनीय आर्षेय उपनिषद ब्राह्मण	केन्द्रीय संस्कृत विद्यालय, तिरुपति।
दुर्गा सप्तशती	गीताप्रेस, गोरखपुर।
प्राकृत प्रकाश	वररुचि, सं. कोवेल, कैम्ब्रिज।
बृहदारण्यक उपनिषद	गीताप्रेस, गोरखपुर।
बृहद्देवता	सं. मैकडनल, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली।
बौधायन गृह्यसूत्र	सं. आर. शर्मा शास्त्री, मेहरचन्द लक्ष्मणदास, नयी दिल्ली।
ब्राह्मणाद्धार कोश	विश्वबन्धु, विश्वेश्वरानन्द संस्थान, होशियारपुर।
भगवद्गीता	गीताप्रेस, गोरखपुर।
भागवत महापुराण	गीताप्रेस, गोरखपुर।

महाभारत	5 खण्डों में, भण्डारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यट, पूना।
मत्स्यपुराण	आनन्दाश्रम, पूना।
मत्स्यपुराण	अनु. रामप्रताप त्रिपाठी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।
मानव गृह्यसूत्र	सं. रामकृष्ण हर्षजी शास्त्री, पाणिनि, नयी दिल्ली।
मानव श्रोतसूत्र	अनु. गेल्डनर, इंटरनेशनल अकादमी ऑफ़ ओरिएंटल कल्चर, नयी दिल्ली।
मैत्रायणी संहिता	सं. सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी।
यजुर्वेद संहिता	" " " " "
रामायणम्	सं. वासुदेव शर्मा, इंडोलॉजिकल बुकहाउस, दिल्ली-वाराणसी।
वाजसनेयि संहिता	सं. वेबर, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी।
वायुपुराण	अनु. रामप्रताप शास्त्री, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।
शतपथ ब्राह्मण	सं. चिन्नस्वामि शास्त्री, पट्टाभिराम शास्त्री व रामनाथ दीक्षित, चौखम्बा, वाराणसी।
शतपथ ब्राह्मण	अनु. एगलिंग, सैबुईसी, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली।
श्रोतकोश	सं. काशीकर, 2 खण्डों में, वैदिक संशोधन मण्डल, पूना।
सामवेद संहिता	सं. सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी।

अग्रवाल, वासुदेवशरण	1966	भारतीय कला, पृथ्वी प्रकाशन, वाराणसी।
अरविंद	1972	वेद रहस्य, अरविन्द सोसायटी, पांडिचेरी।
आप्टे, नागेशभट्ट	1928	हिन्दी सुमेरी संस्कृति, सदाशिव पेंठ, पूना।
ओझा, गौरीशंकर हीराचन्द	1905	भारतीय प्राचीन लिपिमाला।
काणे, पांडुरंग वामन		दू. संस्क. धर्मशास्त्र का इतिहास, 5 खण्डों में, अनु. अर्जुन चौबे काश्यप, हिन्दी समिति, लखनऊ
गोडबोले, रघुनाथ भाष्कर	1928	श्री भारतवर्षीय प्राचीन ऐतिहासिक कोश, पुणें।
चतुर्वेदी, गिरिधर शर्मा	1881	(शकाब्द) वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति,
चाटुर्ज्या, सुनीति कुमार	1954	भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी (मूलतः 1940), राजकमल, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना।

जोशी, लक्ष्मण शास्त्री — सं. 1994 धर्मकोश, सतारा।

त्रिवेदी, रामगोविन्द — 1968 वैदिक साहित्य, ज्ञानपीठ, वाराणसी।

दीक्षित, शंकर बालकृष्ण — 1957 भारतीय ज्योतिष, अनु. शिवनाथ झारखण्डी, प्रकाशन ब्यूरो, उत्तर प्रदेश।

द्विवेदी, कपिलदेव — 1951 अर्थ विज्ञान और व्याकरण दर्शन, लखनऊ।

नदवी, सैयद सुलेमान — 1930 अरब और भारत के सम्बन्ध, अनु. रामचन्द्र वर्मा, हिन्दी एकेडेमी, प्रयाग।

पाठक, विश्वम्भर शरण — 1984 प्राचीन भारत में ग्राम और ग्राम्य जीवन की भूमिका।

मजूमदार, रमेशचन्द्र — 1966 प्राचीन भारत में संघटित जीवन, अनु. कृष्णदत्त बाजपेयी, सागर विश्वविद्यालय, सागर।

मिश्र, सच्चिदानन्द — 1984 प्राचीन भारत में ग्राम और ग्राम्य जीवन पूर्वा संस्थान, गोरखपुर।

मीमांसक, युधिष्ठिर — 1957 वैदिक छन्दोमीमांसा, अमृतसर।

राय, उदय नारायण — 1965 प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद।

शर्मा, मुंशीराम — 1968 वैदिक संस्कृति और सभ्यता, कानपुर।

शर्मा, रामशरण — 1979 शूद्रों का प्राचीन इतिहास, अनु. विजयनाथ ठाकुर, दिल्ली।

शर्मा, रामविलास — 1979-81 भारत के प्राचीन भाषा-परिवार और हिन्दी, 3 खण्डों में, राजकमल, दिल्ली।

1983 मानव सभ्यता का विकास, दिल्ली।

शास्त्री, कपिलदेव — 1978 वैदिक ऋषि : एक परिशीलन, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय।

सिंह, भगवान — 1973 आर्य और द्रविड़ भाषाओं की मूलभूत एकता, लिपि प्रकाशन, दिल्ली।

1985 'वैदिक समाज में नारी', इतिहास, 3,7,53-72.

1986 'ऋग्वैदिक पुर', ऋतम्भरा, श्री उदयवीर शास्त्री फ़ेलिसिटेशन वाल्यूम, 2, 67-74.

Adams, Robert Mac C. 1968 'The Natural History of Urbanization', Smithsonian Annual II, 2, 18-26.

Adams, W.Y. 1968 'Invasion, Diffusion, Evolution ?' Antiquity, XLII, 167, 194-215.

Agrawal, D.P. 1968 'C-14 Dates, Banas Culture and the Aryans', Current Science, 35, March 5, 114-17.

1968a 'Harappan Chronology : A Re-examination of Evidence', Studies in Pre-history, Robert Bruce Foot Memorial Vol., Calcutta, 139-48.

1971 Copper-Bronze Age in India, Munshiram Manoharlal, Delhi.

Agrawal, D.P. and R.K. Sood 1982 'Ecological Factors and the Harappan Civilisation', HC, 223-29.

Alekseev, G.V. *et all* 1969 Soviet Studies on Harappan Script, tr. Hemchandra Pandey, Florida.

Alexander, Till 1961 The Greeks,Thames and Hudson, London.

Ali, Mohammad 1957 'Aryana : Or Ancient Afghanistan', Afghanistan, XII, 1, 29-57.

1961 'A Glance at Afghanistan Cultural Heritage', Afghanistan,XVI, 3, 1-8.

Ali, S.A. 1973 The Geography of the Puranas, Delhi.

Allchin, Bridget 1984 'The Harappan Environment', FIC, 445-54.

Allchin, Bridget and Raymond Allchin 1968 The Birth of Indian Civilisation, Penguin, Harmondsworth.

Allchin, F.R. 1969 'Early Domesticated Animals in India and Pakistan. The Domestication and Exploitation of Plants and Animals, ed. J. Ucko Dimbleby, London.

1969a Early Cultivated Plants in India and Pakistan, *Ibid.*, 246-51.

1969b 'Dilmun and the Gulf of Cambay', Antiquity, XLIII, 172, 315-17.

1973 'Problems and Perspectives of South Asian Archaeology', SAA, 1-12.

1984 'The Northern Limits of the Harappa Culture Zone', FIC, 51-54.

Allen, W.S. 1953 Phonetics in India, Oxford.

Altekar, A.S. 1958 'Vedic Society', CHI, I, 221-33.

Andrewes, Antony 1967 The Greeks, Hutchinson, London.

Apte, V.M. 1958 'Vedic Rituals', CHI, I, 234-63.

1965 'Social and Economic Conditions', The Vedic Age, Bombay.

Ardner, Edwin. 1971 Introductory Essays in Social Anthropology and Language, London.

Arvamuthan, T.G. 1941-42 Some Survivals of the Harappa Culture, New India Antiquary, IV, 294-326.

Asthana, Shashi P. 1979 History and Archaeology of India's Contact with other Countries, Delhi.

1982 'Harappan Trade in Metals and Minerals: A Regional Approach', HC, 271-85.

1984 'The Place of Shehdad in Indo-Iranian Trade', FIC, 253-62.

	1985	Pre-Harappan Cultures of India and Borderlands, Books & Books, New Delhi.
Aurobindo	1956	On the Veda, Pondicherry.
	1962	Vedic Glossary, Pondicher y.
Babun, Edward	1969	The Varieties of Man, London.
Bagchi, P.C.(ed. & tr.)	1929	Pre-Aryan and Pre-Dravidian in India, Calcutta.
Banerji, N.R.	1965	The Iron Age in India, Munshi-ram Manoharlal, Delhi.
Bannerji, M.N.	1927	'Iron and Steel in the Rgvedic Age', IHQ, 8, 1932, 364-66.
Basham, A.L.	1967	The Wonder that was India, London.
Basu, Jogiraj	1969	India of the Age of the Brahmanas, Calcutta.
Bernt, Ronald M.	1964	The World of the First Australians, London.
Bhargava, M.L.	1964	The Geography of the Rgvedic India, Lucknow.
Bhargava, P.L.	1971	India in the Vedic Age, Lucknow.
	1984	'The word Asur in the Rgveda', ABORI, 64, 1-4, 119-28.
Bhattacharya, B.P.	1979-80	'The Indus Valley Civilisation—An Aryan Culture ?' Puratatva, 11' 140-45.
Birt, Phillip	1964	Finding about Phoenicians, London.
Bisciane, R.	1973	'Dynamics of an Early South Asian Urbanisation: The First Period of Shahr-i-Sokhta and its Connection with Southern Turkmenia', SAA, 105-18.
Bisht, R.S.	1982	'Excavations at Banawali', HC, 113-24.
	1984	'Structural Remains and Town Planning of Banawali', FIC, 89-98.

Bloch, Jules 1929 'Sanskrit and Dravidian', PAPDI, Calcutta, 35 ff.
1954 The Grammatical Structure of Dravidian Language, Poona.
1962 Indo Aryan, from Veda to Modern Times, tr. Alfred Master, Paris.

Bloomfield, L. 1965 Language, London.

Bloomfield, M. 1897 Hymns of the Atharvaveda, SBES, XLII (1964 edn.) Delhi.
1916 Rgvedic Repetitions (1981 edn.), Delhi.

Boas, Franz 1955 Race, Language and Culture, New York.

Bose, A.C. 1966 Hymns from the Vedas.

Braidwood, R.J. 1952 Near East and the Foundations of Civilisation.

Braidwood, J.R, and Willey (eds.) 1960 Courses towards Urban Life, Chicago.

Radcliff-Brown, A.R. 1968 Structure and Function in Primitive Society, London.

Brown, W. Norman 1964 'Indian Games of Pachisi, Chaupar and Chausar', Antiquity, VI, 3, 32-35.

Buck, Carl Darling 1960 Dictionary of Selected Synonyms in the Principal Indo-European Languages, Chicago.

Budh Prakash 1966 Rgveda and the Indus Valley Civilisation, Hoshiarpur.

Buhler, G. 1959 Indian Palaeography, New Age, Delhi.
1894 (1986 edn.) 'Note on Professor Jacobis' Age of the Veda and on Professor Tilak's Orion', Rtambhara, 106-15.

Burrow, T. 1955 The Sanskrit Language, London.
1968 Collected Papers on Dravidian Linguistics, Annamalai.

1969 'Dravidian and Decipherment of the Indus Script', Antiquity, 43, 172, 274-78.

Burrow, T. and Emeneau 1961 A Dravidian Etymological Dictionary, London.

Buxton 1931 'Racial Affinities of the Peoples of India', Census of India, 1931, I, 3, Delhi.

Campbell, A. 1933 A Santhali English Dictionary, Manbhum.

Cardi, Beatrice de 1984 'Some Fourth and Third Century Sites in Sarwan and Jhalawan, Baluchistan in relation to Mehargarh Sequence', SAA-1981, 61-68.

Carnoy, Albert Jr. 1917 Iranian Mythology, Boston.

Casper, Elizabeth D. 1984 'Sumerian Trading Communities residing in Harappan Society', FIC, 363-70.

Cauldwel, (Rev.) R. 1913 A Comparative Grammar of the Dravidian or South Indian Family of Languages, eds. .R.L. Wyatt and T. Ramakrishna Pillai, London.

Chadwick, John. 1968 The Decipherment of Linear B, Cambridge.

Chakaldar, H.C. 1962 The Aryan Occupation of Eastern India, Calcutta.

Chakrabarti, D.K. 1968 'Origin of Ahar Culture', Man in India, XLI, April-June, 97-105.

1973 'Beginning of Iron and Social Change in India', Indian Studies, Past and Present, 14, 329-38.

1976 'The Beginning of Iron in India', Antiquity, L, 114-24.

1979 'Iron in Early Indian Literature', JRAS, 22-30.

1983 'The Issues of the Indian Iron Age', Paper in the Seminar on Recent Advances in Indian

Archeology, Decan College, Poona.

1984 'Origin of the Indus Civilisation : Theories and Problems', FIC, 43-50.

1984-85 'Iron and Urbanization : An Examination of the Indian Context', Puratatva, 15, 68-73.

Chand, R.P. 1961 The Indo-Aryan Races, Rajshahi.

Chatterji, J.M. 1932 Atharvan Zarthustra Gatha, tr. Ardeshir Bilimoria, in Gujarati, Navasari.

1937 The Prshnigatha, i.e. the Gathas of Ramchandra, The Hymns of Zarathustra or the Cream of Atharvaveda, Navasari.

Chatterji, S.K. 1926 The Origin and Development of the Bengali Language, Calcutta.

1929 'Some More Austric Words in Indo-Aryan', PAPDI, Calcutta.

1948 'Sir William Jones', Sir William Jones Centenary Volume, 81-86.

1954 'Old Tamil and Ancient Tamil', Indian Linguistics, XIV, pt. I and II.

1958 'Linguistic Survey of India : Languages and Scripts', CHI, 53-75.

1965 'Race Movements and Prehistoric Cultures', The Vedic Age.

1968 Balts and Aryans in their Indo-European Background, Simla.

Chattopadhyay, B.K. 1965 'Mohenjodaro and Aryan Colonisation of Mesopotamia', VIJ, III, 1, 111-16.

Chattopadhyay, D.P. 1959 Lokayat, New Delhi.

Chattopadhyay, K.P. 1970 Ancient Indian Cultural Contacts and Migrations, Calcutta.

Childe, G. 1942 What Happened in History, Penguin, Harmondsworth.

1952 New Light on the Most Ancient East, London.
1965 Man Makes Himself, London.
1979 'Prehistory and Marxism' (Posth.), Antiquity, LIII. 93-95.

Colebrooke, H.T. 1805 'On the Vedas or Sacred Writings of the Hindus', Asiatic Researches, VIII, Calcutta, 369-476.

Costantini, Lorenjo 1984 'The Beginning of Agriculture in the Kachi Plain : The Evidence of Mehargarh', SAA 1981, 29-33.

Cowgill, Warren 1970 Comment on 'Origins of Settled Farming in Temperate Europe', by Bernard Wailes, IE and IEs, 279-305.

Cox, Sir George 1963 The Mythology of the Aryans, Varanasi.

Cunningham 1924 Ancient Geography of India, Calcutta.

Curzon, A. 1856 'On the Original Extension of Sanskrit Language over Certain Portions of Asia and Europe', JRAS, XVI, 172 ff.

Dales, George F. 1962 'Harappan Outpost on the Makaran Coast', Antiquity, 36, 1 ff.
1964 'Mythical Masscre at Mohenjo-daro', Expedition. 6, 3, 36-43.
1965 'Civilisation and Floods in the Indus Valley', Expedition, 7, 4, 36-43.
1973 'Archaeological and Radio-carbon Chronologies for Proto-historic North West India', SAA, 157-70.
1982 'Mohenjo-daro Miscellany: Some Unpublished, Forgotten or Misinterpreted Features', HC 97-105.

1984 'Sex and Stone at Mohenjodaro', FIC, 109-16.

Dandekar, R.N. 1967 'Vedic Religion and Mythology'. Review of Indological Research in the last 75 Years.

Dange, S.A. 1972 India from Primitive Communism to Slavery, New Delhi.

Dani, A.H. 1963 Indian Palaeography, Oxford.

1981 Indus Civilisation, New Perspectives, (ed.) Islamabad.

Darlington, C.D. 1963 Chromosome Botany and the Origin of Cultivated Plants, London,

Darmesteter, James 1975-80 The Zend Avesta, SBES, IV, XXII, Delhi.

Davis, H,S. 1955 'Some Contacts and Affinities between the Harappan and Sumerian Cultures and Their Date. Could either have been Aryan ?' Indian Culture, Calcutta 4, 169-75.

1956 'Some Further Contacts and Affinities between Egypto-Minoan and the Indo-Dravidian Sumerian Culture', Indian Culture, 6, 56 ff.

Davis, Richard S. 1984 'The Soan in Central Asia ? Problem in Early Palaeolithic Culture History', SAPSA, 23-32,

Dennell, R.W. 1984 'The Importance of Potwar Plateau, Pakistan, to Studies of Early Man', SAA-1981, 10-20.

Deshmukh, P.R. 1958 Indian Civilisation in the Rgveda, Yeotmal.

Devasthali, G.V. 1967 'Vedic Literature', Review of the Indological Research in the last 75 Years.

Devichand 1980 The Yajurveda, New Delhi.

Dhavalikar, M.K. 1984 'Sub Indus Cultures of Central and Western India', FIC, 243-52.

Diringer, David 1953 and 1968 edns. The Alphabet : A Key to the History of Mankind, London.

Dixit, K.N. 1981 'The Excavations at Hulas and further Explorations in the Ganga-Yamuna Doaba', Man and Environment, 1978-79.

1984 'Late Harappans in North India', FIC, 253-70.

1986 'Archaeology of Ganga-Yamuna Doab', Rtambhara, 51-54.

Dupree, Louis 1963 'Result of an Archaeological Survey in Afghanistan', Afghanistan, XVIII, 2, 1-15.

1973 Afghanistan, Priceton.

Durant, Will. 1954 Our Oriential Heritage, New York.

Durrani, F.A. 1984 'Some Early Harappans in Gomal and Bannu Villages', FIC, 505-31.

Dyen, Insidore 1970 'Background 'Noise' or 'Evidence' in Comparative Linguistics : The case of Austronesian-Indo-European Hypothesis', IE& IEs, 430-40.

Dyson, R.H. (Jr.) 1982 'Paradigm Changes in the Study of Indus Civilisation', Harappa Civilisation.

Eggling, Julius 1978 Shatpath Brahman, SBES, XII, XXV, XLI, XLIII, and XLIV, Delhi.

Ehnrich, R.W. 1970 'Some Indo-European Groups of the Middle Danube and Balkans: Their Boundaries as Related to Culture Geography through Time', IE & IEs.

Emeneau, M.B. 1966 'The Dialects of the Old Indo-Aryan', Ancient Indo-European Dialects, ed. Henrik Birnbaum, California, Los Angels.

Fairservis, W.A. 1975 The Roots of Ancient India, Chicago.

1982 'Allahdino : Excavation of a Small Harappan Site', HC, 107-12.

1984 'Archaeology in Baluchistan and the Harappan Problem', FIC, 277-88.

1984b 'Harappan Civilisation According to its Writing', SAA-1981, 156-61.

Fairservis. W.A. (Jr.) 1967 'The Harappan Civilization—New Evidence and More Theory', AMN, New York.

Fentress, Marcia A. 1982 'From Jhelam to Yamuna : City Settlements in the Second and Third Mill. B.C.', HC, 245-60.

1984 'The Indus Grannaries: Illusion, Imagination and Archaeological Reconstruction', SAPSA, 89-98.

Findey, M.I. 1963 The Ancient Greeks, London.

Fischer, Klan 1961 'Preliminary Notes on Some Ancient Remains at Qunduz', Afghanistan, XVI, 1, 12-26.

Flam, Louis 1984 'The Palaeography and Prehistoric Settlement Patterns of the Lower Indus Valley, Sind, Pakistan', SAPSA, 77-82.

Francfort, Henri Paul 1984 'The Early Period of Shortugai (Harappan) and the Western Bactrian Culture of Dishly', SAA-1981, 170-75.

1984b 'The Harappan Settlsment of Shortugai', FIC, 301-10.

Frankfurt, Henri 1954 The Birth of Civilisation in the Near-East, London.

Frost, Honor 1963 Under the Mediterranian, London.

Gadd, C.J. 1932 'Seals of Ancient Style found at Ur', PBA, XVIII, 1-22.

Gadd, C.J. and Sidney Smith 1924 'The New Links between Indian and Babylonian Civilisation'. ILN, Oct. 4, 614-16.

Ghosh, A. 1964 'Archaeology in India', Expedition, 6, 3, 12-17.

1973 The City in Early Historical India, Delhi.

1982 'De-Urbanisation of the Harappa Civilisation', HC, 321-24.

Ghosh, B.K. 1958 'The Origin of Indo-Aryans', CHI, 1, 129-43.

1965 'The Aryan Problem', The Vedic Age, Bombay.

Ghoshal, U.N. 1957 Studies in Indian History and Culture, Calcutta.

Ghurney 1952 The Hittites, Baltimore.

Giles 1921 'The Aryans', (1967 edn.) CHI, I, 58-68.

Gimbutas, Marija 1960 The Balts, London.

1970 'Proto Indo-European Culture : The Kurgan Culture during Fifth, Fourth and Third Millennia B.C.', IE & IEs, 155-98.

Coldstucker, T. 1965 Panini : His Place in Sanskrit Literature, Varanasi.

Goodenough, Ward H. 1970 'The Evolution of Pastoralism and Indo-European Origins', IE & IEs, 253-56.

1959 'The Indo-Europeans', Encyclo. Brit., 12, 262-64.

Gordon, D.H. 1960 The Pre-Historic Background of Indian Culture, Bombay.

Grierson 1967 Linguistic Survey of India, Vol. I, Delhi.

Griffith, Ralph T.H. 1973 The Hymns of the Rigveda, New Delhi.

Guha, B.S. 1931 'Racial Affinities of the Peoples of India', Census of India, 1, 3, Delhi.

Guha, J.P. 1967 Seals and Statuettes of Kulli, Zhob, Mohenjo-daro and Harappa, New Delhi.

Gupta, M.N. 1980-81 'The Authors of the Indus Seal Texts or the Indus Seal Motifs', Puratatva, 12, 47-53.

Gupta, S.K. 1968 'The Aryan Problem', JBRS, Jan.-Dec., LIV, 1-4.

Gupta, S.P. 1967 'The Mountaneous Neolithic Cultures of Central Asia and Northern India', The Anthropologist, XIV, 2, Sept., 125-36.

1970 'Prehistoric Indian Cultures in Soviet Central Asia', ICWTC, 239-48.

1972 Disposal of the Dead and Physical Types in Ancient India, Delhi.

1979 Archaeology of Soviet Central Asia and the Indian Borderlands, 2 vols, Delhi.

1980-81 'Herding as the Backdrop to the Growth of Agriculture in West and South Asia', Puratatva, 12, 101-11.

1982 'The Harappans : A Study in Cultural Dynamics', HC, 51-59.

1984 'Internal Trade of the Harappans', FIC, 417-24.

1986 'The Problem of the Aryans and Archaeology', Rtambhara, 87-89.

Gurov, N.V. *et all* 1973 Proton Indica, tr. Hemchandra Pandey, Florida.

Haddon, Alfred C. 1934 History of Anthropology, London.

Haig, W. and C. Frederick 1968 'Afghanistan', Encyclopaedia Britanica, Vol. I, 283-88.

Hawkes, Jacquetta and Sir Leorard Woolley 1963 History of Mankind : Cultural and Scientific Development, I, London, 1963.

Haywood, Richard M. 1965 Ancient Greece and the Near East, London.

Hegde, K.T.M., R.V. Karanth and S.P. Sychanthavong 1982 'On the Composition and Technology of Harappan Micro-beads', HC, 239-44.

Heidel, Alexander 1963 The Gilgamesh Epic and Old Testament Parallels, Chicago-London.

Heine-Geldner, R. 1936 'Archaeological Sources of Vedic Aryans', JISOA, 4, 87-113.

1958 'The Coming of the Aryans and the End of Harappan Civilisation', Man, 56, 136-40.

Heskel, Denis L. 1984 'Iran and Indus Valley Connections'. FIC, 333-46.

Hutton, J.H. 1952 Caste in India, Cambridge.

Heras, S.J. 1936 'The "Minovan" in Mohenjodaro', JOR, 281 ff.

1942 'Were the Mohenjodarians Aryans or Dravidians ?', JIH, XI, 23-33.

1954 'Proto Indian Origin of the Sumerian Civilisation', Sardar Panikkar Sastyabda-Purti Sovenir, 120-29.

Heskel, Denis L. 1984 'Iran and Indus Civilisation Connections', FIC, 333-46.

Herzfeld, Ernst 1947 Zoroaster and his World, 2 Vols, Princeton.

Hewitt, R. 1957 From Earthquake, Fire and Flood, London.

Higgs, E.S. and Jarman 1969 'The Origin of Agriculture', Antiquity, XLIII, 169, 31-34.

Hillebrandt, Alfred 1980-81 Vedic Mythology, 2 Vols., tr. S.R. Sharma, Delhi.

Hrozny, Bedrich 1962 'Human Skeletal Remains from Harappa', Anthro. Survey of India, Memoir No. 9.

Hunter, G.R. 1934 The Script of Harappa and Mohenjodaro and its Connection with other Scripts, London.

Hutchinson, J.B. 1974 'Crop Plant Evolution in the Indian Subcontinent', Evolutionary Studies in World Crops, Ed. Sir J. Hutchinson, Cambridge.

Hutton, J.H. 1952 Caste in India, Cambridge.

Jansen, Michel 1984 'Preliminary Results of Two Years Documentation in Mohenjodaro', SAA-1981, 135-53.

Jarrige, J.F. 1982 'Excavations at Mehragarh', HC, 79-84.

1984 'Towns and Villages of Hill and Plain', FIC, 280-300.

1984b 'Chronology of Earlier Periods of Greater Indus as seen from Mehragarh, Pakistan', SAA-1981, 21-28.

1985 Introduction to Pre-Harappan Cultures of India and Borderlands, by S.P. Asthana.

Jayaswal, K.P. 1924 Hindu Polity, Culcutta.

Jesperson, Otto 1954 Language : Its Nature, Development and Origin, London.

Johnson, B.L.C. 1971 'Irrigation in West Pakistan', ICO, XXVIII, Canberra.

Jones, Tom 1969 The Sumerian Problem, New York.

Jones, (Sir) Willian 1972 'On the Gods of Greece, Italy and India', (Originally pub. 1784 and since revised), Transactions of the Society Institute in Bengal, Varanasi.

Joshi, J.P. 1978 'Interlocking of Late Harappa Culture and Painted Grey Ware in the light of Recent Excavations', Man and Environment, 2.

1972 'Transformation of Harappan Culture in Kaccha : Examination of Evidence from Surkotada'.

1972b 'Excavations at Surkotada, Old and New Light on the Harappan Migration', JOI, Baroda, 98-144.

1986 'Settlement Patterns in Third, Second and First Millennia B.C. in India with special Reference to Recent Discoveries in Punjab', Rtambhara, 134-39.

Joshi, P.M. 1967 'Further India', Review of Indological Research in the last 75 Years, 289-346.

Kalla, Lakshmidhar 1930 The Home of the Aryans, Delhi.

Kanga, Ervad F. and Sontakke 1962 Avesta, Poona.

Keith, Arthur 1936 Review of B.S. Guha's 'Racial Affinities of the People of India', Man, 29, London.

Keith, A.B. 1917 Mythology of All Races, Vol. 4, Boston.

1925 'The Date of Zoroaster and the Rgveda', Hist. Quarterly, 1, 1, March, (reprint 1985), 4-17.

1921 'The Age of the Rgveda', Cambridge History of India, 1962 edn. 1, 69-90.

? 'Babylon and India', Kuppuswami Sastri Commn. Volume, Madras.

Kennedy, Kenneth A.R. 1982 'Skulls, Aryans Flowing Drains : The Inference of Archaeology and Skeletal Biology, in the Study of Harappan Civilisation', HC.

1984 'Trauma and Disease in the Ancient Harappans', FIC, 425-36.

Kesharwani, Arun 1986 'The Problem of Indo-Aryans and the West Asian Documents with reference to Boghazkoi Tablet and Kikkuli Text', Rtambhara.

Khan F.A. 1964 'Archaeology in Pakistan', Expedition, 6, 3, 2-11.

Kittel, (Rev.) F. 1894 Kannad English Dictionary, Manglore.

Kohl, Philip 1984 'Prehistoric Turan and South Turkemenia : Problem of Cultural Diversity', FIC, 321-32.

Konish, M.A. 1984 'Pre' or 'Early' Harappan Culture : A Conceptual Battle', FIC, 37-42.

Konow, Sten 1906 Linguistic Survey of India, Vol. 4.

Kopf, David 1969 British Orientalists and Bedgal Renaissance, Calcutta.

Kosambi, D.D. 1946 'Early Stages of Caste System in Northern India', JBRAS, New Series, 22 ff.

1951 'On a Marxian Approach to Indian History', BORI, XXXI, 258-66.

1953 'Brahmin Clans', JAOS, 73, 4, 202-08.

1953b 'The Study of Ancient Indian Tradition', Indica, The IHRI Silver Jubilee Commemn. Vol., Bombay, 196-214.

1955 'What Constitutes Indian History', BORI, XXXV, 194-201.

1962 Myth and Reality, Bombay.

1965 The Culture and Civilization of India, Bombay.

Krammer. S.N. 1963 'Dilmun : Quest for Paradise', Antiquity, XXXVII, 111-15.

1964 'The Indus Civilisation and Dilmun, the Sumerian Paradise Land', Expedition, 6, 3, 44-52.

Krishnarao 1969 'Solution of the Indus Script', The Hindustan Times, Weekly, New Delhi.

Krogman, W.M. and W.H. Sassman 1943 'Skulls Found at Chanhudaro', Chanhudaro Excavations by Norman Brown, Connecticut, 252-59.

Kuhn Raja, C. 1958 'Vedic Culture', CHI, I, 199-220.

Lal, B.B. 1953 'Proto-historic Investigations', Ancient India, 9, 80-102.

1954-55 'Excavations at Hastinapur and other Explorations in Upper Ganges and Sutlej Basin, 1950-52', Ancient India, 10-11.

1980-81 'Archaeology in India since Independence : Some Random Thoughts', Puratatva, 12, 17-21.

Lal, B.B. and S.P. Gupta (eds) 1986 'Frontiers of Indus Civilisation, New Delhi.

Lal, B.B. and B.K. Thapar 1967 'Excavation at Kalibangan : New Light on the Indus Civilisation', Cultural Forum, 34, 78-88.

Lallanji, Gopal 1962-63 'Antiquity of Iron in India', Antiquity, 28, 8-2, 39-54.

Lamberg Karlovsky, C.C. 1972 'Trade Mechanism in Indus Mesopotamian Interrelation', JAOS, 92, 2, 222-30.

1973 'Pre-historic Central Asia', Antiquity, 47, 43-46.

1973b 'Urban Interaction on the Iranian Plateau, Excavations at Tepe Yahya, 1967-1973'. PBA, London, Vol. LIX, 7-43.

1978 'The Proto Elamites on the Iranian Plateau', Antiquity, 52, 114-20.

Lambrick, H.T. 1964 'Sind, A General Introduction', History of Sind Series, Vol. I, Hyderabad, Sind.

Langdon, S.H. 1931 'The Indus Script', Mohanjodaro and the Indus Civilization, Vol. II, 423-55.

1931b 'A New Factor in the Problem of Sumerian Origins', JRAS, 539-96.

Lattimore, Richmond 1962 The Illiad of Homer, Chicago.

Law, B.C. 1924 'Some Tribes of Ancient India', Calcutta.

Law, N.N. 1965 Age of the Rgveda, Calcutta.

Lehman, W.P. 1966 Historical Linguistics, Calcutta.

1968 'Indo European Languages', Ency. Ame. Vol. 15.

1970 'Linguistic Structure as Diacritical Evidence On Proto Culture', IE & IEs, 1-10.

Leshnik, L.S. 1973 'Land Use and Ecological Factors in Prehistoric North West India, SAA, 67-85.

Lockwood, W.B. 1969 Indo European Philology, London.

Lord, Robert 1966 Teach Yourself Comparative Linguistics, London.

Macdonell, A.A. 1904 The Brihaddevata (Text trns.) 2 Vols, Cambridge, Mass., U.S.A.

1908 'Sanskrit Litrature', Ch, VI. The Emprial Gazetteer of India, Oxford, Vol. II, 206-69.

1928 A History of Sanskrit Literature, London.

1975 Vedic Grammar, Varanasi.

1981 Vedic Mythology, Delhi, etc.

Macdonell and Keith 1962 Vedic Index, 2 Vols., Hindi tr. Ramkumar Rai, Varanasi.

Mc Crown, D.E. 1942 Comparative Stratigraphy of Early Iran, Chicago.

Mackay, Ernst J.H. 1925 'Sumerian Connections with Ancient India', JRAS, 679-701.

1934 'The Indus Civilisation : Some Connections with Sumer, Elam and the West', JRCAS, XXI.

1938 Further Excavations at Mohenjodaro, 1927-31, 2 Vols., New Delhi.

1948 Early Indus Civilisation, Ed. and revised by Dorothy Mackay, London.

1976 Chanhudaro Excavations, 1935-36, Delhi.

Mahadevan, Iravathan 1950 'Dravidian Parallels in Proto-Indian Script', JTS, II, 1-120.

1977 The Indus Script : Text, Concordance and Tables, New Delhi.

1983 'Cult Objects on Unicorn Seals : A Sacred Filter ?', Paper presented at the 31st International

Congress of Human Sciences, Tokyo, Cycl. pp. 48.

Majumdar, D.N. 1950 Race Relations in Cultural Gujarat, Gujorat Research Society.

Majumdar, R.C. 1948 'Indian Culture as a Factor in the World Civilisation', Sir William Jones Centenary Vol.

Mallowan, M.E.L. 1965 Early Mesopotamia and Iran, London.

Marguerson, Jean-Claude 1965 Mesopotamia, Tr. H.S.B. Harrison, London.

Marshall, (Sir) John 1931 Mohenjodaro and Indus Valley Civilisation, 3, Vols., London.

Masson, V.A. 1976 'Altin-depe and the Bull Cult', Antinquity, 50, 197, 14-19.

1968 'The Urban Revolution in South Turkmenia', Antiquity. XLII, 176-87.

Maucnaughton, D. 1930 A scheme of Babylonian Chronology, London.

Max Muller, F. 1859 Ancient Sanskrit Literature (so far as it illustrates the Primitive Religion of the Brahmanas), London.

1866 Rgveda Samhita, London.

1867-68 Chips from a German Workshop, 2 Vols., London.

1881 Selected Essays on Language, Mythology and Religion, 2 Vols., London.

1888 Biographies of the Words and the Home of the Aryans, London.

1891 The Science of Language, London.

Meadow, R.M. 1984 'A Camel Skeleto n from Mohenjodaro', FIC, 137-40.

Meenakshisundaran, T.P. 1965 A History of Tamil Language, Puna.

Mehta, R.N. 1984 'Valabhi—A Station of Harappan Cattle Breeders, FIC, 218-22.

Mercer, Samuel, A.B. 1959 The Origin of Writing, London,

Mertz, Barbara 1965 Temples, Tombs and Hieroglyphs, Delta Book.

Mill, L.H. 1981 The Zend Avesta (Pt. III), SBES, XXXI, Delhi.

Miller, Daniel 1984 'Malwa' and 'Jorwe' in Chalcholithic India', SAA-1981, 213-20.

Milner, G.B. and Eugenie J.A. Henderson (eds.) 1965 Indo Pacific Lingnistic Studies, Historical Lingnistics, Amsterdam.

Mirashi, V.V. 1967 'Epigraphical Research', Review of the Indological research in the last 75 Years.

Misra, D.P. 1971 Studies in Proto History of India Orient Longman.

Misra, V.N. 1984 'Climate Factor in the Rise and Fall of the Indus Civilisation : Evidence from Rajasthan and Beyond', FIC, 461-90.

Monier Williams 1981 Sanskrit English Dictionary, Delhi.

Mookerji; R.K. 1957 A History of Indian Shipping, Orient Longman.

1960 Ancient Indian Education, Delhi, etc.

Motamedi. Ahmed Ali 1957 'Some Notes on the Mythology of Kafirs of the Hindukush (Before 1898)', Afghanistan, XII, 4, 7 ff.

Mongait, Alexander 1959 Archaeology in the USSR, Moscow.

Mughal, M. Rafique 1982 'Recent Archaeological Research in Cholistan Desert', HC, 85-95.

Nasiri, A. 1962 'The Lapis Lazuli in Afghanistan', Afghanistan, XVII, 4, 48-56.

1963 'The History of Lapis Lazuli in Afghanistan', Afghanistan, XVIII, 1 & 2, 51-56 & 23-28.

Nesfield, J.C. 1885 Tribe and Castes of the North-Western Provinces and Oudh, Allahabad.

Oates, J., T.E. Davidson and H. Mackerrel 1977 'Seafaring Merchants of Ur ?', Antiquity, 51, 221-34.

Oldenberg, Herman 1981 Vedic Hymns, Pt. II, SBES, XLVI, Delhi

Oppenheim, A.L. 1974 'The Seafaring Merchants of Ur', JAOS, 74, 6-17. Reprinted in Ancient Cities of India, ed. G.L. Possehl, 1979, pp. 6-17.

Pande, B.M. 1973 'Inscribed Copper Tablets from Mohenjodaro : A Preliminary Annalysis', Radio Carbon and Indian Archaeology, eds. D.P. Agrawal & A. Ghosh, Bombay.

1983 'The Ships of Meluhha, West ward Sailing', Indian Horizon, XXXII, 2, 7-19.

Pande, B.M. and Ramchandran 1971 Bibliography of the Harappan Culture. Florida.

Pandey, G.C. 1957 Studies in the Origins of Buddhism.

Pandey, Rajbali 1952 Indian Palaeography, Banaras.

Pandya, Suman 1980-81 'Recent Advances in Prehistoric Gujarat', Puratatva, 12, 59-63.

Pargiter, F.E. 1913 The Puranic Texts of The Dynasties of Kali Age, London.

1922 Ancient Indian Historical Tradition, Oxford.

Parpola, Asko. etc. 1969 Decipherment of the Proto-Dravidian inscriptions of the Indus Civilisation, A First Announcement, Spl. Publ. No. 1, Copenhagen.

1969b Progress in the Decipherment of the Proto-Dravidian Script, Spl. Publ. No. 2, Copenhagen.

1970 Further Progress in the Indus Script Decipherment, Spl. Publ. No. 3, Copenhagen.

Paterson, T.T. 1979 'Prehistory of Potwar and Indus Region', A Source Book of Indian Archaeology, Eds, Alchin. & Chakrabarty, Delhi.

Pathak, V.S. 1975 Presidential Address of the 3rd Session of All India Oriental Conference Ahandabad.

1986? Presidential Address of the 12th Annual Congress of the Epigraphical Society, of India, Jabalpur.

Patyal, Hukum Chand 1981 'Non Indo-Aryan Sources as Aid for the Vedic Interpretation', ABORI, 62, 1-4, 219-25.

Paul, Friedrick 1970 'Proto Indo-European Trees', IE & IEs, 11-34.

Piggot, Stuart 1950 Prehistoric India to 1000 B.C.. London.

1961 The Dawn of Civilisation, London.

Possehl, Gregory L. 1967 'The Mohenjodaro Floods : A Reply', Am. Anth., 69, 32-40.

1979 Ancient Cities of India, New Delhi etc.

1980 Indus Civilisation in Saurastra, New Delhi.

1982 'Disvovering Anctient Indias Earliest Cities', HC, 405-13.

1982 Harappa Civilization, Delhi etc.

1984 'A Note on Harappan Settlement Pattern in the Punjab', SAPSA, 83-88.

Prannath 1931 'The Script of the Indus Valley Seals', IHQ, 7, 1-52.

1932 'The Script of the Indus Valley Seals', IHQ, 8 Suppl., 1-32.

1935 'New Light on the Aryans before 1000 B.C. Did India's Culture Come from Babylonia ? Rgveda a Sumerian Document ?', IWI, July 7, 15 & 36.

1935b 'Was Prehistoric Egypt India's Ancestor ? One fifth of the Rgveda Comes from the Nile', IWI, Aug. 4, 17 & 71.

1935c 'Was India Colonised from Egypt ?' IWI, Aug. 18, 17 & 67.

1937 'Sumero-Egyptian Origin of the Aryans and the Rgveda, JBHU, I, 303-58.

Przyluski, Jean 1929 'Non-Aryan Loans in Indo-Aryan', PAPDI, 3-32.

1929 'Further Notes on Non-Aryan Loans in Indo Aryan', PAPDI, Calcutta, 129 ff.

Pusalkar, A.D. 1947 'Mohenjodaro and the Rgveda', Bharat Kaumudi, Studies in Indology in honour of Dr. Radha Kumud Mookerji, Allahabad, II, 551-63.

1965 'Indus Valley Civilisation', The Vedic Age, Bombay, 169-200.

1967-68 'Pre-Harappan, Harappan and Post-Harappan and the Aryan Problem', QRHS, VII. 4, 233-44.

	1967 'Puranic Studies', Review of the Indological Research in the last 75 Years.
Puskas, Idiko	1984 'Society and Religion in the Indus Valley Civilisation', SAA-1981, 162-65.
Radhakrishnan. S.	1966 History of Indian Philosophy, Vol. I, New York.
Rahulkar, V.C.	1964 The Seers of the Rgveda, Poona.
Raikes, Robert L.	1964 'The End of the Ancient Cities of the Indus', Am. Anthropologist, 66, 2, 284-99.
	1965 'Mohenjodaro Floods', Antiquity, XXXIX, 196-203.
	1967 Water, Weather and Prehistory, London.
	1968 'Kalibangan : Death from Natural Causes', Antiquity, XLII, 168, 286-91.
	1977 'Mohenjodaro Floods Reconsidered', Journal of Palaeontological Society of India, 20, 251-60.
	1984 'Mohenjodaro Environment', FIC, 455 60.
Raikes, R.L. & R.H. Dyson (Jr.)	1961 'The Prehistoric Climate of Baluchistan and Indus Valley', Amer. Anthro., 63, 265-81.
Raja, Kunhan	1963 Poet Philosophers of the Rgveda, Madras.
Rajguru, S.N.	1979 'Late Pleistocene Climate Changes in Western India', A source Book of Indian Arehaeology, Delhi.
Ramchandran, K.S.	1970 'Ancient Indian Maritime Ventures', ICWTC, 71-80.
	1984 'Dating of Indus Civilisation', FIC, App. I.
Rao, S.R.	1962 'Further Excavations at Lothal', Lalit Kala, 11, 14-30.

1963 'Excavations at Rangapur and other Explorations in Gujarat', AI, 18-19, 205-07.

1964 'Contacts between Lothal and Susa', ICO, XXVI Session, New Delhi, Summaries of Papers, 10-11.

1965 'Shipping and Maritime Trade of the Indus People', Expedition, 7, 3, 30-37.

1980 Lohal—A Harappan Port town, Delhi.

1980b 'Indus Script and Language', ABORI, 61, 1-4, 131-35.

1982 'New Light on the Urban Phase of the Indus Civilisation', HC, 353-59.

1982b The Decipherment of the Indus Script, Bombay.

Rapson, E.J. 1962 'The Aryans', CHI, Vol. I, Delhi, 58-68.

Rawlinson, H.G. 1926 Intercourse between India and the Western World, Cambridge.

Ray, Sudhanshu Kumar 1963 Indus Script, an Appeal to the Orientalists, Indian Institute. of Egyptology, Memorandum No. 1, New Delhi, 1-16.

1965 Indus Script, Memorandum No. 2, New Delhi.

1965b 'Research, Methodology and the Indus Script', Shakti, III, 1, 31-33.

1966 'Indus Script : Method of Study' Anand K. Coomarswamy Memorial Lecture, New Delhi.

Raychaudhuri, H. 1950 Political History of Ancient India, Calcutta.

Redman, C.L. 1978 The Rise of Civilisation, New York.

Renou, L. 1971 Vedic India, tr. Philip Spratt, Varanasi.

Riseley, H.H. 1902 Tribes and Castes of Bengal, Calcutta.

1907 'Ethnology and Caste', The Imp. Gaz. of India, I, Census Report 1901.

Rishtya, S.Q. 1947 'Afghanistan from Geographical Point of View, Afghanistan, I, 13-18.

1947b 'The Rivers of Afghanistan', Afghanistan, 2, 8-14.

Rowney, H.B. 1882 Wild Tribes of India, London.

Roy, S.B. 1979 'Date of Mahabharat Battle, Astronomical Determinations', Age of Mahabharat, 222-32.

1986 'The Beginnings of Indian Astronomy : 3102 B.C.', Rtambhara, V, 158-70.

Roy, T.N. 1964-65 'Stratigraphical Position of the Painted Grey Ware in the Gangetic Vailey', Bharati, 8, 2.

Sankalia, H.D. 1962 Indian Archaeology Today, Bombay.

1962b Prehistory and Protohistory in India and Pakistan, Bombay.

1962c 'From Food Collection to Urbanisation in India', Indian Anthropology, Essays in memory of D.N. Majumdar, Bombay, 66-104.

1965 'Palaeolithic, Neolithic and Copper Ages', The Vedic Age, Bombay.

1977 Prehistory of India, New Delhi.

Sankrtyayan, Rahul 1964 History of Central Asia, New Delhi.

Santoni, M. 1984 'Sibri and the South Cemetery of Mehargarh, Third Millennium Connection between the Northern Kachi Plain (Pakistan) and Central Asia', SAA-1981, 52-60.

Sarkar, S.S. 1954 The Aboriginal Races of India, Calcutta.

1958 'Race Movement and Races in India', CHI, I.

1964 Ancient Races of Baluchistan, Punjab and Sind, Calcutta.

1972 Ancient Races of India, Delhi.

Saunder Rajan 1982 'Motivation for Early Indian Urbanisation : An Examination', HC, 69-75.

1984 'Kacch Harappans : A Corridor of the Indus Phase', FIC, 211-17.

Sayce, A.H. 1930 'Relation between India and Babylonia in Early Times', Dr. J.J. Modi Memo. Vol., Bombay, 559-64.

Schlaugh, Margaret 1949 The Gift of Tongues, London.

Schrader, O. 1972 Prehistoric Antiquities of the Aryan Peoples, Delhi.

Sen, D.K. 1964-65 'Ancient Races of India and Pakistan—A Study of Method', Ancient India, 20-21, 178-205.

Sethna. K.D. 1981 Karpas in India, New Delhi.

Shaffer, Jim G. 1982 'Harappan Culture: A Reconstruction', HC, 41-50.

1984 'Bronze Age Iron from Afghanistan : Its Interpretation for South Asian Prehistory', SAPSA, 41-62.

Shankaranand 1943-44 The Rgvedic Culture of the Prehistoric Indus, 2 Vols., Calcutta.

1955 The Indus People Speak, Calcutta.

1960-61 'What the Indus Seals Speak ?', PIHC, 23, 1.

1962 Hindu States of Sumeria, When India Ruled the West, Calcutta.

1963 The Dictionary of Indian Hieroglyphs, Calcutta.

1965 History of Mohenjodaro and Harappa, the Rgvedic Culture of the Prehistoric Indus, IV, I, Calcutta.

Shankar Nath 1979-80 'Pre-Harappan Pottery from Distt. Saharanpur, U.P.', Puratatva, 11, 122-23.

Sharer, Robert 1982 'Did the Maya Collapse ? A New World Perspective in the Demise of the Harappan Civilisation', HC, 367-83.

Sharma, A.K. 1974 'Evidence of Horse from the Harappan Settlement of Surkotada', Puratatva, 7.

1982 'The Harappan Cemetery at Kalibangan : A Study'. HC, 297-99.

Sharma, G.R. 1979 'Mesoltithic Cultures in the Ganges Valley', A Source Book of Archaeology, Delhi.

Sharma, R.S. 1974 'The Later Vedic Phase and the Painted Grey Ware', PIHC, Calcutta.

1983 Material Culture and Social Formations, New Delhi.

Sharma, Y.D. 1979-80 'Pre-Harappans in Punjab', Puratatva, 11, 32 38.

Shastri, Suryakant 1950 The Flood Legend in Sanskrit Litrature, Delhi.

Sheard J.A. 1954 The Words We Use, London.

Shereen, Ratnagar 1981 Encounters : The Westerly Trade of the Harappan Civilization, Delhi.

Shendge, Malati 1981 The Civilized Demons, Delhi.

Shrivastava, K.M. 1984 'The Myth of Aryan Invasion of Harappan Towns', FIC, 437-44.

Singh, Bhagwan 1980-81 'Identification of Soma', Puratatva, 154-57.

Singh, Fateh 1952 The Vedic Etymology, Kota.

Singh, Gurdip 1979 The Indus Valley Cultures seen in the Context of Palaeodacial Climate and Ecological Studies', A Source Book of Archaeology, Delhi.

Singh, Ramcharitra 1961 'Homeland of the Aryans', JBRS 48, 1-4,290–311.

Sircar, D.C. - 1960 Studies in the Geography of Ancient India, Delhi.

Smith, Sidney 1931 'Sign List of Early Indus Script', Mohenjodaro and Indus Civilization, II, 418-22.

Sollas, W.J. 2nd Edn. The Age of the Earth and Other Geological Studies, London.

Spate, O.H.K. 1964 India and Pakistan, A General Regional Geography, London.

Srinivasraghavan, K. 1979 'Date of the Mahabharat War', Age of Mahabharat, 210-15.

Stokes, E.T. 1961 'The Administrators and Historical writings of India', Historians of India, Pakistan and Ceylon, London.

Subbarao, Bendpudi 1958 Personality of India, Baroda.

Subbarayappa 1870 'India's Contribution to the History of Science', ICWTC, Delhi, 47-60.

Surajbhan 1968 'Dawn of Civilisation in Haryana', Haryana Studies in History and Culture, Kurukshetra, 1-5.

	1969	'Excavations at Mithathal (Hissar)', JHS. I, 1, 1-15.
Swarup, Lakshman	1941	'Is the Indus Civilisation Aryan or Non-Aryan ?', AIOC, XI Session Summaries, 102-3.
Taddei, Maurizio	1970	The Ancient Civilisation of India, Tr. J. Hogarth, London.
Taraporewala, I.J.S.	1951	The Chants of Zarathustra, Bombay.
Thapar, B.K.	1970	'The Aryans : A Reappraisal of the Problem', ICWTC, 147-64.
	1973	'New Traits of the Indus Civilisation at Kalibangan : An Appraisal', SAA, 85-104.
	1975	'Kalibangan : A Harappan Metropolis beyond the Indus', Expedition, 17, 2, 19-32.
	1984	'Six Decades of Indus Studies', FIC, 1-26.
Thapar, Romila	1978	Ancient Indian Social History, New Delhi.
Thomas, Edward J.	1938	'Mohenjodaro and the Aryans', IHQ, XIV, 326-30.
Tilak, B.G.	1903	The Arctic Home in the Veda, Poona.
Tosi, M.	1973-74	'The Northern Eastern Frontier of the Ancieni Near East', Mesopotamia, VII1-IX, 21-76.
	1979	'The Proto Urban Cultures of Eastern Iran and the Indus Civilisation', SAA-1977, 144-71.
Toynbe, Arnold	1951	A Study of History, Vol. I, London.
Turner, R.L.	1962	Comparative Dictionary of Indo-Aryan Languages, Oxford.
Vats, Madho Sarup	1958	'Indus Valley Civilisation', CHI, I, 110-28.

Vedalankar, Jayachandra Narang 1958 'Regional Structure of India in Relation to Language and History', CHI, 33-52.

Vij, Brij Bhushan 1984 'Linear Standard in the Indus Civilisation', FIC, 153-64.

Vishnumitre 1974 'Palaeobotanical Evidence in India' Evolutionary Studies in World Crops, Diversity and Changes in the Indian Sub-continent, ed. Hutchinson, Cambridge.

1975 'The Beginning of Agriculture'. Indian Express, 19 Nov.

1978 'Origin and History of Agriculture in the Indian Sub continent', Journal of Human Evolution, 7, 31-36.

1979 Palaeobotanical Evidence in India', A Source Book of India Archaeology, Delhi.

1982 'Harappan Civilisation and the Need for a New Approach', HC, 34-39.

Waddel, L.A. 1925 Indo Sumerian Seals Deciphered, London.

Wailes, Bernard 1970 'The Origin of Settled Farming in Temperate Europe', IE&IEs, 279-305.

Wardle, William Lansdel 1959 'Deluge', Eneyclo. Brit., Vol. VII, 173-75.

Wasson, R.G. 1968 Soma, Divine Mushroom of Immortality, New York.

Whatmough, Josua 1956 Language : a Modern Synthesis, London.

Wheeler, R.E.M. 1947 'Harappa, 1946 : The Defence and the Cemetery R. 37', Ancient

India, 3, 81-83.
1953 Civilisation of the Indus Valley and Beyond, London.
1968 Early India and Pakistan, London.
1969 Review of the Birth of Indian Civilisation, by Allchin and Allchin, in Antiquity, 169, 72-73.

Wilson, H.H. 1926 Rgveda Samhita, 6 Vols., Poona.

Winternitz, M. 1927 A History of Indian Literature, 3 Vols., Calcutta.

Wooley, (Sir)C. Leonard 1928 The Sumerians, Oxford.
1934 Ur Excavations II, Royal Cemetery, London, Philadelphia.
1958 History Unearthed, London.

Wright, H.E. (Jr.) 1968 'Climatic Change in Mycenean Greece', Antiquity, 42, 167, 123-27.

Zimmer, Henrich 1953 Myths and Symbols in Indian Art and Civilisation, New York.

अंग्रेजी ग्रन्थ-सूची में प्रयुक्त संकेत

ABORI	Annals of Bhandarkar Oriental Research Institute. Bombay.
CHI	Cambridge History of India, Delhi.
CHI	Cultural Heritage of India, Calcutta.
Ency Am.	Encyclopedia Americana.
Ency Brit,	Encyclopedia Britanica.
FIC	Frontiers of Indus Civilisation, Ed. B.B. Lal & S.P. Gupta, 1984, New Delhi.
HC	Harappa Civilisation, Ed. G.L. Possehl, 1982. Delhi etc.
ICO	International Congress of Orientalists.
ICWTC	India's Contribution to World Thought and Culture.
IE & IEs	Indo-European and Indo-Europeans.
IHQ	Indian Historical Quarterly, Calcutta,
Imp. Gaz.	Imperial Gazeteer.
IHRI	Indian Historical Research Institute, Bombay.
IWI	Illustrated Weekly of India, Bombay.
Jas	Journal of Asiatic Society, Calcutta.
JBRS	Journal of Bihar Research Society, Patna.
JIH	Jornal of Indian History, Trivandrum.
JOI	Journal of Oriental Institute Baroda.
JRAS	Journal of Royal Asiatic Society of Great Britain and Ireland, London.
PAPDI	Pre-Aryan and Pre-Dravidian in India, Ed.P.C. Bagchi, Calcutta, 1929.

PBA	Proceedings of British Academy, London.
PIHC	Proceedings of Indian History Congress.
QRHS	Quarterly Review of Historical Studies, Calcutta.
SAA	South Asian Archaelogy.
SAPSA	Studies in the Archaeology and Palaeo-anthropology of South Asia, Ed. Kennedy & Possehl.
SBES	Sacred Books of East Series, Gen. Ed. F. Max Muller.

अनुक्रमणी

अंकुशी—I, 112, 213, 247.
अंगिरा (अंगिरस्)—I, 159, 175, 194, 200, 204, 208, 215, 216, 218, 219, 228.
अंजन—I, 187.
अंडमान—II, 229.
अक्काद—I, 54, 148; II, 157.
अगस्त्य—I, 59, 176, 205, 248, 298; II, 122.
अग्नि—I, 22, 81, 82, 83, 84, 98, 99, 111, 115, 116, 125, 140, 164-67, 171, 182, 183, 184, 198, 200, 201, 202, 208, 218, 235 238, 320, 379, 380; II, 43, 62, 64, 70, 86, 91, 95, 96, 105, 234, 235, 237.
अग्रवाल, डी. पी.—I, 113, 115, 136; II, 241.
अग्रवाल, वासुदेव शरण—I, 23, 34, 392.
अतिथिग्व—I, 189. > दिवोदास.
अत्रि—I, 176, 205.
अदिति—I, 84.
अधिराट—I, 317.
अधिवक्ता—I, 318.
अनऊ—II, 132.
अनस्—I, 116, 193. > बैल.
अनातोलिया—I, 36; II, 138.
अनार्य—I, 51, 63, 75; II, 120, 121, 124, 158.
अनास—I, 81, 322; II, 102, 127.
अन्त्येष्ठि—I, 294-97; II, 17.
अन्नागार—I, 104, 113, 114.
अपराजिता दिशा > दिशा, अपराजिता.
अपांनपात—I, 95.
अप्सरा—II, 117, 121, 160, 161.
अफ़ग़ानिस्तान—I, 42, 54, 150, 182, 212, 217, 226; II, 21, 101, 113, 115, 116, 117, 118, 122-29, 132, 133, 175, 182, 185, 186, 187, 191, 219.
अबाबील—II, 227.
अमरी—I, 340.
अमलनेकर—II, 27.

अम्बरीष—I, 175.
अयस्—I, 42, 44, 87.
अर्कोसिया—I, 221, 222; II, 32.
अर्मीनिया—II, 110.
अर्यमा—I, 84, 99, 192, 196.
अलंकार—I, 110; II, 90. > आभूषण.
अली, एस. ए.—II, 115, 159, 160, 161.
अलीमुराद—I, 51.
अली, मोहम्मद—II, 162.
अलैक्जेंडर टिल—II, 146, 167.
अल्तेकर—I, 326, 327, 330.
अल्फोंसे द' कांदोल—II, 80.
अवाच—II, 127.
अवि—I, 135; II, 163.
अवेस्ता—I, 78. 280; II, 28, 72, 133, 134, 135, 165; —और ऋग्वेद—II, 4-11; —और वैदिक भाषा—8.
अशनि—I, 123.
अश्मचक्र—I, 137.
अश्व—I, 42, 43, 67, 68, 102, 111, 112, 123, 127, 135, 142, 210, 226, 227, 231, 256; —आरोही संस्कृति—I, 42, 43.
अश्विनीकुमार—I, 42, 84, 122, 126, 175, 176, 180, 181, 204, 207, 301.
अष्ट्रा—I, 116, 136.
असि—I, 90.
असुर—I, 76-80, 81, 220; II, 40, 50, 52, 63, 64, 67, 68, 69, 70, 71, 83, 91, 92, 94, 103, 104, 105, 127, 204, 212-13;—शब्द की व्युत्पत्ति—II, 60, 61.
अस्तर घाटी—II, 123.
अस्थाना, शशिप्रभा—I, 188, 189, 212, 213, 256; II, 164, 165, 166, 181, 196.
अस्पृश्यता—II, 250-53.
आइलर, ए. एस.—II, 159.
आंगिरस, भिक्षु—II, 208.
आदित्य—I, 193, 206.
आपिशलि—II, 254.
आप्टे, वी. एम.—I, 137, 210, 334.
आभूषण—I, 109, 127, 153, 186, 215, 316; II, 16.
आर्जुनेय—I, 175, 205.
आर्य—I, 7, 13, 21, 22, 27, 28, 37-40, 43, 61, 64, 75, 177, 215, 220 226, 261, 262, 264, 301, 319; II, 109, 111, 112, 130, 134, 170, 171, 180, 185, 213, 234;—,ईरानी—II, 143;—, भारतीय—II, 143;—बस्तियाँ —II, 108-13;—शब्द का अर्थ/प्रयोग—I, 38, 105; II 108-13;—आक्रमण—I, 35-73, 65, 74, 79, 80; II, 21 147, 149, 154, 157, 203-5, 237;——कारी—I, 35, 36; II, 175;—आव्रजन—I, 35-36; II, 13, 21;—घुड़-

सवार—I, 85; —भाषा> भाषा, आर्य;—व्रत—II, 159; संस्कृति>संस्कृति, आर्य;—वर्ज्य क्षेत्र, I, 53, 64.
आर्याना—II, 123, 126-27.
आर्यावर्त—I, 64.
आर्यीकरण—I, 226; II, 121, 126, 127.
आलमगीरपुर—I, 340.
आल्चिन—I, 71, 104; II, 193, 196, 197.
आल्तिन देपे—II, 129, 155.
आवास—I, 127, 231-43;—की कामना—I, 239-43;—के पर्याय—I, 236.
आस्त्रिक—II, 113.
आहार अन्वेषण (-संग्रह और आखेट) —I, 43; II, 23, 35, 36, 46, 53, 54, 55, 56, 74, 89, 93;—की अवस्था—II, 41.
इतिहास, भारत का—I, 1-2, 11, 26 263;—का लेखन—I,2-8; —दृष्टि, वैज्ञानिक—I, 8-11; —भाववादी-I,7;—वैज्ञानिक-I, 7; —कार—I, 5-8,11, 29, 109;——, पाश्चात्य—I, 5, 109;——, पुनरुत्थानवादी—I, 5, 7,8;——,मार्क्सवादी—6-8;——की भूमिका—I, 29.
इन्द्र—I, 15, 19, 50,51,76, 77, 78, 79, 80, 83, 84, 88, 94, 95, 96, 98, 99, 111, 115, 116, 126, 141, 161, 163-64, 166, 172, 176, 177, 182, 183, 184, 190, 191, 193, 196, 200, 202, 203, 206, 208, 215, 216, 218-19, 228-29, 231,234 235, 292, 293, 304, 319, 320, 379, 380, 381; II, 9, 94, 95, 117, 126, 127 130, 133, 204, 207, 209, 211, 224,253;—देवताओं में सबसे ऊपर—II, 9;—के देवत्व का अस्वीकार—II, 9-10;—वणिक—I, 172; —की श्रेष्ठता को चुनौती—II, 120;—प्रथम अश्वारोही—II, 163;—का अधःपतन—II, 126.
इन्द्रकुन—II, 123, 126.
इन्द्राणी—II, 9.
इब्लीस—II, 196.
इभ—I, 112.
इमेनो—I, 36, 66, 289.
ईंट—I, 21, 22, 50, 51, 121-22, 199, 237, 239, 245; II, 155;—का आविष्कार—I, 238; —का प्रयोग—I, 239; II, 189.
ईराक़—I, 36; II, 57, 58.
ईरान—I, 12, 36, 54, 78, 79, 90, 150, 182, 213, 222, 227, 349; II, 10, 15, 58, 110, 113, 132, 133-37 138, 170, 172, 173, 175, 182, 185, 187;—का भारत से सम्बन्ध—II, 11.

ईरानी,-भूमि—II, 21.
—पद्धति—II, 7;—धार्मिक विश्वासों के पीछे अथर्वा का मुख्य हाथ—II, 10.
ईसाई मिशनरी (-चर्च, -प्रचारक)—I, 1, 3, 109.
उक्रेन—II, 137.
उग्रादेव—I, 175, 204.
उत्तरज्योतिष—II, 123.
उत्नापिष्टिम—II, 230, 231, 232.
उत्पादन—I, 166; II—68;—अतिरिक्त—88-95, 186, 187;—साम्यवादी—I, 128.
उद्योग—I, 120, 151.
उपवक्ता—I, 318, 321.
उपस्तुत—I, 176, 205.
उर्वरता की उपासना—I, 377-81.
उर्वशी-पुरूरवा—II, 122.
उशना—I, 125, 140, 184; II, 117.
उषस्ति चाक्रायण—II, 248-49.
उषा—I, 257.
ऊँट—I, 109, 110, 156, 172, 173, 182; 187, 213; II, 47, 48, 72.
ऊन—I, 125, 135.
ऊर—I, 113, 149; II, 199, 226.
ऋज्राश्व—I, 175.
ऋण—I, 151, 152, 189, 246, 255, 305.
ऋणात्मक प्रमाण—I, 20, 25.
ऋतस्तुभ—I, 175.
ऋत्विज—I, 215.
ऋभु (-गण)—I, 99, 122, 126, 140, 141, 142, 181, 199, 235, 301, 389.
ऋषभ यातातुर—II, 246.
ऋषि—I, 3, 17-18, 23, 34, 158-59, 174, 175, 176, 194, 215, 219, 254, 319, 320, 349, 350; II, 9, 18, 77, 78, 111, 113, 117, 129, 132, 140, 141.
ऋषिका—I, 33, 303.
ऋष्टि—I, 89, 90, 101, 216.
एकराट—I, 317.
एगलिंग—I, 345; II, 162, 225, 234, 237, 242.
एज़रबैजान—II, 133.
एतश—I, 175, 204.
एलाम—II, 157, 172.
एशिया माइनर—I, 56, 78; II, 148-51;—के अभिलेख—II, 14-15.
एशियाटिक सोसायटी—I, 2.
एंड्रयूज, ऐंटनी—II, 147, 167.
ऐडम्स, डब्ल्यू. वाई.—I, 325; II, 168, 171, 195.
ऐयर, कामेश्वर—II, 13, 29.
ओएनेस—II, 152.
ओझा, गौरीशंकर हीराचन्द—I, 5, 340, 362.
ओल्डेनबर्ग—II, 187, 212.
ओपस—I, 187, 212.
औज़ार—I, 122-24, 236; II, 16.
औषधियाँ, आरण्यक (वन्य धान्य)—

II, 38, 39;—ग्राम्य (कृष्ट धान्य)—38-39.
औशिज—I, 175, 204.
कक्षीवान—I, 175.
कच्छी—II, 118, 120, 191, 194.
कटार—I, 88.
कण्व—I, 175, 176, 204, 205.
कताई-बुनाई—I, 124-25; II, 22.
कनिंघम—II, 242.
कन्दहार—II, 115.
कपड़ा—I, 280; II, 22. >वस्त्र
कपोत—I, 351, 367. > कबूतर
कबूतर—I, 179; II, 227, <कपोत
कम्बोज—II, 101, 116, 161,
करघा—I, 125, 140, 186, 312, 313.
करायल—II, 22.
कर्जन—I, 287.
कटियस—II, 110.
कर्णशोभन—I, 186.
कर्मकाण्ड—II, 65, 207-8.
कर्मार—I, 120; II, 187,
कलश—I, 121, 177.
कला—I, 131, 152,
कलात—II, 115, 121, 191.
कलि—I, 175.
कल्ल, लक्ष्मीधर—I, 289.
कवच—I, 21, 22, 92,
कश्यय—II, 132
कषव—I, 175.
काँसा—II, 21, 24; II, 189.
काइजिलकुम—I, 129.
काकेशश—II, 110, 138.
काक्स, जार्ज, डब्ल्यू.—I, 32.
काठियावाड़—I, 53, 110.
काणे—I, 5, 326; II, 3, 166, 257.
काण्व—II, 9.
काफिर—II, 125.
काफिरिस्तान—II, 123.
काबुल—II, 123, 124; > कुभा.
कारन्त—I, 199.
कार्पेंटर, रायस—I, 66.
कार्यविभाजन—I, 38, 120-22, 153, 298, 300.
कालीबंगां—I, 23, 71, 104, 114, 340; II, 186, 188.
काल्डवेल—I, 289; II, 159.
काश्यप—II, 254.
किरथार—II, 115, 121, 123.
किरमान—II, 133.
किन्नर—II, 101, 113, 114, 116, 124, 126, 160, 161.
किन्नौर—II, 115.
किरात—II, 101, 114, 115, 116, 117, 118, 121, 122, 124, 160;—देश—II, 115.
किरात (किलात)—आकुली—II, 121.
क़िलेगुलमोहम्मद—II, 118, 179, 190, 194.
किसान—I, 48, 62, 63, 108, 115, 118, 119, 319; II, 65, 66, 96, 97, 170, 171.
कीथ—I, 16, 33-34, 36, 46, 56, 65, 96, 133, 223, 232,

241, 288, 289, 323, 324, 330, 386; II, 15, 27, 32, 52, 169, 241.
कीनाश—I, 116, 136, 227; II, 93.
कुक्कुट—II, 47.
कुत्ता—I, 110, 173, 176, 306, 388; II, 47, 72.
कुन्हराज—I, 327, 329.
कुबेर—II, 117, 123, 130, 160, 161. > खैबर.
कुभा—II, 124.
कुमारस्वामी—I, 5.
कुम्भकार—I, 121.
कुरीर—I, 187.
कुरु—I, 292; II, 248.
कुरुक्षेत्र—I, 54.
कुर्गन संस्कृति > संस्कृति, कुर्गन.
कुर्दिस्तान—II, 130.
कुर्रम—II, 124; > क्रुमु.
कुलिश—I, 89, 123.
कुल्ली—I, 149, 376; II, 118, 152, 156, 161, 168, 179.
कुल्हाड़ा—I, 89, 123.
कूचक्र—I, 116, 123; II, 136.
कृति—I, 216,
कृत्या—II, 209-10.
कृपाण—I, 90.
कृषक—I, 127. > किसान.
कृषि—I, 62, 104, 106, 107, 113-20, 127, 215; II, 38, 40, 41, 43, 75, 124, 152, 180;—का आविर्भाव/आविष्कार—II, 38-40, 55-59, 124, 176;—उत्पाद—II, 117;—की आरम्भिक कठिनाइयाँ—64-66; —कर्मी देवता II, 90-94;—क्रान्ति—II, 33, 35, 41, 43, 45, 53-88, 89, 171, 195;—क्षेत्र—II, 98;——का प्रसार—II, 183;—जन्य समृद्धि—II, 185, 186, 187;—यज्ञ—II, 61-62, 65, 91;——का विस्तार—II, 67, 71, 186;—और नये धान्यों की की तलाश—II, 73;—और मृद-भाण्डों का आविष्कार—II, 74;—और भाषा का विकास—II, 76-78; —और शक्ति के नये स्रोत—II, 72-73.
कृष्टी—I, 106, 108, 155, 200; II, 186,
कृष्णराव—I, 339.
केनेडी, केनेथ ए. आर.—I, 73, 323.
केसरवानी, अरुण—I, 100; II, 167.
कैस्पर, ए. डी.—I, 188.
कैस्पियन सागर—II, 132.
कॉफ़, डेविड—I, 30.
कोकचा—II, 123, 132.
कोटदीजी—I, 291, 340; II, 179.
कोनो—II, 15,
कोल—I, 272, 275.
कोलब्रुक—I, 30; II, 257.
कोल्डिहवा—II, 51, 58, 59.
कोश—I, 16, 121, 154, 155.
कोसम्बी, डी. डी.—I, 6-8, 31, 32,

33, 34, 56, 60, 72, 73, 90, 97, 101, 133, 134, 237, 252, 322, 323, 324, 327, 328, 349; II, 15, 29, 149, 167, 234, 242, 249, 258.
कोहिस्तान — II, 115.
कौआ—I, 179, 187; II, 227, 228.
क्नोरोज़ोव—I, 339.
क्वेटा—II, 120.
क्रय—I, 203, 208.
क्रागमैन—II, 217.
क्रीट— II, 143, 147.
क्रुमु—II, 30.
क्रैमर—I, 188, 211; II, 242.
क्षत्रिय— I, 7, 151, 299, 301, 327, 384; II, 63, 92, 93, 94, 207, 249.
खच्चर—I, 154, 156, 172, 182 II, 111, 188.<अश्वतर.
खनिज(-भण्डार-सम्पदा-)—I, 160, 217; II, 117, 124, 125, 132.—स्रोत— I, 214-32
खनित्र—I, 89, 90, 123
खाद्यान्न—I, 118, 305.
खान-पान— I, 305-7.
खान, एफ़.ए. I, 94; II, 168.
खापुज देपे—II, 132.
खेतड़ी—I, 150, 173, 182.
खेती— I, 63, 113, 119, 127; II, 61, 62; 65.—, झूम— II, 16, 65, 69.
खैबर—I, 184; II, 117;<कुबेर.
खोकन्द—II, 129.
गंगा—I, 44, 53, 64, 65; II, 31, 193, 232, 246.
गदा— I, 21, 88.
गधा—I, 42, 43, 67, 110, 111, 112, 127, 154, 156, 172, 176, 182, 225; II, 17, 43, 47, 48, 72, 111.
गण, वैदिक समाज में सम्मिलित—I, 292.
गणपति— I, 318, 389.
गणना—I, 132; दाशमिक क्रम—I, 129,— द्विगुण क्रम—I, 129.
गणित—I, 358-59; II, 175, 254.
गन्धद्रव्य/लेप—I, 212; II, 152, 156.
गन्धमादन—II, 115, 160.
गन्धर्व—I, 43, 68, 212; II, 101, 113, 114, 115, 116, 117, 118, 122, 123, 124, 126, 127, 129, 160, 161, 162,— लोक—II, 123.
गन्धार—I, 24, 36, 43, 111; II, 115, 125, 163.
गन्धारी—II, 120.
गर्दभरथ—I, 67.
गल्प, भारोपीय— I, 14.
गविष्टि—I, 109, 168, 172, 203, 219; II, 50.
गवेषण — I, 105, 109, 168, 172, 203, 219.
गाइल्स, प्रो.— I, 36, 56, 65, 286, 349; II, 15, 27.

गाथा—II, 5-7, 8-9, 25-26.
गाय/गो—I, 21-22, 43, 48, 81, 93, 107-8, 111, 130-31, 133-34, 154, 156, 157, 168, 187, 195, 200, 214, 215, 216, 218, 219, 229-31; II, 20, 47, 48, 50-51, 72, 87, 142, 163.—वैदिक जनों का मुख्य पशु—I, 17;—का दैवीकरण आर्थिक कारणों से—II, 10.
गार्ग्य—II, 9; 254.
गालव—II, 254.
गिलगमेश—II, 226, 230, 231, 232.
गिलगिट—II, 115, 123.
गुजरात—I, 53, 68; II, 112, 230.
गुडएनफ़—I, 286.
गुप्त, एस. पी.—I, 32, 37, 66, 100, 189, 278, 289, 295, 325; II, 40, 50, 132, 164, 165, 168, 181, 196, 197.
गुमला—II, 118, 179, 188.
गुलाम—I, 186.
गुहा, बी. एस. —I, 323, 383.
गेल्डनर—I, 317; II, 164.
गेहूँ/गोधूम—I, 14, 118, 119, 137, 307; II, 55, 58, 73, 74, 89, 88.—म्लेच्छ भोजन—I, 118-19; II, 73.
गैंड, सी. जे.—I, 343.
गैंडा—I, 110.
गो—I, 106.107. —विनिमय की इकाई—I, 130-131;—मान—I, 108, 131.
गोवध—I, 307.—बलि—II, 42.
गोमल (गोमती)—I, 64; II, 120.
गोमांस—I, 25, 306, 402, 415.
गोरखप्रसाद—II, 13, 29.
गोर्डन, डी.एच.—I, 133, 134, 138; II, 195, 223, 241.
गोल्डश्टकर—I, 344, 362, 367; II, 3.
ग्रांट, चार्ल्स—I, 31.
ग्रामणी—I, 318, 319.
ग्रिफ़िथ—I, 152, 189, 251; II, 164.
ग्रियर्सन—I, 44, 56, 66, 68, 72, 263, 286, 288, 349; II, 130, 164.
घुनें—I, 67.
घोड़ा—I, 21, 22, 24, 41-44, 48, 67, 68, 85, 88, 91, 110, 111, 127, 136, 152, 156, 172, 180, 182, 183, 184, 185, 187, 213, 225, 247; II, 16, 17, 43, 47, 48, 111, 125, 138, 140, 142, 163, 72, 188, 191, 246.
घोड़े का मूल्य—I, 43.
घोष, ए.—I, 31.
घोष, बी. के.—286, 287, 289; II, 27, 150, 167.
चक्र—I, 90.
चक्रवर्ती, दिलीप—I, 2; II, 196.

चटर्जी, जतीन्द्र मोहन—II. 10, 28.
चटर्जी/चाटुर्ज्या, एस. के.—I, 32, 45-46, 56, 67-68, 70, 72, 145, 174, 289, 322,323, 324, 326, 327, 349, 382; II, 111, 138-139, 143-144, 159, 166, 167-168.
चट्टोपाध्याय, के.—I, 232.
चट्टोपाध्याय, डी. पी.—I, 33, 144, 228, 324, 332, 334, 377. II, 87.
चतुर्वेदी, गिरिधर शर्मा—I, 324; II, 9, 28, 120, 162.
चन्द, रामप्रसाद—I, 45, 46.
चन्दन—I, 150.
चमस—I, 121.
चरखा—I, 310, 311.
चर्षणी—I, 155, 173, 319; —धृत—I, 319.
चाँदी—I, 21, 132, 150, 182, 215; II, 136, 191.
चाइल्ड, गोर्डन—I, 31, 72, 188; II, 50, 55, 57, 79, 181, 196.
चाक—का आविष्कार—I, 121; II, 188, —निर्मित भाण्ड—II, 188-89.
चाकलदार—I,73.
चाक्रवर्मण—II, 254.
चाडविक—II, 143.
चान्हूदड़ो—I, 150.
चायमान, अभ्यावर्ती—I, 80, 97, 192.
चावल—I, 23, 118, 119, 306.
चिचित्सक—I, 299.
चिकित्सा—I, 359-62; II, 175, 254.
चितराल—II, 115, 123,
चित्रगुप्त—I, 343.
चित्रलिपि—I, 344.
चिरन्द—II, 180.
च्यवन—I, 180-81, 359.
छुरा—247.
जग्रोस पहाड़ियाँ—II, 75, 192.
जरथुस्त्र—II, 9, 134, 135; —वाद—II, 11.
जर्मनी—II, 110.
जर्मो—II, 191.
जल प्रलय, II—222-223
जलीलपुर—II, 188.
जाति—I, 120.
जायसवाल, काशीप्रसाद—I, 5,334.
जावीचेमी—II, 43.
जिम्बुतास, मारिजा—I, 32, 287; II, 29, 166.
जुआ—I, 247-48.
जेन्द—छन्द का तद्भव—II,8-9; —फारस की भाषा नहीं—II, 134.
जेरिको—II, 58, 191.
जैरिज—II, 22, 32, 79, 176, 190, 191, 196, 197.
जोन्स, विलियम—2, 5, 6, 7, 14, 18, 30, 32, 261, 286.
जोरास्टर—II, 8;—मतावलम्बी भारत, में बसे थे—II, 8.
जोर्डन—II, 58.
जोशी, जे. पी.—I, 32, 42, 67,

254.
जोशी, पी. एम० —II, 168.
ज्याइनर —I, 41.
ज्यामिति—I, 354-57.
ज्योतिष—I, 263, 357-59; II, 24-25, 65, 78, 175, 254, और वैदिक रचनाकाल—II, 11-15, 26.
झूकर—I, 12, 340.
झोब—II, 161.
टट्टू—I, 42, 43, 110, 111, 154, 184; II, 48, 188.
टीन—I, 150; II, 136.
टोटेम—I, 292; II, 207.
ट्वाइनिंग—I, 30.
डांगे, एस. ए.—I, 33, 324; II, 258.
डाबरकोट—II, 118.
डायन, इनसाइडर—I, 289.
डारमेस्टेटर—II, 134, 165.
डिरिंजर, डेविड—I, 340; II, 167.
डुरांट, विल—I, 191; II, 155, 164, 168, 171, 195, 242.
डेल्स, जार्ज एफ.—I, 71, 94; II, 215, 242.
डोरियन क्रान्ति—II, 146-147.
तकनीकी विकास—II, 54, 74, 77, 185, 190; —का भौतिक आधार—I, 121.
तकली—I, 311.
तक्षण—I, 126, 141.
तन्तु—I, 123.
तन्तुवाय—I, 120.
तन्त्र—I, 123.
तन्त्र मन्त्र—II, 156, 209-10.
तपनी—I, 98.
तमिल—I, 59.
तरुषन्त—I, 175.
तस्कर—I, 75, 92, 99.
ताँबा—I, 21, 43, 44, 182; II, 189.
ताहिरबाई देपे—II, 132.
तिरिन्दिर—I, 176, 206.
तिलक, बी. जी.—II, 3, 11, 12.
तीर-धनुष—I, 123.
तुग्र—I, 174-75, 204.
तुर्कमीनिया/तुर्कमीनिस्तान—I, 286; II, 172, 175, 176, 187, 191.
तुर्की—I, 150; II, 55, 57; 112, 138, 141 148. >एशिया माइनर
तुर्वश—I, 174, 204, 292.
तुर्वीति—I, 204, 205.
तूरान—I, 286.
तृत्सु—I, 205, 222.
तेजेन डेल्टा—II, 129, 176.
तोगऊ—II, 190, 194.
तोशी—I, 188; II, 196.
त्रसदस्यु—I, 93, 175.
त्राम्बेत्ती—I, 275, 287.
त्रिपोली—I, 286.
त्वष्टा—I, 84, 122, 126, 141, 235, 242, 301; II, 211, 214, 218.
त्सिमर—I, 294, 296, 317, 320, 332.
थापर, रोमिला—I, 30, 32, 33,

41, 60, 66, 67, 71, 72, 118, 119, 137, 300, 325-326, 327, 328; II, 73, 87, 228, 241, 242, 258.
थापर, बी. के—I, 32, 36, 37, 136, 146, 278, 289; II, 168.
दजला-फ़रात क्षेत्र—I, 114; II, 136, 151-58, 185, 199, 226, 227.
दधिक्रा—I, 184.
दम्बसादात—II, 118, 179.
दरद—I, 102, 115.
दशग्व—I, 159-60, 215, 219.
दात्र—I, 123, 124, 140, 216.
दान—I, 16, 109, 130, 151, 161-62, 176, 186; II, 112; —स्तुति—I, 106, 108, 109, 151.
दानी, अहमद हसन—I, 340, 364.
दार्शनिक चिन्तन—I, 58.
दाशमिक प्रणाली—I, 129, 145.
दाशराज्ञ युद्ध—I, 160, 177; II, 120, 124, 207, 216.
दास—I, 37, 38, 39, 78, 96, 105, 108, 151, 170, 177, 220, 224-25, 318; II, 90, 93, 94, 95, 96, 186, 207; —वर्ग/प्रवर्ग—I, 225, 230, 318; —श्रम—I, 151.
दास, अविनाशचन्द्र—II, 27.
दासी—I, 105, 151, 318; II, 90, 205.
दिज़मार—II, 133.
दिवोदास—I, 50, 52, 79-80, 95, 96, 221, 222, 224, 225.
दिशा, अपराजिता—II, 78; —, देवों की—II, 62, 81; —, पितरों की—II, 63, 81-82; —, मनुष्यों की—II, 63, 81-82.
दीर्घश्रवा—I, 175, 204.
दीक्षित, शंकर बालकृष्ण—I, 368; II, 13, 29.
दुर्ग—I, 50, 79, 96, 182, 183, 208;
दुर्रानी—I, 188.
दुहिता—I, 125, 140, 302.
दूत—I, 318.
दृति—I, 244.
देव (ता)—I, 18-19, 33, 177, II, 8, 40, 50, 52, 59, 61, 62, 64, 65, 67, 68, 69, 83, 91, 94, 103-107, 123, 133, 175, 204, 236; —, अनार्य—I, 382; —, प्राचीनतम—I, 383; —यान—I, 185, 210; II, 123, 162; —शब्द की व्युत्पत्ति—II, 82; —असुर संग्राम / संघर्ष—II, 40; 41, 62-64, 68, 121. —शास्त्र—I, 8.
देवी—I, 318.
देवों के युग्म—I, 380
देसालपुर—I, 340.
द्यूत—I, 246-48. >जुआ
द्रविड़—I, 45, 60, 272, 275,

339, 341, 382; II, 153.
द्रोण—I, 121, 137.
—कलश—I, 393.
द्वारका—II, 101.
द्विगुणक्रम—I, 129.
द्विवेदी, कपिलदेव—I, 289.
धन—I, 164, 168, 176, 177; —, महा—I, 168;—सात—I, 168;—,पूर्वत पार का—I, 157, 194;—समुद्र का पार—I, 157, 194.
धन सम्पत्ति के रूप—I, 127—28.
धनुष-वाण—I, 21, 91, 123, 200, 216>तीर धनुष.
धर्म—I, 3, 4, 45, 370, II, 140; 141;—और विश्वास—I, 370 415;—, हड़प्पा सभ्यता का—I, 370; —की प्रकृति—I, 370-72.
धातु—I, 21, 215; —कर्म—I, 121; —विद्या—II, 152, 189, 190.
धान—II, 56, 59.
धान्य—I, 118; II, 59, 73.
ध्रुवतारा—II, 12, 13.
नगर—I, 21, 47, 48, 50, 52, 60, 244-45;II, 97, 98, 99; 158;—जीवन—I, 47, 233; II, 22; —प्रशासन—I, 245-46; —केन्द्रों का पतन—II, 183; —योजना—I, 235, 245,—सभ्यता—I, 24, 104, 105, II, 97, 142, 153, 156, 215; का विकास —II, 22, 76, —का उदय —II. 170, 197.
नदवी, सैयद सुलेमान—I, 213; II, 36, 50, 52, 242.
नगज्गा—II, 129, 132, 155, 190.
नर्तकी—I, 309.
नहर—I, 113, 114, 115, 117, 244; II, 75, 186.
नवग्व—I, 159-60, 194, 215, 219.
नाग—I, 272; II, 113.
नागर—II, 123.
नाड़पित—II, 121.
नाय—I, 318.
नारद—II, 129.
नाल—II, 121.
नाव/नौ(का)—I, 123, 156, 157 173, 182, 189, 196, 204, 208, II, 73, 154, 182, 187, 247;—निर्माण—I, 124;—वहन—I, 149;—समुद्रगम्य—I, 207; II, 187, 213.
नाविका—I, 163.
नासिर, ए.—I, 217, 219, 228.
निन्दोवाड़ी—I, 340.
नियुत—I, 154.
निर्यात की वस्तुएं—I, 187.
निष्क—I, 132.
नीपर—II, 137.
नील की उपत्यका—II, 185.
नीलगिरि—I, 150; II, 156.
नीस्टर—II, 137.

नूरिस्तान—II. 123.
नृत्य (नाच)—I, 248.
नृमेध—II, 9.
नेता—I, 318.
नेपाल—II, 115.
नेम भार्गव—II, 10.
नेस्फील्ड, जे. सी.—I, 73, 323.
नैतिक (-ता)—I, 170.
—आदर्श—I, 304-305.
—मान्यताएँ—I, 16.
न्याय व्यवस्था—II, 97.
पंजकौरा—II, 115, 123.
पक्थ—I, 293; II, 120.
पख्तून—II, 120.
पगड़ी—I, 177, 308, 315, 319.
पणन—I, 185.
पठानीदम्ब—II, 118, 194.
पणि—I, 200, 208, 214, 215, 219, 221-27, 230-31.
पण्ड्या, सुमन—I, 134.
पदाधिकारी—I, 318.
पदक्रम—I, 319.
पन्याल—II, 123.
परम्परा (श्रुत)—I, 25, 26, 244, 327, 347, 350; II, 139, 147,244,—,ईरानी—I,160; II, 136, 137, 140, 152; —पश्चिमी (एशियाई)--II, 35, 40, 41;—,पौराणिक—II, 113;—,वाल्ट,—II,152;—, बेबीलोनी—II, 152;—, भारतीय—I, 11; II, 36-40, 62; — यूनानी,—II, 137; —, लटवियन—II, 139, 140; —, वैदिक—I, 370; II, 151 —, सुमेरी--II, 152, 154, 155.
परशु—I, 21, 89, 101, 123, 138.
परिमाणवाची—I, 154.
परुष्णी—II, 120.
पर्वत—I, 78, 79, 84, 96, 182, 183, 209, 216, 228;—ईय मार्ग—II, 120.
पवि—I, 216.
पशु—I, 110;—भारवाही—I, 154, 156; II, 73, 182;—धन—I, 48, 63, 104, 169; II, 17, 52, 62, 73, 93, 117, 124;—पालन/चारण—I, 19, 38, 84, 85, 107, 110-13, 127, 151. 162, 166; II, 16, 33, 40, 41, 42, 43, 49, 50, 61, 62, 72, 89, 93, 125, 142, 179;——का आरम्भ—II, 43-46,—चारी संस्कृति—I, 8, 107; II, 186;—और प्राणिजगत के प्रति भारतीय दृष्टिकोण—II, 49.
पशुपति—I, 381; II, 72.
पहिया—I, 123, 124; II, 16, 187, 188;—,ठोस—II, 16, 188; —अरायुक्त—II, 17, 188.
पश्चिमी एशिया—I, 113, 114, 148, 149, 272; II, 33, 45 46, 55, 56, 57, 100, 101,

151, 156, 170, 181, 198 224, 227;—की सृष्टि कथाएँ —II, 34-36, 158, 240, 247.
पांचाल सात्रासाह—II, 246.
पाइथागोरस—I, 3.
पाठक, वी. एस.—I, 66, 242, 346 365; II, 160.
पाणिनि—I, 38,334, 337, 338; II, 8, 254, 255.
पाण्डे, गोविन्दचन्द्र—II, 234, 242.
पाण्डे, राजबली—I, 340, 362, 364.
पात्र—I, 22, 24>भाण्ड.
पामीर—II, 115, 160;—बदख्शाँ —II,101, 115.
पार्पोला, ए.—I, 339, 342, 365.
पाल—I, 179.
पिक्ते—II, 110.
पिगट, स्टुअर्ट—I, 67, 134, 148, 149, 188; II, 50, 195, 196, 214.
पिशल—I, 359.
पिशिन—II, 120.
पुर/पुरी—I, 50, 52, 77, 79, 96 97; II, 204.
पुरन्दर—I, 50, 52, 79.
पुरन्धि—I, 359.
पुरातत्व—I, 11-13, 25, 26; II, 188, 228;—की सीमा—I, 26;II, 155;पुरातात्विक साक्ष्य/ प्रमाण—I, 26, 36, 54, 149 II, 16, 153, 158, 171, 175,180,185, 232, 255.
पुरु—I, 222, 292.
पुरुकुत्स—I, 175, 204.
पुरुषन्ति—I, 175.
पुरोहित/पुरोधा—I, 299, 301, 302, 306.
पुसालकर—II, 163.
पूजा—I, 399-402.
पूषा—I, 19, 84, 162-63, 171, 196, 202, 203, 210, 210 231, 351; II, 41, 42.
पृथुवैन्य—II, 124-125.
प्राग्ज्योतिष—II, 41, 114, 115.
पौराणिक भूगोल—II, 114.
प्रजापति—II, 59, 62, 63, 83.
प्रतिपणन—I, 203.
प्रपण—I, 198, 203.
प्रशासन—I, 163;—व्यवस्था— II, 97.
प्राणनाथ—I, 339; II, 168.
प्रित्सलुस्की—I, 289.
प्रियमेध—I, 176.
प्लेटो—I, 3.
फरसा—I, 88 II, 16.
फरात—I, 114.
फाइनडे, एम. आई.—II, 167.
फाब्री—I, 188.
फारस—I, 212; II, 8;—की खाड़ी —152, 153, 154, 172, 229.
फाल—I. 116, 136.
फीनीशियन—II, 232.
फ़ीरोज़ा—I, 211; II, 22, 132, 136.
फेयरसर्विस—II, 196.

फ्रीड्रिक, पाल—I, 280,281, 290.
फ्रैंकफर्ट—I, 188; II, 52, 171, 195.
बकरी—I, 48, 110, 111; 154, 157; II, 42, 43, 47, 51, 52, 125, 142.
बक्स्टन—I; 323.
बटेरा—II, 123.
बतख—I, 110.
बदख्शाँ—I, 150, 217, 220; II, 101, 115, 129.
बधियाकरण—I, 136.
बरखान—II, 120.
बरो, टी.—I, 263-65, 266, 286 289; II, 15, 142, 143, 159, 167, 169.
बर्तनायक्स—II, 139.
बर्न्ट व बर्न्ट—I, 190.
बर्बरता—I, 109.
बलूचिस्तान—I, 54, 83, 149, 214, 217; II, 101, 114, 115, 117, 118—122, 153, 172, 175, 179 182, 185, 187, 188, 191, 192, 201, 214.
बल्बूथ—II, 121.
बहरीन—II, 153.
बह्लीक—II, 9, 101, 116, 120, 161.
बाल्टिक क्षेत्र—II, 137—141.
बॉप्प, फ्रान्स—I, 268.
बालाकोट—I, 340.
बिल्ली—I, 110; II, 47.
बुशमेन—II, 54.
बूलर—I, 339, 340, 363, 364, II, 3, 29.
बेबीलोनबेबीलोनिया—I, 54, 349; II, 136, 150, 152, 153, 157, 199, 228.
बीज—I, 116,136,137.
बुल्के कामिल—I, 282.
बृहस्पति—I,83, 167, 202, 209 307; II, 71, 86, 95.
बेंडर—I, 289.
बेड़ा—I, 180.
बेतवा—II, 193.
बेरोसस—II, 152, 155, 199.
बेलन (नदी)—II, 51.
बैल—I, 108, 156, 172, 182, 225; II, 7, 72, 188.
—गाड़ी—I, 109, 173.
बैक्ट्रिया—I, 286
बैशम, ए. एल.—I, 71, 72, 101, 134, 138, 189, 212, 254, 327, 332, 334, 364; II, 52, 168, 169, 214, 217, 220.
बोएज, फ्रान्स—I, 323.
बोगाजकुई—I, 56,78, 349, 380; II, 14, 148.
बोलन—I, 183, 184; II, 120, 121, 194.
ब्रह्मणस्पति — I, 83, 167, 200.
ब्रह्मा—I, 380.
ब्रॉक—II, 149.
ब्राउन, नार्मन—I, 150, 189.

ब्राउन, डब्ल्यू. एन.—I, 256.
ब्राहुई—I, 63; II, 118, 121, 125.
ब्राह्मण—I, 7, 61, 151, 299, 301, 326, 338; II, 63, 66, 92, 94, 111, 112, 207, 208, 247, 249, 251.
ब्राह्मी—I, 54, 338, 339, 340. 344, 351, 352; II, 255.
ब्रेडवुड—II, 50, 56, 79.
ब्रैंडस्टाइन. —I, 276-77.
ब्लाख—I, 103, 287, 289; II, 15, 29.
ब्लूमफील्ड—I, 133, 277, 279, 347, 366; II, 3, 18, 24, 29, 31, 32.
ब्लैनफर्ड, डब्ल्यू. टी,—I, 41.
भग—I, 84.
भण्डारकर—I, 5, 232; II, 15.
भरत—I, 205; II, 121.
भरतवंशी—I, 65.
भरत दोष्षन्ति—II, 246.
भरद्वाज—I, 175. 205, 221.
भलान—I. 292; II, 221.
भवन, सहस्रद्वार—I, 240, 241, 243, 253.
सहस्रस्थूण—I, 240, 241, 242, 253,
भारोपीय—भाषा—>भाषा, भारोपीय;—क्षेत्र—26.
भाण्ड, —I, 12, 21, 121, 391, चित्रित धूसर—12,'चाक निर्मित —II, 188-89.
भारत की स्व-विशिष्ट स्थिति 172-75.
भारतीय ईरानी (शाखा)—II, 9, 129, 135.
भारोपीय जन, मूल—I, 13, 15.
भारोपीय—सभ्यता—II, 8,—मूल निवास—137, 138.
भारद्वाज—II, 254;
भागर्व—II, 15.
भाला—I, 22; II, 9.
भालू—I, 110.
भाषा वैज्ञानिक साक्ष्य—I, 36.
भाषिकआंकड़ों का उपयोग—I, 106.
भाषा—I, 14, 25, 35,5 6, 59-60, 61, 258, 290, II, 1, 4 6, 76-78, 112, 118, 121, 122, 134, 148, 149, 151, 153, 154, 156, 157, 158, 166, 175; अंग्रेजी—42;—अंग्रेजी—144;—अनातौली—274, 275; अर्मीनियन —I, 274; II, 142; अल्बानी —I,213, 279, 281 अवेस्ता >ईरानी—आयरिश, प्राचीन —I, 283; आयरिश मध्य कालीन—I, 281. आर्य—I, 44, 54, 275, 285. 301, परिमण्डल और मध्य देश की—44, 47, 339; II, 8, 113, 127, 140, 142, 148, 149, 151, 157, 158, 170; आस्ट्रिक—I, 285, आस्ट्रोनेशियन—I, 289, केन्तुम वर्ग —II, 142.
इतालवी—I, 27.

ईरानी/अवेस्ता—I, 268, 272, 276, 279.
केल्टिक—I, 274, 275.
ग्रीक—I, 42, 262, 265, 267, 268, 271, 273, 274, 283, 284; II, 142, 143, 144, 147.
जट—II, 118.
जर्मन—I, 262, 268, 273, 274, 275, 282.
प्राचीन उच्च जर्मन - I, 279, 281, 283, 284.
तुर्की—II, 129.
तूखारी—I, 265, 275, 283, 284.
दरद—102, 115, 127.
द्रविड़—I, 63, 272, 275, 285, 287; II, 113, 118, 159.
नाग—I, 272, 275.
नॉर्स, प्राचीन—I, 284.
पश्तो/पुश्तू—II, 115, 118.
पहलवी—II, 134.
पैशाची—II, 102, 127. 163.
प्रसियन, प्राचीन—I, 280.
प्राकृत—I, 285.
बाल्टिक—I, 282.
ब्राहुई—63.
भारतीय-ईरानी—I, 263, 264, 265, 273, 274, 276, 277, 304; II, 142.
भारोपीय—I, 14, 15, 260, 261, 264, 267, 268, 277, 280, 340; II, 7, 6 142, 143, 149.
मंगोल—II, 129.
मुण्डा—I, 275, 2 87.
यूराल अल्टाई—I, 282.
रूसी—I, 280.
लातिन—I, 42, 267, 268, 279, 283.
लिथुआनी—I, 273, 279, 281; II, 137.
वैदिक—I, 16-17, 46, 78, 137, 138, 175; सम्पर्क भाषा—II, 112, 113, 140.
संस्कृत—I, 2, 3, 14, 28, 260, 261, 262, 263, 264, 265, 266, 275, 276, 279, 282, 283, 284, 285;—का अतिरंजित महत्व—263-64, 265, 266-70, 272; II, 2, 5, 112, 113, 130, 133, 134, 139, 142.
सतेम वर्ग—II, 142.
सुमेरी—II, 156.
स्लाव—I, 273, 274, 278, 282, 283.
हित्ती—I, 265, 266, 275, 283, 284; II, 148, 150, 151.
हिब्रू—II, 6.
—का विकास—I, 14.
—अर्थ-विकास—I, 276-77.
प्राकृतिक परिवेश—I, 277-84.
भाषाद्वीप—II, 112.
—,विकसित—I, 259.
—व्यापारियों की—I, 18.
भाषा-विज्ञान—I, 362.

—भाषावैज्ञानिक दृष्टि—II,4.
भाषाओं की तुलना—II, 5, 6.
—हड़प्पा सभ्यता की—I,285.
भाषिक साक्ष्यों की खींचतान—II, 6.—का प्रसार—I, 286.
भिषग—I, 120.
भुज्यु—I, 174, 175, 180, 204.
भूजी—II, 123.
भूटान—II, 115.
भूदास—II, 92.
भूसम्पदा—I, 48; II, 93, 94.
भू-स्वामी—I, 108; II, 110, 90.
—स्वामित्व—I, 108, 116.
भृगु—II, 10.
भृष्टि—I, 90, 101.
भेड़—I, 110, 154; II, 42, 43, 125, 142.
भैंस—I, 110; II, 43, 47, 48, 52, 194.
भोगवादिता और दुर्व्यसन—I, 246-50.
मकरान—I, 51, 184; II, 121, 162.
मकान—I, 123.
मगहरा—II, 58, 59.
मछली—I, 21, 24, 306, 330; II, 68.
मजूमदार—I, 5, 334.
मणि—I, 186, 211, 215; II, 162.
मदिरा—I, 249.
मध्येशिया—I, 36, 54, 56, 182, 184, 214,227, 261, 263, 264, 272; II, 129-33, 182, 185, 219, 240; दक्षिणी—II, 173, सोवियत—II, 133.
मनु—I, 293, 303; II, 42, 63.
मन्द (मन्द्र)—II, 116, 130.
मन्दर/मन्दराचल—I, 184;II, 115, 116, 130, 132, 160, 164, 212, 218, 219.
मन्धाता—I, 175, 205.
मरुत् (-गण)—I, 84, 89, 115, 122, 125, 126, 136, 141, 171, 182, 193, 199, 203, 215, 218, 219, 227, 228 235, 313, 319, 389; II, 43, 158, 162, 164.
मर्ज्ज, बारबरा—I, 30.
महाराष्ट्र—II, 230.
महावृष—II, 120.
माजन्दरान—II, 133.
मातरिश्वा—I, 193.
मातृदेवी—I, 22, 370, 372-77.
मातृप्रधान/सत्ताक—II, 116, 140.
मातृप्रधानता—I, 372-75.
मानगेट, अलेक्सान्दर—I, 32.
मान प्रणाली—I, 129, 131-32.
माप-तौल—I, 128-32, 145-46, 153.
मारीच—II, 132.
मार्गेराँ, ज्याँ क्लाड—II, 168.
मार्शल, (सर) जॉन—I, 20-24, 34, 50, 51, 67, 70, 83, 88, 91, 101, 103, 124, 125, 134, 140, 147, 188, 210, 233,236, 240, 241,

242, 243, 250,251, 253, 305, 329; II, 166, 197, 198, 215.
मालवा का पठार—I, 36.
माल्बर्गिस—II, 139.
मितन्नी—I, 266; II, 149;—अभिलेख—II, 15.
मित्र—I, 99, 305, 320.
मिथक—I, 11, 14, 29, 30.
—आर्य आक्रमण का—I, 35-77.
मिल, जेम्स—I, 2, 4, 5, 6, 109.
मिल्स—II, 8.
मिशनरी—I, 2, 5, 6.
मिश्र, सच्चिदानन्द—I, 144, 195, 200, 254; II, 87, 159.
मिस्र—I, 21, 93; II, 75, 105, 170, 199.
मीठाथाल—II, 188.
मीडी—II, 79.
मीदिया—II, 8, 110, 130, 133, 134, 135, 136, 151.
मीयर—I, 281.
मुंडीगाक—I, 282; II, 191.
मुखर्जी, बी. एल.—I, 232.
मुखर्जी, राधाकुमुद—I, 362.
मुग़ल गुंडाई—II, 118.
मुग़ल, रफ़ीक—I, 32.
मूर्तिपूजा—I, 3, 22, 370.
मूल निवास, भारोपीय जनों का—II, 137.
मूला—II, 194.
मृद्भाण्ड—II, 74, 155.
मृध्रवाच—I, 222, 322; II, 102, 127.
मेधावियों के पर्याय—I, 352-53.
मेरु(सुमेरू)—II, 124.
मेसोपोटामिया—I, 21, 54, 237; II, 15, 105, 136, 149, 152, 156, 157, 171, 175, 187, 196, 198, 199, 229, 230.
मेहरगढ़—I, 282, 291; II, 22-23, 58, 122, 190, 191, 192, 194.
मैक एल्पिन, डी. डब्ल्यू.—II, 159.
मैकडनेल—I, 18, 32, 33, 144, 210, 212, 216, 217, 228, 234, 241, 251, 324, 325; II, 5, 27, 32,217;—व कीथ—I, 190.
मैकनाटन—I, 5.
मैकाय, अर्नेस्ट—I, 51, 70, 72, 138, 188, 213, 242, 253; II, 169, 197, 201, 203, 204, 215, 216, 217.
मैक्समूलर—I, 5, 32, 38, 56, 66, 72, 104, 206, 219, 261, 262, 286, 287, 288, 335, 336-38, 344, 362; II, 24, 8, 11, 27,- 28, 35, 50, 110, 129, 133, 134, 136, 159, 164, 165, 166, 257.
मोतमेदी, अहमद अली—II, 163.
मोल्दाविया—II, 137.
मोहनजोदड़ो—I, 21, 22, 50, 51, 52, 71, 124, 125, 134,

145, 233, 236, 240, 241, 243, 317; II, 201, 203, 204, 232.
मलेक्ष—I, 64; II, 127.
यक्ष—II, 101, 113, 114, 116, 117, 122, 123, 126, 129, 160.
यक्षु—II, 115.
यज्ञ—I, 115, 116, 125, 159, 165, 167, 243, 306, 399-400; II, 97, 103, 105, 124, 164, 180-81, 183, 191, 194, 195, 208, 237, 247-49, 250, 251, 253.
—यूप—II, 97.
—का अर्थ—61-62,
—कुण्ड की चिनाई ईंट से—I, 121-22, 237, 245.
—से ईंट व बर्तन पकाने की सूझ—I, 238.
—वेदी—I, 379.
—सत्र—I, 159, 215.
—पद्धति, वैदिक और ईरानी—II, 7; —वेदी—II, 61-62.
वैदिक—सार्वजनिक—II, 17;
वलि—में आने वाले परिवर्तन—II, 42, 51,
यदु—I, 174, 177, 204, 292.
यन्त्र—I, 123.
यमुना—I, 53, 65, 222; II, 31, 193, 202, 232, 246.
यव—I, 16, 101, 118, 119, 227, 307; II 42, 51, 56, 58, 59, 63, 66.
यवन—II, 160.
याकोबी, हर्मन—I, 56, 349; II, 3, 11-13, 29.
याज्ञवल्क्य—I, 367.
यायावरी—I, 106, 108.
—अवस्था—II, 36, 161,
यास्क—I, 183, 215, 350, 352; II, 86, 254.
याह्या (तेपे—) II, 155, 196.
युद्ध—I, 76, 78, 79, 84, 85, 86-87, 92, 167, 168, 169, 214; के पर्याय—I, 167-68.
यूनान—I, 280, 311; II, 141-148.
यूराल-अल्टाई क्षेत्र—II, 113.
यूरोप—II, 16.
येस्पर्सन—I, 32, 33, 287, 288.
योग-क्षेम—I, 169, 170, 201, 254.
रजत—I, 132; II, 136.
रणवाद्य—I, 87.
रत्न—I, 150, 162, 182, 211; II, 132, 162, 191.
रथ—I, 42, 48, 87, 91, 92, 100, 102, 109, 121, 123, 127, 141, 151, 156, 157, 172, 173, 177, 180, 182, 193, 195, 203, 204, 207, 208; II, 73, 182.
—चालन—II, 16.
का आविष्कार—I, 121.
रशना—I, 125, 140.
रश्मि—I, 123, 125, 138, 140.
रसा—II, 30.

रहमान ढेरी—II, 179.
राइट, एच. ई.—I, 66.
राइक्स, राबर्ट—I, 41, 66, 71, 136; II, 193, 197, 215, 242;—व डायसन—I, 66.
राक्षस—II, 64, 83,
राजतंत्र—II, 97.
राजसत्ता—I, 317-18.
राजा—I, 76, 85, 86, 92, 105, 159, 160-62, 163, 174, 175, 195, 196, 197, 245, 253, 299, 317, 321, 332-33; II, 16, 50, 117;—के गुण—I, 320-21.
—भारोपीय—II, 138.
रॉथ—II, 32.
रानागुडाई—I, 42; II, 118, 179, 214.
रामसेस—II, 111.
रायचौधरी—I, 5.
राय, टी. एन.—I, 32.
राय, सुधांशु कुमार—I, 340, 364.
राव, एस. आर.—I, 34, 42, 53, 67, 103, 146, 188, 325, 339, 340, 342, 364, 383.
रावी—II, 194.
रालिसन—I, 188, 213.
राहूगण—II, 234, 235.
रिजली—I, 44.
रुक्म—I, 186.
रुद्र—I, 19, 84, 90, 99, 111, 122, 163, 202, 370, 380, 381-90; II, 41, 72.
—गण—I, 301.
रेडमैन—II, 52, 79.
रैखिक बी (लिपि)—II, 143, 144.
रोपड़—I, 340.
लकड़ी—I, 235, 236.
लांगल—I, 116.
ला, एन. एन.—II, 3, 13, 257.
लाकवुड—I, 288.
लाजवर्द—I, 211, 217, 218; II, 22, 133, 196.
लाटविया—II, 137, 138.
लार्ड, राबर्ट—I, 289.
लाल, बी. बी.—I, 32, 70.
लिंग-पूजा—I, 22, 377; > उर्वरता की उपासना.
लिथुआनिया—II, 137, 138, 141,
ली, रिचर्ड—II, 54.
लुडविग—II, 31.
लूट—I, 19, 304.
लिपि—का विकास—I, 10; टंक-लिपि—I, 344; चित्रलिपि—I, 343.
ब्राह्मी—I, 338, 339, 340, 342, 344; II, 255.
हड़प्पा—I, 339, 340, 342, 343, 349.
सबाइयन—I, 339.
लेखन—I, 10, 335-52; II, 152, 181, 190, 199, 255, 256;—सामग्री—I, 344, 345, 350, 351, 352; II, 199, 255, 256.
लेखनी—I, 345, 350.
लेमैन, विन्फ्रेड—I, 272, 288, 290.

लैंगडन—I, 23, 340, 342, 364.
लैटिमोर—II, 145, 167.
लैनमैन—I, 320; II, 31.
लैम्बर्ग-कार्लोव्स्की—II, 165, 172, 195, 196.
लोथल—I, 23, 54, 149, 340.
लोरा—II, 120.
लोरालाई—II, 118, 191.
लोहा—I, 21, 24, 42, 43, 44, 68, 87, 88; II, 189,
लोहुमजोदड़ो—I, 340.
वक्षु—I, 286.
वणिक—I, 152, 164, 169; II, 110; —समाज—II, 49.
वज्र—I, 88-89, 123.
वध्रिवाच—1, 322; II, 127.
वयन—I, 125.
वरशिख—I, 80.
वर्ण—I, 45, 60, 354;—विभाजन —I, 38, 60.
वर्ण-व्यवस्था—I, 7, 61, 64, 297-302; II, 207, 215.
वर्णाश्रम व्यवस्था—II, 37.
वरुण—I, 83, 98, 122, 125, 163-65; 192, 194, 196, 234, 239, 245, 246, 252, 255, 257, 293, 305, 320, 380, 381; II, 9, 10, 20, 31, 43, 95, 103, 202;—प्रघास—II, 56, 63, 66, 82.
वर्म—I, 87, 91, 92, 100, 103, 125, 167.
वर्मा, के. सी.—I, 100.
वल—I, 183, 209, 214, 215, 216-17, 218, 219, 222, 226, 228; II, 120, 121.
वलि—I, 16.
वश—I, 175.
वसिष्ठ—I, 175,204,205, 222, 248, 298, 300; II, 7, 122, 209.
वसुगण—I, 182, 208.
वस्त्र—I, 23, 109, 116, 125, 140, 141, 143, 147, 162, 186, 211, 247, 308, 309, 310,-15, 331; II, 37, 143-44, 194.
वाज—II, 50.
वाजस्रवा—I, 43.
वाण—I, 87, 247.
वाणिज्य—I, 38, 107, 150-51, 170, 341; II, 93, 183; —इक प्रचालन—II, 138.
वायु पुराण—II, 36-39, 92, 93.
वाशी—I, 215.
वाल्तेयर—I, 4.
वास्तोष्पति —I, 122, 242, 253-54.
वासोवाय—I, 312, 313.
विंकलर, ह्यूगो—II, 14.
विंटरनित्ज—I, 24, 32, 230, 232; II, 3, 15, 27.
विकास की प्रकृति —II, 176-180.
विक्रय—I, 203.
विज, ब्रजभूषण—I, 130, 145.
विदेघ माथव—II, 234-38.
विदेह—II, 234, 235, 239.
विपणन—I, 148, 185-88.

विमान—I, 180.
वातरंहा—I, 180.
श्येनपत्व—I, 180.
विराट—I, 317.
विलियम्स, मोनियर—I, 68, 189, 239.
विल्सन, एच. एच.—I, 5, 24, 233, 250, 251, 362.
विवाह—I, 293-94.
विश्पति—I, 318, 319.
विश्पला—I, 180-81, 204, 207, 359.
विश्वकर्मा—I, 301.
विश्वरूपा—I, 301; II, 211, 218.
विश्वामित्र—I, 175, 194, 205, 222.
विषाणी—II, 120.
विष्णु—I, 234, 235, 380; II, 10, 69-71, 85-86, 126, 127, 212.
विष्णुमित्रे—II, 79.
वूली, ल्योनर्ड—I, 188; II, 156, 167, 168, 226.
वृक—I, 98, 116, 227.
वृचीवान—I, 80, 92, 97.
वृत्र—I, 76, 77, 81, 94, 95, 97, 193; II, 124, 224.
—और शम्बर की रूपकथा का विकास—I, 78-79.
वृषभ—I, 22, 56, 110, 111, 116; II, 20, 31, 47, 149, 172.
वृषाकपि—II, 120.
वृहद्रथ—I, 175, 204.
वेदालंकार, जयचन्द्र नारंग—II, 160, 161, 163.
वेदव्यास—II, 244.
वेन्त्रिस—II, 143.
वेबर—II, 234, 237.
वेशभूषा—I, 308-16
वेश्यावृत्ति—I, 248-49, 257: II, 205.
वैडेल—II, 169.
वैदिक—ऋषि और राजा—I, 158-62; II, 114.
यात्राओं का लक्ष्य—157, 159.
रचना-काल—II, 1, 32; मैक्स-मूलरका काल निर्धारण—II, 2, 4; ज्योतिष और—II, 11-14.
—जन—I, 47;—जनों के शत्रु—I, 49-53, 81-82, 304.
भाषा—>भाषा;—रीति—II, 114, 121; वितरण—II, 95—व्यापारियों के अड्डे—118; संघर्ष—के स्तर—I, 74-76; —संघर्ष-रक्षापरक—I, 82;—समाज का निर्माण—290-92; संस्कृति—II, 17; अश्वसंस्कृति नहीं—17;—साहित्य—I, 15, 25, 75; II, 23, 25, 26, 41, 113,——का आकार—II, 1;—प्रभावविस्तार—II, 109-69;—प्रसार क्षेत्र—I, 53-54; सम्पर्क क्षेत्र—I, 54-58; विवाह रीतियाँ—I, 293-94.
वैश्य—I, 38, 39, 40, 190, 215, 299, 300, 301, 305, 318, 329; II, 93, 110, 207,

249.
—पुत्र—7.
वर्ण की उत्पत्ति—I, 40.
का वर्णधर्म—I, 327-28.
वोलचोक—I, 342, 367.
वोल्गा – II. 132.
व्याज—I, 152.
व्याघ्र—I, 112.
व्यापार—I, 62, 215, 301; II, 90, 110, 150, 181, 183, 187, 188, 192, 201, 213, 247, 253;—और वाणिज्य —I, 8, 148-213.
व्यापारी—I, 149, 177, 285; II, 121, 140, 141, 144, 150, 157, 194, 204, 213, 240.
— के प्रतिनिधि—I, 174-77; —वर्ग— I, 302, 318; II, 110, 135, 158, 184, 228.
व्यापारिक यात्रा—I; 52, 155-158, 175; II, 17, 20, 176;—अड्डे/बस्तियाँ—II,126 175, 184;—केन्द्र—I, 127; II, 182, 184, 188, 193, 233.
—गतिविधि—II, 185.
—प्रतिस्पर्धा—I, 177-78.
—प्रसार—I, 178-79.
—सार्थ—II, 122.
व्रात्य—I, 227.
व्रीहि—I, 118, 119; II,42, 51, 59, 63, 66.
वृषभ—I, 22, 56, 111, 116, 376, 379; II, 72 149.
एकशृंग—I, 391, 392,
शंकरानन्द—I, 339, 343, 362, 364.
शकुन्तला—II, 121.
शम्बर—I, 50, 52, 76, 77-80, 96, 97, 193, 222, 223; II, 124.
शर—I, 101,
शर्मा, ए. के.—I, 67.
शर्मा, जी. आर.—II, 79.
शर्मा, रामबिलास—I, 171-72, 275, 298,
शर्मा, रामशरण—I, 32, 33, 60, 73, 96, 100,104-09, 137, 138, 139, 140, 189, 200, 324, 327, 332,334, 367.
शर्याति—I, 175.
शहरीकरण—II, 172, 187.
—की पूर्वापेक्षाएँ—180, 185.
शहरे सोख्ता—II, 191, 196.
शाकटायन—II, 254.
शाकमेध—II, 63, 83, 84.
शाकल्य—II, 254.
शान्ति-कामना—I, 80-84.
शासन-व्यवस्था—I, 317.
शहीतम्प—II, 118, 179, 211.
शिक्षक – I, 120.
शिक्षा—I, 297.
शिग्रु—I, 292.
शिरस्त्राण—I, 21.
शिजार—I, 176, 205.
शिल्प—I, 120.
शिल्पी—II, 94,

—शिल्पियों का दमन—II, 211-13.
शिव—I, 22. >रुद्र
शिव—I, 292, 293; II, 120.
शिश्नदेव—I, 381.
शीयर्ड—I, 278, 289.
शीरीं रत्नागर—II, 220.
शुल्क—I, 321.
शूद्र—I, 300, 303, 306, 326; II, 93, 94, 122, 252;—का वर्णधर्म—I, 328.
शेंडगे, मालती—I, 52, 71.
शेर—I, 22; II, 48. >सिंह
शैफर, जिम जे.—I, 24, 34, 43, 68, 88, 100; II, 189.
शौनक—I, 18, 33,
शोर्तुगाई—I, 286; II, 129, 132.
श्केर्तको—I, 189; II, 165.
श्यामाक—I, 118.
श्रीवास्तव, के. एम.—I, 94.
श्रुत—I, 175, 347.
श्रुति—I, 337, 344, 347; II, 244.
श्रेडर, ओटो—I, 140, 186, 210, 280, 289, 310, 311, 312, 330; II, 143, 144, 167.
श्लाफ़, मार्गरेट—I, 287.
श्लीखर—I, 272, 273.
श्लीगल—I, 287.
संख्या (वाची)—I, 77, 78, 154; II, 14.
हजार—I, 154; अयुत—I, 154; नियुत—I, 154.
संस्कृति—II, 121, 122, 140, 145, 156, 157;—, कुर्गन—I, 12, 13, 286; II, 16, 18, 140;—, त्रिपोली—I, 12, 286;—, आदिम भारोपीय—II, 16, 138;—, बलूची—II, 152, 153;—, लौह—I, 22;—, वैदिक—II, 17;—, सोहन—II, 173;—, सांस्कृतिक उपलब्धियाँ—I, 61-63.
संस्कृतीकरण—II, 122.
सचिव—I, 318.
सतनीक सात्राजित—II, 246.
सतलज—II, 193, 233.
सदानीरा—II, 235, 238, 246.
सप्तसिन्धु—II, 129, 133, 136, 149.
सभा—I, 254, 321;—गार—I, 235, 244, 246.
सभ्यता—का मूल—I, 9-10;—का उत्थान—I, 10-11;—का जन्म—I, 3;—का ह्रास—I, 11;—की आवयविकता—I, 58-61; वैदिक—का आविर्भाव सारस्वत क्षेत्र में—II, 20;—, विकसित—I, 26;—, भारतीय—की प्रथम अभिव्यक्ति—I, 74.
समिति—I, 177, 206, 321.
समुद्र—I, 8, 53, 68, 78, 84, 163, 174, 175, 178, 179, 180, 184, 185, 193, 194, 195, 196, 203, 206-07, 209, 277, 279, 305; II, 225; —, मन्थन—I, 181, 184; II, 211-13, 218, 220; —यात्रा—I, 173, 179-81; II, 188.
समुद्रगम्य पोत/जहाज—I, 149, 156, 179-81.
सम्राट—I, 245, 317.
सरकार, डी.सी.—I, 340, 364.
सरकार, शशांक शेखर—I, 323.
सरयू—II, 30.
सरस्वती—I, 46, 52, 53, 64, 149, 184, 191, 192, 221, 224; II, 19-22, 25, 31, 32, 69, 180, 193, 194, 202,

203, 221—22, 228, 232, 233, 234, 237, 240; —घाटी—I, 64.
सरायखोला—II, 188.
सविता—I, 99, 171, 380.
सांकलिया, एन्न. डी.—I, 213; II, 195.
सांकृत्यायन, राहुल—I, 33, 289; II, 159, 164.
साई—II, 51.
साधु—I, 170.
सामाजिक विकास की प्रक्रिया—I, 9-10.
सामी—I, 275.
साँड़—I, 111.
साँभर झील—II, 51, 58, 59.
सायण—I, 15, 90, 159, 180, 183, 184, 194, 195, 198, 204, 207, 211, 225, 228, 231, 239, 251, 322; II, 19, 60, 164, 234.
सारथी—I, 91.
सारस्वत क्षेत्र—I, 46; II, 20, 21, 22, 23, 24, 68, 102, 202, 221, 239, 246;—चरण—II, 119.
सार्थ—I, 52, 167—73, 178, 214, 215, 318, 319, 320.
साहनी, ए. आर.—I, 70, 241.
सिनीवाली—I, 315, 331.
सिंह—I, 22, 111, 136; II, 48.
सिंह, गुरदीप—II, 79.
सिंह, भगवान—I, 30, 33, 213, 289; II, 88.
सिन्धु—I, 23, 28, 37, 53, 64, 65, 149, 182, 191, 201; II, 19-22, 25, 30, 31, 115, 139, 180, 193, 194, 195, 201, 202, 203, 215, 216, 228, 232, 233, 240, 246, 247; —गंगा का मैदान —I, 153; II, 176, 181, 185, 187; —घाटी—172, 175.
सिंचाई-साधन—I, 117, 137; II, 186; व्यवस्था—I, 113—15.
सिबि—II, 120.
सियल्क—II, 190.
सिर दरिया—II, 132.
सिलाई—I, 125-26, 138.
सीता—I, 116, 136.
सीर—I, 116, 136.
सीरिया—II, 57.
सीसा—I, 150; II, 136.
सीस्तान—I, 286; II, 172, 175.
सुत्कागेनदोर—I, 5; II, 118.
सुदास—I, 160, 161, 175, 192, 195, 205, 222, 224, 225; II, 120, 122.
सुपर्ण—II, 9.
सुब्बाराव—II, 196.
सुमेर/सुमेरिया—I, 54, 149, 349; II, 136, 150, 152, 153, 154, 157, 172, 198, 199, 228, 233.
सुमेरु/मेरु—II, 38, 115, 160.
सुर—II, 63; —शब्द की व्युत्पत्ति —II, 60-61.
सुरा/मद्य—I, 249, 257, 307; II, 126; —पान—I, 307, 330.
सुराब—II, 191.
सुलेमान—II, 123.
सूअर—II, 47.
सूची—I, 123.
सूद, आर. के.—I, 136; II, 241.
सूरकोटडा—I, 340.
सूर्य—I, 379; II, 16, 17, 158.
सूस—II, 229.

सूसा—II, 155, 161.
सेंट मार्टिन, विलियम—I, 206.
सेठना, के. डी.—I, 211, 330.
सेन, डी. के.—I, 68.
सेनक—II, 254.
सेनगुप्त, पी. सी.—II, 13, 29.
सेना/सैनिक—I, 86, 87, 93, 122, 171, 204, 318; II, 111.
सेनानी—I, 87, 318.
सेनापति—I, 76, 122.
सैंग्स—II, 152, 153, 168.
सैन्धव चरण—II, 120.
सोण सात्रासाह—II, 246.
सोना—I, 21, 150, 215; II, 132 191.
सोभरि—I, 176, 205.
सोम—I, 81, 90, 92, 96, 111, 115, 187, 195, 220, 221, 257, 320, 390-97; II, 69.
सोलेस—II, 229, 241.
सौत्रामणि—II, 9.
सौद्युम्नि—II, 246.
सौराष्ट्र/सुराष्ट्र—I, 53, 64; II, 215.
स्टीटाइट—II, 196.
स्टीवर्ड—I, 5.
स्तेन—I, 99.
स्तेपी—I, 79.
स्त्रियों की स्थिति—I, 302-304.
स्नान—I, 244-45.
स्पर्धा, व्यापारिक—I, 177-78.
स्पश्—I, 318.
स्पीयर—I, 30.
स्फोटायन—II, 254.
स्मिट—I, 273.
स्मिथ—I, 340, 364.
स्लाव—I, 273, 274.
स्वराट—I, 317.
स्वर्ग—I, 19; II, 40, 90, 97-101, 123, 126, 204;—का तात्पर्य नगरों से—II, 97-98;—के पर्याय—II, 98;—यात्रा—II, 101; व्यापारियों के—I, 184-85; II, 99-100; स्वर्गों की भौगोलिक स्थिति—II, 99-101; स्वर्गों की संख्या—99.
स्वर्ण—I, 313, 314; II, 162.
स्वात घाटी—I 36; II, 115, 123.
स्वामिवर्ग—I, 318.
स्वैराचार—I, 248-49.
हंटर—I, 339, 340.
हमरूनी अभिलेख—II, 5.
हड़प्पा—I, 1, 21, 23, 134, 145, 237, 282, 285, 286, 291, 292, 303, 340, 364; II, 205; —परिपक्व—II, 21; —पूर्व स्थल—119; —लिपि—I, 54, 285; II, 255; —के हथियार—I, 87-88; —की मुहरें/मुद्राएँ—I, 340, 341, 345-46;—प्राप्ति स्थल—I, 340-41; —सभ्यता का सम्पर्क क्षेत्र—II, 113.
हत्याकाण्ड—I, 51.
हथियार—I, 87-91, 122, 385; II, 189.
हरियूपीया—I, 80, 97.
हरौती (हेराक्वैटी/हिरण्यवती)—II, 21, 32
हर्जफील्ड—I, 290, 323, 349, 366; II, 11, 27, 28, 135, 136, 166.
हर्थ—II, 31.
हल—I, 114, 116, 166; II, 71, 186;—वाह—I, 116.
हाथी—I, 213; II, 48.
हाक्स—II, 15, 29.
हाप्किन्स—I, 232; II, 31.
हारीरुद (नदी)—II, 123.

हार्नले—I, 44-45, 46, 68.
हार्लन—II, 55, 79.
हा हा हू हू—II, 127.
हित्ती—I,348;II,130,138, 149 150.
हिन्दूकुश—I, 36; II, 115, 123, 125, 127, 160.
हिरण्य—I, 143, 205,215, 228.
—के पर्याय—I, 215, 227.
हिलेरी—II, 3.
हिसार—II, 129, 155.
हिल्लेब्रांट, ए—I, 72, 96, 200-27, 232; II, 15, 31, 32.
हीरापुर—II, 156.
हुंजा—II, 115, 123.
हेगडे—I, 199; II, 197.
हेती—I, 90, 101.
हेरास—I, 339; II, 152, 168.
हेरोडोटस—II, 75.
हेलमन्द—II, 123.
हेस्केल—II, 166.
हेस्टिंग्स—I, 2.
हॉग—II, 8.
हॉस्पीतिएम—II, 135, 145.
हैडन—I, 323.
होमर—II, 142, 145, 167.
होल्डिच, टी. एच.—II, 241.
ह्वाटमो—I, 286.
ह्विटनी—I, 294; II, 2.
ह्वीलर—I, 42, 51, 52, 67, 70, 71, 83, 88, 90, 97, 101, 125, 133, 134, 140, 145, 182, 187, 188, 208, 213, 253, 325, 331, 332; II, 31, 156, 168, 195, 197, 216, 217.

शुद्धिपत्र

खण्ड 1

पृष्ठ संख्या	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
14	32	अराजक	अराजकता
28	22	पशुपालन	पशुपालक
29	25	मिथ्यक	मिथक
	26	शन्य	शून्य
32	1	हड़घन	हड़प्पन
42	13	पहल	पहले
43	19	वदिकों	वैदिकों
44	2	आलवत	आलक्त
45	9	पहसे	पहले
50	31	फ़िलों	क़िलों
52	15	शिंडे	शेंडगे
63	11	अटकल लगायें	अटकलें लगायीं
68	3	अस्यबन्धु:	अस्य बन्धु:
72	14	मिताक्षण	मिताक्षरा
86	23	वैदिकों	वैदिक
88	29	इसमें	इससे
89	20	पृथुपर्श	पृथुपर्शु
91	31	कारण माना है।	कारण माना है।[156]
	33	निकला है।	निकला है।[157]
93	11	60	160
97	1	क्षियन्त्रं	क्षियन्तं
	10	रुणधाम है	रुणधामहै
100	22	ए. पी. गुप्ता	एस. पी. गुप्त
	24	एम. आर. बनर्जी	एन. आर. बनर्जी
	33	फ्रंडसि	फ्रंइंसि
108	23	करते थे।	करते थे।[9]
111	18-19	के लिए इस शब्द का प्रयोग	के लिए
121	13	कहीं	नहीं
122	28	वरण	वरुण
158	5	वदिक	वैदिक
164	27	142	141
170	22	478	178
176	29	हैं।[23]	हैं।
180	29	है।	है।[241]
	30	241	242
194	6	वरुणं	वरुण
	7	भीखं	भीरवं

	9	2.39.4	2.29.4
		वह:	व:
		ऋ., आदि ।	ऋ. 2.29.6, आदि ।
	20	यज्ञे:	यज्ञै:
202	19	विष्वक्र वि जहि अरात्रम्	विष्वक् वि जहि अराव्णं
207	18	का त्रय, वन्धुर: ये सनीड़ा	क्व त्रय: वन्धुर: ये सनीला:
	25	5.4.23	5.22
		ऋ. 54.12	ऋ. 3.54.12
212	1	फरस	फारस
	12	गन्धर्वों से	गन्धर्वों का
		द्रव्यों का	द्रव्यों से
	21	'पृथुष्टक'	'पृथुष्टुक'
215	3	जो सकती हो	हो सकती जो
	33	सोना-चाँदी	सोने, चाँदी
216	8	गया है।	गया है।[16]
218	12	धन्यन्ते	धनयन्ते
	21	अर्थ की	अर्थ ही
225	2	हो	कर
228	19	आपथ्य:	आपथय:
231	9	कीर्षापणं	कार्षापणं
234	33	भवनों	भुवनों
237	31	बना सकते थे	नहीं बना सकते थे
250	2	है।[120]	है।
	7,8 व 9	121,122,124	120, 121, 122
257	23	2.36.6-8; शतब्रा.	2.32.6-8; शतब्रा. 6.5.1.10.
		6.3.6.10	
	33-34	फुटनोट सं. 122 व 123	122.
279	9	लिप्त.	लिथु.
301	1	53	55
304	नीचे से	80	81
	20.21	81	80
307	1	वर्जित नहीं था	वर्जित था।
320	29	जनन्भक्ष	जन-भक्ष
327	34	वृद्धि पशुपाल्ये	कृषि पशुपाल्ये
32c	31	भोखनं	भोजनं
332	6	138	139
337	17	मनाही थी ? कि गृहसूत्रों	मनाही थी; कि गृह्यसूत्रों
	18	जब तक	जब तब
340	18-19	ओझा[25], लैंगडन[26],	लैंगडन[25], स्मिथ[26], डी.सी.
		रिमथ[27], डी.सी.सरकार[28],	सरकार[27], राजबली पाण्डे[28],

		राजबली पाण्डे[29]	ओझा[29]
342	14	ब्राह्मणी	ब्राह्मी
	16	लिपि	लिपि-चिह्न
343	30	प्रचलित थे[37]	प्रचलित थे
344-48	सन्दर्भांक	38—52	क्रमशः 37—51
357	नीचे से 18	पूरे हो चुके हैं।[63]	पूरे हो चुके हैं।
358	32	बनते हैं।[69]	बनते हैं।
359	29	च्यवन	च्यवन[72]
357-62	क्रमशः	64,65,66,67,68,70, 71,73,74,75,76,77, 78,79,80,81	63,64,65,66,67,68,69, 70,73,74,75,76,77,78, 79,80
363	पृष्ठांक	163	363
365	,,	165	365
	24 व 25	परिगृहति	परिगृह्णाति
366	6	कुणीलव	कुशीलव
	11	in	is
	15	typet	type
	17	historieal	historical
	33	सू र्यक्षयात्	सूर्यक्षयात्
	34	आहत्य	आहृत्य
367	3	ह्नदि	हृदि
368	2	शलायै	शालायै
	30	देवानं	देवानां
372	27	उपान्य	उपास्य
376	25	त्रिपाद वद्धो	त्रिधाबद्धो
381	नीचे से 10	13.9.10	13.9-10
	,, 6	13.10.45)।	13-10)[45]।
384	14	कर्मोरों	कर्मारों
393	6	जाता है।	जाता है।[148]
398	17	सिंह था।	सिंह था।[195]
304	29	दुहितरं औदध्यभि	दुहितरं अभिदध्यौ

खण्ड-2

7	30	मण्डलों उचित	उचित
16	नीचे से 17	सूर्व	सूर्य
	16	संम्भव है यह यज्ञ	सम्भव है यज्ञ
20	11	श्वश्वा	स्वश्वा

21	33	81	85
28	6	उसं	उरु
29	10	11, 1922-22	12, 1921-22
31	28	गंगेय मुने सरस्वतिशुतुद्रि	गंगे यमुने सरस्वति शुतुद्रि
33	6	देते हैं	देते हैं[1]
33-35	संदर्भांक	1,2	2,3
35	8	जोड़ा गया है।[3]	जोड़ा गया है।
40	11	गये थे।	गये थे।[13]
58	4	था या	था[8] या
61	नीचे से 14	34	31
63	26	हुए।[52] असुरों का विरोध यज्ञ से है।[53]	हुए।[53] असुरों का विरोध यज्ञ से है।
74	5	सुरक्षित है।	सुरक्षित है।[92]
	9	चमड़े थैलों का प्रयोग होता था[92]	चमड़े के थैलों का प्रयोग होता था
	11	ज़ारी था।[93]	ज़ारी था।
75	23	उद्यभावनाओ	उद्भावनाओं
77	22	स्वर्ण-संयोग	सवर्ण-संयोग
83	1	52.वारुण्या...	वारुण्या...
91	27	जनसंख्या तेज़ी	जनसंख्या में तेज़ी
94	30	मन्त्रियों	क्षत्रियों
101	11	हट आये।	हट आये।[62]
	12	हुआ है।	हुआ है।[63]
105	28	किसानों से दूर	किसानों से कर
133	29	ग थे ये।	गये थे।
134	26	प्रयोग हुआ है।	प्रयोग हुआ है।[76]
147	13	क्रीठ	क्रीट
163	7	अश्वोन	अश्वों
165	3	301-10; दि अर्ली...'	301-10; फ्रैंकफर्ट, 'दि अर्ली...
196	26	जिन शैफर	जिम शैफ़र
209	33	हैं।	हैं।[26]
210	8	था।	था।[27]
251	13	अविश्वनीय	अविश्वसनीय
260	7 व 20	श्रोत	श्रौत
272	5	...Ancient Style... Goodenough... 1959...	...Ancient Indian Style यह निबन्ध Giles का है.
274	1	Proton...	Proto.
	23-24	Heskel...	×
	25-26	Hutton, J.H....	×
284	16	1975	1985

भगवान सिंह

जन्म : गगहा (गोरखपुर), 1 जुलाई 1931

शिक्षा : एम० ए० (हिन्दी)

भारत की प्रमुख भाषाओं और लिपियों का परिचयात्मक ज्ञान

प्रकाशित कृतियाँ—

उपन्यास :

काले-उजले टीले, महाभिषग्

कविता-संग्रह :

अपने समानांतर

शोध :

आर्य-द्रविड़ भाषाओं की मूलभूत एकता

निबन्ध :

स्थान नामों का भाषावैज्ञानिक अध्ययन
ओरिजनल रामायण : ह्वाट इट रियली वाज़
आइडेंटिफ़िकेशन ऑफ़ सोम
ऋग्वेद में पुर; ऋतम्भरा